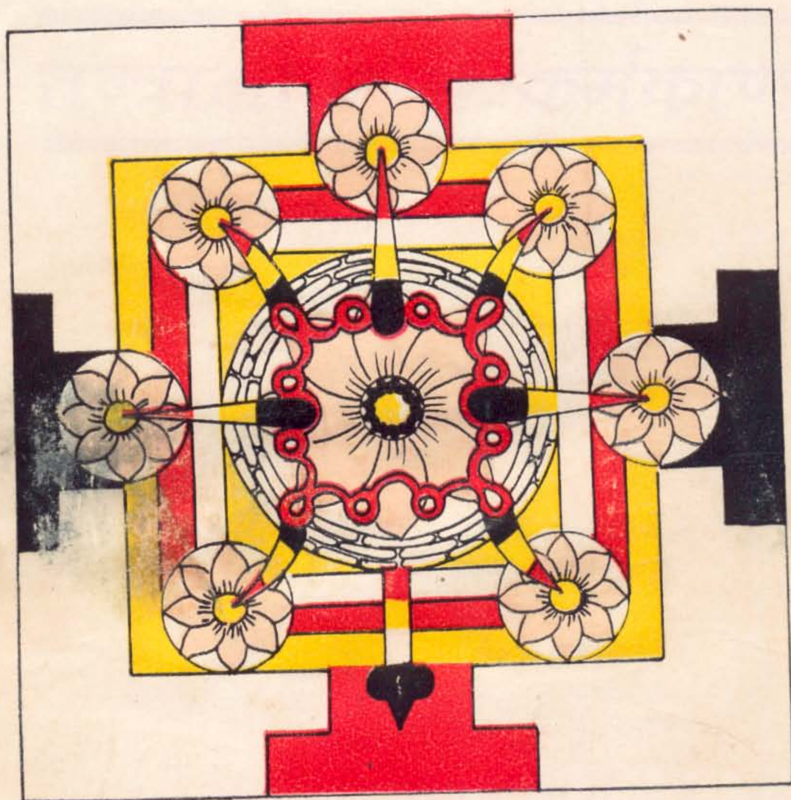
आचार्य रामचन्द्रद्विवेदिस्मृतिग्रन्थमाला-२

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड



लेखिका

डॉ० बीना अग्रवाल

सम्पादक

डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास

प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी

आचार्यरामचन्द्रद्विवेदिस्मृतिग्रन्थमाला -२

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड

लेखिका
डॉ. बीना अग्रवाल

सम्पादक
डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास



प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी

आचार्यरामचन्द्रद्विवेदिस्मृतिग्रन्थमाला-2

तंत्रालोक में कर्मकाण्ड

लेखिका

डॉ. बीना अग्रवाल

प्राध्यापिका- संस्कृत विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर

सम्पादक

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

प्रशान्त प्रकाशन

128, बालाजी नगर, लंका, वाराणसी

प्रकाशक प्रशान्त प्रकाशन
128, बालाजी नगर, लंका, वाराणसी-221005
☎ 312066

मुद्रक मिनर्वा स्टडी सर्किल
वी 33/11 एम-4, रोहितनगर, नरियां
वाराणसी-221005

संस्करण प्रथम, फरवरी, 1996

मूल्य रु. 300.00

पुरोवाक्

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी (15 जून, 1935–27 सितम्बर, 1993) आधुनिक संस्कृत जगत् के लोकप्रिय विद्वान् रहे हैं। उन्होंने आस्था और श्रमपूर्वक विविध शास्त्रों के अभ्यास और अपनी समर्थ भाषा–शैली में नाना ग्रन्थों के प्रणयन तथा अनेकत्र भाषण–प्रवचन के द्वारा सुधी पाठकों और श्रोताओं को रससिक्त किया। प्रो. रमारंजन मुखर्जी ने अपनी श्रद्धांजलि में कहा है *"प्रो. द्विवेदी का पुण्य स्मरण संस्कृत और संस्कृति का आराधन है।"* अतः इस दिव्य विभूति की प्रेरणादायिनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए *प्रशान्त प्रकाशन* ने *"आचार्यरामचन्द्रद्विवेदिस्मृतिग्रन्थमाला"* प्रारम्भ करने का संकल्प किया है। इसके अन्तर्गत प्रमुखरूप से उनकी स्वयं की प्रकाशित–अपकाशित कृतियों के अध्ययन–अनुवाद, उनके निर्देशन में सम्पन्न अनुसन्धानों और भारतीय धर्मदर्शन, साहित्य–संस्कृति आदि पर स्वतन्त्र, महत्त्वपूर्ण एवं लोकोपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन अभीष्ट है। प्रो. द्विवेदी के ही निर्देशन में साहित्य मर्मज्ञ डॉ. विष्णुराम नागर, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा प्रणीत "कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार" इस माला का प्रथम पुष्प प्रकाशित हो चुका है तथा प्रस्तुत ग्रन्थ इसी क्रम का द्वितीय पुष्प है।

इस ग्रन्थ के साथ, संस्कृत–हिन्दी साहित्य के कवि आर्या सम्राट् एवं शतकवीर डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी (पूर्व अध्यक्ष, साहित्य विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) द्वारा रचित *तन्त्रकौतुकम्* भी संग्रथित है।

इस ग्रन्थ–तन्त्र के मुद्रणरूप कर्मकाण्ड का अपना इतिहास है, एक विलक्षण, क्लिष्ट और रहस्यात्मक अनुभव है। तथापि यही कहना समीचीन है– "क्लेशः फलेन हि पुनः नवतां विधत्ते"।

मिनर्वा स्टडी सर्किल के उत्साही कार्यकर्ताओं, इसके कुशल संचालक खरे–परिवार के समस्त सदस्यों तथा डॉ. वीरेन्द्र कुमार मिश्र व प्रिय अनुराग व्यास सहित सभी के सहयोग के लिए मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

संस्कृत–संस्कृति के आराधकों को शिवसङ्कल्पात्मिका मालिका का यह द्वितीय पुष्प भी, प्रथम पुष्प की ही भाँति प्रिय प्रतीत होगा और वे अपने सर्वविध सहयोग और सद्भाव से इसकी सुगन्धि को और समृद्ध करेंगे–ऐसा विश्वास है।

सूर्यप्रकाश व्यास

आमुख

कर्मकाण्ड मानव-जीवन से अविच्छिन्नरूप से सम्बन्धित है। जन्म से पूर्व से लेकर मृत्यूपरान्त तक जीव को संस्कारों के माध्यम से कर्मकाण्ड कोडीकार किए हुए है। मानव-जीवन एवं जीवन शैली अथवा दृष्टिकोण में श्रेष्ठता का आधान करने वाले ये संस्कारादि कर्मकाण्ड बाह्याचारमात्र नही हैं, अगर ऐसा हो तो उनकी उपयोगिता ही समाप्त हो जायेगी। कर्मकाण्ड के पीछे निश्चित विचारधारा अथवा सैद्धान्तिक आधार होता है। क्रियारूप कर्मकाण्ड का शरीर धर्म और आत्मा दर्शन माने जा सकते हैं।

काश्मीर शैव दर्शन की समस्त कुल, क्रम एवं प्रत्यभिज्ञा शाखाओं के सम्पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मोक्ष-प्राप्ति के क्रियात्मक उपाय कर्मकाण्ड का एकत्र गहन और सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ तन्त्रालोक वस्तुतः विश्वकोष ही है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ के अनुसार समस्त तन्त्रों (शैवागमों) का आलोकभूत होने से "तन्त्रालोक" संज्ञा सार्थक ही है। स्वयं अभिनवगुप्त के अनुसार इस ग्रन्थ के अध्ययन मात्र से व्यक्ति साक्षात् भैरव हो जाता है।

वैदिक कर्मकाण्ड का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक होने एवं ग्रन्थ का विषय न होने के कारण इस ग्रन्थ में विधियों की विवेचना नही की गयी है किन्तु यथास्थान तुलनात्मक संकेत अवश्य दिये गये हैं। तान्त्रिक कर्मकाण्ड से समानता रखने वाली विधियाँ श्रौत एवं स्मार्त कर्मकाण्ड में भी उपलब्ध हैं, इस दृष्टि से कर्मकाण्ड के आधारभूत धर्मों एवं उनकी मान्यताओं में अन्तर होने पर भी विधियों की दृष्टि से अनेकत्र समानता मिलती है- यह दिखाना ही यहाँ मुख्य उद्देश्य है। तान्त्रिक कर्मकाण्ड की सार्ववर्णिकता, पतित के उद्धार की भावना, गुरु की शिवरूपता, देह को मण्डल-स्वरूप मानकर उसका पूजन-तर्पण, पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की एकता, साधना में स्त्री का योगदान आदि विशेषताएँ उसे वैदिक कर्मकाण्ड से भिन्न स्वरूप प्रदान करती है। सामान्य जीवन के समस्त उपादानों एवं क्रियाओं को शुद्धता-अशुद्धता की मीमांसा से परे रखते हुए, परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनाना प्रस्तुत दर्शन की अनुपम विशेषता है। क्रिया के बाह्य रूप को महत्त्व न देकर उसके अन्तर्निहित दृष्टिकोण अथवा प्रेरक की दृष्टि से मूल्यांकन करना ही एक स्वस्थ विचारधारा का परिचायक है। साथ ही यह मानवीय संवेगों को महत्त्व प्रदान करने वाले स्वस्थ एवं शांतिपूर्ण वातावरण के निर्माण में सहायक होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ तन्त्रालोक के अनेक दुरूह विषयों में से कुछ को विद्वानों एवं आधुनिक शोधकर्त्ताओं के दृष्टिपथ में प्रस्तुत करने का प्रयास है। इस प्रयास के प्रारम्भ से लेकर पूर्ण होने तक प्रस्तुत दर्शन में वर्णित गुरु के समान गुरु (स्वर्गीय) आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी से जो प्रेरणा, निर्देशन एवं सहयोग मुझे मिला, साथ ही उनके निजी ग्रन्थों के उपयोग की सुविधा से इस ग्रन्थ को पूर्ण करने में जो सहायता मुझे मिली उसके लिए आभार प्रदर्शित कर पाना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।

काश्मीर के विद्वान् प्रो. बलजिन्नाथ पण्डित, प्रो. नीलकण्ठ गुर्टू, डॉ. दीनानाथ यक्ष, पं. श्यामलाल जत्तू आदि के परामर्श से तन्त्रालोक के गूढ़ और जटिल प्रसंगों को मैं स्पष्ट कर पाई इसके लिए मैं उनका आभार प्रकट करती हूँ। विदेशी विद्वान् Dr. A. Sandarson के लेख "Mandala and Agamic Identity in the Trika of Kashmir" में प्रस्तुत मण्डलों के रेखाचित्रों से दीक्षा आदि के प्रसंगों में मण्डलों की व्याख्या करने में सहायता मिली। मण्डलों के, वर्णन में उनके द्वारा प्रस्तुत रेखाचित्रों का उपयोग भी किया गया है इसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ।

मैं अपने पति डॉ. सलिल अग्रवाल का भी आभार प्रकट करती हूँ जिनके सतत सहयोग के बिना यह कार्य पूर्ण होना सम्भव नही था। परिवार के समस्त सम्बन्धी जिनका सहयोग मुझे मिला एवं पुत्रियों स्निग्धा और अस्मिता का स्मरण मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से शोधोपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध को पुस्तकरूप में सम्पादित एवं प्रकाशित करने के लिए मैं क्रमशः डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास एवं प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

सी-99, मोतीमार्ग, बापूनगर
जयपुर-4

बीना अग्रवाल

तन्त्र-कौतुकम्

- डॉ. शिवदत्तशर्माचतुर्वेदः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

वीनाग्रवालरचितं ग्रन्थरत्नमिदं मया।
भूयोभूयः समालोच्यमित्येषा भावना मुदा।।
संजाते ति वचस्तस्याः समालोचनकौतुकी।
तन्त्रे किञ्चिद्विनिर्माय समर्पयितुमुत्सहे।।
ग्रन्थेऽस्मिन्सर्वतन्त्राणां सार एव समागतः।
एकस्मिन् ग्रन्थरत्नेऽस्मिन् दृश्यतां तन्त्रसञ्चयः।।
वारं वारं प्रमुदिताः प्रपठिष्यन्ति चिन्मयाः।
विज्ञं सोऽत्र न सन्देहो मोमुदीतिममाऽन्तरम्।।
श्रीरामचन्द्रविदुषा स्वर्गतेन समीक्षितः।
प्रबन्धोऽयं न कस्य स्याद् गौरवाय सुमेधसः।।
श्रीमान् सूर्यप्रकाशाख्यो व्यास एव महात्मनाम्।
तेषां संस्मृतिरक्षायां विनयैरेवदीपितः।।
प्रकाशनाय प्रोद्युक्तो सत्साहित्यमहोज्ज्वलः।
सर्वथाऽनन्तसुकृतैः संयुक्तो बोभवीत्विति।।
तन्त्राऽराध्यं परशिवं नूनं सम्प्रार्थयामहे।
प्रकाशनं प्रशान्ताऽख्यं स्वागतैर्भावयामहे।।

तन्त्रं नाम निरूपितसौभाग्याधायकं तत्वम्।
संसारेऽस्मिन्सर्वं समीहितं सत्वरं सूते।। १।।
तन्त्रस्य यन्त्रतायां निखिलं शारीरसंस्थानम्।
यद्यर्पितं तदेदं तन्त्रं सर्वं करे कुर्यात्।। २।।

तन्त्रेति नामधेये याऽर्थानां प्रस्तुतिर्जाता।
नानार्थैरप्येभिर्युता मता प्रोन्नता सैव।। ३।।
शासनमपि तन्त्रं स्यात्कथितं तद्राजतन्त्रं वा।
गणतन्त्रं वाऽद्यत्वे भारतवर्षे समाश्वस्तम्।। ४।।

सामान्यतया शास्त्रं तदिदं निखिलं हि तन्त्रपर्यायः।
सर्वत्र च ये मान्यास्ते कथिताः सर्वतन्त्रद्धिान्ताः।। ५।।
सर्वस्वतन्त्रतन्त्रेति च शंसायामुपाधिरयम्।

विद्वत्प्रकाण्डतायामाविष्कृतवैभवो जयति।। ६।।

आगमनिगमादीनामपि शब्दानां स्थितिः सैषा।

सामान्यार्थाः शब्दाः परिभाषावेष्टिता भान्ति।। ७।।

तथैव शब्दः सोऽयं "तन्त्रः" कथितो विशिष्टाऽर्थे।

सामान्ये निर्बाधं तथैव शब्दोऽयमाभाति।। ८।।

यो हि विशेषेणार्थस्तन्त्रस्याऽत्रैव सुप्रसिद्धोऽस्ति।

तत्र भूयसी संख्या ग्रन्थानां जागृता जयति।। ९।।

शैवे तन्त्रे ग्रन्थाः काश्मीरेषु प्रसिद्धिमायाताः।

श्रीमानभिनवगुप्तो भगवानेवात्र संजातः।। १०।।

तन्त्राऽलोकं ग्रन्थं विस्तरशो वा विनिर्माय।

काचिद्दर्शनसरणिः सम्पूर्णाऽऽविष्कृता तेन।। ११।।

तदुत्तरं शैवागमतन्त्रेऽभिनवैर्विनिर्दिष्टे।

वैपुल्यं शैवाऽगमतन्त्राणां जातमेवाऽऽस्ते।। १२।।

सैषा काप्यार्षेयी पद्धतिरासीद्विकस्वराभाषा।

तन्त्रालोकोद्योते प्रकाशधारासमायाता।। १३।।

शिव शक्तिमूलकोऽयं सिद्धान्तः कश्चिदुद्दीप्तः।

त्रिकमूलेयं सर्वा सृष्टिरिदं साधितं तत्र।। १४।।

वैष्णवतन्त्रं पुनरथ विख्यातिं यातमन्येषाम्।

नारदर्षिसंभूतं सिद्धमिदं पाञ्चरात्राऽख्यम्।। १५।।

चत्वारो वा व्यूहास्तन्त्रेऽस्मिन्संनिरूपिताः सन्तः।

नारायणस्य परमं तत्त्वाऽख्यं रूपमाह्वयन्त्येव।। १६।।

वैष्णवतन्त्राणामपि सहस्त्रशो ग्रन्थरत्नानाम्।

सिद्धान्ताऽभिप्रेताः संस्कुर्वन्त्येव संसारम्।। १७।।

रामानुजीयतन्त्रं माध्वीयं तत्र तन्त्रमिदम्।

वाल्लभतन्त्रं जयते निम्बार्कीयं तथा तन्त्रम्।। १८।।

गौडीयमपि च तन्त्रं वैष्णवतन्त्रेषु संसिद्धम्।

सर्वेऽप्येते वैष्णवतन्त्राणां भावनादीप्ताः।। १९।।

गणपतितन्त्रमथैवं संसिद्धं मुक्तिदं नित्यम्।

यत्र गणानामधिपः सर्वैश्वर्यैर्विराजितो दृष्टः।। २०।।

गणपतिरेष तु भगवान् सर्वासां सत्यसिद्धीनाम्।

तन्त्रनिरूपितसेवाप्रपूजितो सिद्धिदःसाक्षात्।। २१।।

गणपतितन्त्रेसम्यङ्निरूपितं यद्धि देवेशः।

त्रुटिदूरणेऽपि दक्षो भक्तानामिष्टदाता स्यात्।। २२।।

भेदे भेदविभेदा गणपतिरूपेषु संदृष्टाः।

गणपतितन्त्रे सर्वे ते पूजायां समुद्यता जाताः।। २३।।

पूजाविधानममलं संज्ञापितमेवमास्ते तत्।। २४।।

भैरवतन्त्रे भैरवपूजानां संविधानं वा।

आदेशयति मनोज्ञं गुणगरिमाणं प्रवेशयति।। २५।।

आगमतन्त्रमयीयं सरणिः काचिन्मनुष्याणाम्।

दैवीकरण महौषधिरूपेणैवाऽवतीर्णा वा।। २६।।

आगमविभेदविश्लेषणविधयाजागरूकाणाम्।

नैव परोक्षं तदिदं तत्त्वं संजायते नाम।। २७।।

औत्पत्तिकसंवादैः सर्जनमाख्यान्ति यानि दिव्यानि।

तान्यागमानि कथितानीति वदन्त्येव विद्वांसः।। २८।।

एकैकस्य तु रूपस्याथ चरित्राणि चित्राणि।

परमेश्वरस्य पूजां रचयितुमेतानि दीप्यन्ते।। २९।।

तस्यैव मूलरूपे सृष्टिः सृष्टा भवत्येव।

भिन्नःक्रमस्तु सृष्टौ तन्मूलत्वे समाख्यातः।। ३०।।

अद्वैते वेदान्ते ब्रह्म यदेवाऽस्ति संकथितम्।

शैवाऽगमे स एव व्याख्यातः स्यात् परमशिवः।। ३१।।

विर्ष्णुयस्मिन्मूलं स एव कथितोऽस्ति वैष्णवागम इति।

पाञ्चरात्र इति संज्ञा तत्रैवेयं प्रसिद्धिमायाता।। ३२।।

विष्णुं प्रमुखं मत्त्वा बहवो जाताः सदाऽगमे रूचिराः।

प्रचुरप्रचारभाषाविन्यस्ता कामधेनुतुल्याभाः।। ३३।।

श्रीविष्णुरेव रामः श्रीकृष्णो व्यासदेवो वा।

श्रीभागवतं च तदिदं तत्रैवाऽराध्यतां यातम्।। ३४।।

आगमभेदे मूले तत्त्वेऽथो प्रक्रियायां वा।

दर्शनदृष्ट्या कश्चिद् विचारभेदः समुद्दीप्तः।। ३५।।

तेनैवाऽगमभेदे नानाव्याख्यानसंकुले निखिले।

वैविध्यं लोकानां विचारभेदे समाम्नातम्।। ३६।।

आगमभेदे जाते स्वेष्टं देवं प्रसादयितुम्।

पूजापद्धतिभेदाः प्रचालिताः पूजितैरार्यैः।। ३७।।

स एव तन्त्रः कथितः पूजापद्धतिरियं तन्त्रम्।

पद्धतिभेदे जाते तन्त्राणां भेद आयातः।। ३८।।

नानाभिलाषपूर्तावाचार्यैरादृतः पन्थाः।

आदिष्टस्तेनैव च पूर्तिर्जाता सदैवेयम्।। ३९।।

श्रीमद्गुरोस्तु तन्त्रे प्रथमं स्थानं समाम्नातम्।

गुरवो वै जानीयुः कदाऽथ कं किं प्रदेयं स्यात्।। ४०।।

पञ्चाङ्ग वै तन्त्रं विस्तीर्णं पूजनादीनाम्।

विस्तारस्तत्रत्यो गुरूपदिष्टः प्रयुक्तः स्यात्।। ४१।।

भगवत्या आराधनतन्त्रं तावत्सुविस्तीर्णम्।

भगवत्या अवतारा दशधा तन्त्रे समाख्याताः।। ४२।।

देवी परमाऽराध्या हरिहरविधिभिः प्रपूजिता नित्यम्।
देवानां दुरवस्थां दूरयितुं सा हि दुर्गैव।। ४३।।

भगवत्याः पूजायां नानातन्त्रात्मकं ज्योतिः।
नानारहस्यपूर्णं नानाविधभावनाऽऽस्वाद्यम्।। ४४।।

निगमो वेदः प्रोक्तो निखिलं वाङ्मयमिदं तदाधारम्।
आगमतन्त्रे सर्वं स्वयं शिवेनैव सम्प्रोक्तम्।। ४५।।

भगवत्या पार्वत्या श्रुतं तथा चैव तत्सर्वम्।
अत एवाऽगमभाषाविभूषितं भासते तन्त्रम्।। ४६।।

एकैकस्याथ पुनर्देवीरूपस्य सम्प्रोक्तम्।
दशविधरूपविलसितं सकलमिदं भासते तन्त्रम्।। ४७।।

तन्त्राणां चैतेषां सद्गुरुणैवोपलब्धानाम्।
गुरुरेव तत्र निखिलं सम्यङ्मार्गं निदेशयन्नाऽस्ते।। ४८।।

सर्वा सिद्धिरस्तन्त्रे सम्यक्सम्पूरिता जाता।
सिद्धीनामेतासामष्टविधत्वं समाम्नातम्।। ४९।।

अणुतमत्रुटिसद्भावे नैव फलं स्यात्समुपलब्धम्।
तस्मात्त्रुटिर्निवार्या तन्त्रागमसत्त्वशीलेन।। ५०।।

वैज्ञानिके युगेऽस्मिन्नानासिद्धिप्रदे काले।
तन्त्राणां रूपा णां प्रत्यक्षं भाविता सिद्धिः।। ५१।।

वैज्ञानिकयन्त्राणां संस्थानेषु त्रुटिः काचित्।
यद्यणुतमाऽपि जाता तदा फलं नास्ति यन्त्राणाम्।। ५२।।

वैज्ञानिकास्तथैते साधकतायां समायाताः।
यन्त्राणां विविधानां सेवायां साधु संलग्नाः।। ५३।।

तन्त्रे यन्त्राणीमान्याधृतभावानि शारीरे।
संस्थाने द्योतन्ते तानीमान्येव साधकैः सर्वैः।। ५४।।

संसाध्यानि भवन्तीत्यादौ बाह्यानि यन्त्राणि।
तदनुकरणरूपाण्यथ संपूज्यन्ते प्रयत्नशतैः।। ५५।।

वैज्ञानिकी च तुलना तन्त्रैः सह कर्तुमुचिता न।
मन्त्राधारिततन्त्रं यन्त्रे विज्ञानमायत्तम्।। ५६।।

किन्तु फलप्रदतायां सामान्यं यत्तयोर्दृष्टम्।
विज्ञानेऽथ तन्त्रे सिद्धीनां तत्फलं लभ्यम्।। ५७।।

यन्त्राऽधारितगमनं दूरस्थैर्वार्तयाऽऽलापः।
दूरस्थं वा दृश्यं सिद्धय एताश्च विज्ञानात्।। ५८।।

गगने विचरणशीलं विज्ञानं सर्वसिद्धीनाम्।
प्रत्यक्षीकरणेष्वथ सततं संजागृतं दृष्टम्।। ५९।।

तन्त्राणामादेशे सर्वास्ताः सिद्धयो नियताः।

साधकयन्त्राधारा निखिलैर्नो झंकृता जाताः।। ६०।।

तन्त्रेष्वाध्यात्मिकता विज्ञानस्तं पृथक्कुरुते।
आध्यात्मिकसंसारे जागरणं तन्त्रसरणिरियम्।। ६१।।
सिद्धय एतास्तुच्छास्सर्वास्तन्त्रे समाम्नाताः।
अद्वैते संसारे संचारस्तन्त्रसिद्धान्तः।। ६२।।

अल्पैरहोभिरेतज्जीवनसम्पूर्णता जाता।
तत्रैव मोक्षलाभस्सम्पाद्योऽस्त्येव मनुजेन।। ६३।।
मानवशरीरनिर्मितिरेषाऽत्यन्तं रहस्यपरिपूर्णा।
एकैकस्मिंस्तत्त्वे गणितेऽत्रत्ये त्वनन्तैव।। ६४।।

तेनैव तत्र जटिला परिणतिरपि जायते सैषा।
विस्मृतिपटली लक्ष्यं दूराद् दूरे विनिक्षिपति।। ६५।।
इन्द्रियविषयसुयोगे संसारोऽयं नवैः कषैः।
आबद्धं यत्कुरुते लक्ष्याद्दूरे प्रयातोऽयम्।। ६६।।

अद्वैताऽनुभवाय च द्वैतत्वज्वालनाय जनिरेषा।
तन्त्रात्मकं तु सत्यं ज्योतिस्तत्राऽत्मदर्शनं सूते।। ६७।।
आत्मानुभूतिरित्थं स्वे रूपे प्रत्यभिज्ञेयम्।
विन्दौ वा नादे वा नानाविधभोगसंस्थाने।। ६८।।

लोकालोकविलोकनविश्लेषितचाकचक्यानाम्।
तन्त्रे फलमादिष्टं लोकसफलता परामृष्टा।। ६९।।
तन्त्राणां मूर्धन्यं स्थानं तत्रैव सञ्जातम्।
एकोऽहं तु बहुस्यामित्येषा घोषणा यत्र।। ७०।।

वैदिकमर्माणामपि यज्ञे प्रत्यक्षतायां सा।
तन्त्रात्मिकैव सरणिः सत्यं सत्यं सुविस्तीर्णा।। ७१।।
तन्त्रे मन्त्राणामथ गोपनमास्ते रहस्यमयम्।
सा मन्त्रसिद्धिरेवाऽद्वयतायां सम्प्रवेशयति।। ७२।।

इष्टं देवं ध्यात्वा या स्फूर्तिर्मन्त्रमात्रासु।
सर्वा संजायेत प्रवर्तितव्यं तथा तन्त्रे।। ७३।।
नानाविधसिद्धीनां गुड़जिह्विकरूपताऽपत्तौ।
साऽपि च मानवजीवनसंसिद्धौ भास्वरा दीप्तिः।। ७४।।

येयं समाजसंस्था तस्योपकृतौ परैवाशीः।
संप्राप्या निर्मथिता सर्वा सा तन्त्रसंसिद्धिः।। ७५।।
स्वत एव सिद्धसिद्धैर्गुरुवर्यैः सिद्धमार्गाणाम्।
उपदेशा दीयन्ते भाव्यन्ते चाऽथ यत्नेषु।। ७६।।

परितः प्रयोगशाला तन्त्राणां विस्तृतैवाऽस्ते।
नवतन्त्रे संज्योतिस्तदिदं सर्वं विशोषयति।। ७७।।
भागानामपि भागा मार्गाणां चाऽधिका मार्गाः।

तीर्थानामपि तीर्थास्तन्त्रे तन्त्रे समाविष्टाः ।। ७८ ।।

गुरुरेवाऽत्र गरीयानीश्वरभावे स्थितो नित्यम् ।

दीक्षितशिष्ये दृष्टिं क्षणे क्षणे सन्निवेशयति ।। ७६ ।।

अत्र गुरुत्वस्याप्ययमाविर्भावः प्रजागर्ति ।

मन्त्रप्रदानकाले गुरुत्वमाविर्भवत्येव ।। ८० ।।

सामान्योऽयं मनुजः कथं गुरुत्वे प्रतिष्ठाप्यः ।

यस्य स्वरूपमुच्चं सर्वोच्चं भासते तन्त्रे ।। ८१ ।।

तत्रोत्तरे तु तन्त्रे गुरुत्वमाविर्भवत्येव ।

गुरुरूपे परमशिवः स्वयमेवाविर्भवति नित्यम् ।। ८२ ।।

तस्यैव चाऽमला सा दृष्टिः शिष्यं निबध्नाति ।

सर्वोच्चे संस्थाने गन्तुं वा प्रेरयति नित्यम् ।। ८३ ।।

तन्त्रे शिवेन सार्धं सान्निध्ये नूनमायाते ।

जनुषो ननु साफल्यं संजातं सर्वमाम्नातम् ।। ८४ ।।

तान्त्रिकदीप्तिः प्राप्ता कुण्डलिनी जागृता जाता ।

ब्रह्माण्डदर्शनानां करतलगतता समाऽयाता ।। ८५ ।।

तन्त्रे निवेशदेशप्रवेशसंस्पर्शसंमर्दे ।

विक्षोभणमपि सद्यो रजस्तमोभ्यां समायाति ।। ८६ ।।

श्रद्धा वा निष्ठा वा ज्ञानानुगतैव चरितार्था ।

ज्ञानाभावे निष्ठा रूपे विपरीततां भजते ।। ८७ ।।

ज्ञानमिदं चैतन्यं भक्तिश्रद्धे च तद्धर्मौ ।

शक्तिरहंताऽश्रयता शैवागमसंमता तत्र ।। ८८ ।।

एकाऽहन्तेदन्ता विन्दौ स्फुरिता प्रकाशमायाता ।

अन्यत्रेच्छाशक्तिः क्रियात्मिका चाऽथ शक्तिरिति ।। ८६ ।।

परमशिवस्थाज्ज्ञानात्ते शक्ती युगपदुद्भूते ।

शिवशक्त्यैक्ये सर्वमद्वैतं सुस्थिरं जातम् ।। ६० ।।

शिव एव शक्तिरूपः शक्तिः सा चैव शिवरूपा ।

नतमामणुतोऽप्यथवा भेदस्तत्राऽविरासीत् ।। ६१ ।।

संकुचितेऽर्थे तन्त्रे पद्धतिसंसाधनेषु विस्तारः ।

संसाधनपद्धत्यां प्रचारसंचार आयातः ।। ६२ ।।

वास्तविके किल रूपे सात्विकतायां प्रतिष्ठिता ये स्युः ।

अधिकारिणश्च तेषां करणीयेष्वेव तन्त्राऽख्या ।। ६३ ।।

ये राजसैस्तु भावैरोतप्रोताऽधिकारिणः सन्ति ।

तेषां कृते प्रदिष्टा सरणिर्वा यामलाः कथिताः ।। ६४ ।।

ये तु तमोगुणबहुलाः पुनरप्यधिकारिणो जाताः ।

तेषां क्रियामयी सा पद्धतिरपि अमरेति संप्रोक्ता ।। ६५ ।।

परमशिवस्य समेताः शक्तय एतास्तु पञ्चैव।। ९६।।

शक्तय एव तथैताः पञ्चमुखानि प्रजातानि।

परमशिवस्य तथात्वे पञ्चमुखत्वं प्रसिद्धं नः।। ९७।।

ईशानस्तत्पुरुषः सद्योजातश्च वामदेवश्च।

पर्यन्तेऽघोरो वा तेषां नामानि कथितानि।। ९८।।

सात्त्विकरौद्रविभेदैर्भैरवभेदैरथागमा भिन्नाः।

प्रत्येकस्यापि पुनर्बहवो भेदाः समाम्नाताः।। ९९।।

सम्मोहनतन्त्रे यो कुब्जिकमततन्त्रनामको ग्रन्थः।

गुप्तयुगस्य लिपिः सा तस्मिन्काले प्रचारमाब्रूते।। १००।।

शैवाऽगमे च लाकुलभैरवकाश्मीरसम्प्रदायेषु।

तन्त्राणां सुविकासो बहुधा बहुधा समाम्नातः।। १०१।।

कौलाः काश्मीरास्ते गौडीया वा विलासाख्याः।

शाक्तागमे प्रवितते सन्त्येते सम्प्रदाया वा।। १०२।।

इत्थमनन्ते रूपे व्याप्तं बाभाति तन्त्रमिदम्।

शिवदत्तेन तु शतके किञ्चित्किञ्चिन्निवेदितं श्रीमन्।। १०३।।

विषयसूची

संकेत - सूची

अजडप्रमातृसिद्धि	–	अ.प्र.सि.
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	–	आ.श्रौ.सू.
कात्यायन श्रौतसूत्र	–	का.श्रौ.सू.
कुलार्णवतन्त्र	–	कु.त.
जैमिनीयब्राह्मण	–	जै.ब्रा.
तन्त्रालोक	–	तन्त्रा.
ताराभक्तिसुधार्णव	–	ता.भ.सु.
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि	–	ता.वा.में शा.दृ.
तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त	–	ता.सा. और सि.
नेत्रतन्त्र	–	ने.त.
परात्रीशिकाविवरण	–	प.त्री.वि.
पराशरमाधवीय	–	प.मा.
प्रपंचसार	–	प्र.सा.
बृहदारण्यक उपनिषद्		बृ.उ.
भारतीय संस्कृति और साधना	–	भा.सं. और सा.
महानिर्वाणतन्त्र	–	म.नि.त.
महार्थमंजरी परिमल	–	म.म.प.
मालिनीविजयोत्तरतन्त्र	–	मा.वि.त.
मालिनीविजयवार्तिक	–	मा.वि.वा.
मीमांसासूत्र	–	मी.सू.
वामकेश्वरीमत-विवरण	–	वा.म.
विज्ञानभैरव	–	वि.भै.
वैदिक धर्म एवं दर्शन	–	वै.ध. एवं द.
रूद्रयामलतन्त्र	–	रू.या.
शतपथब्राह्मण	–	श.ब्रा.
शारदातिलकतन्त्र	–	शा.ति.
शिवसूत्र	–	शि.सू.
स्तवचिन्तामणि विवृत्ति	–	स्त.चि.वि.
स्पन्दकारिका	–	स्प.का.
स्पन्दप्रदीपिका	–	स्प.प्र.
स्वच्छन्दतन्त्र	–	स्व.त.
स्वच्छन्दतन्त्र उद्योत	–	स्व.त.उ.
स्वायम्भु आगम	–	स्वा.आ.

प्रथम परिच्छेद

प्रस्तावना

काश्मीर भारत के लिए केवल अद्वितीय नैसर्गिक सौन्दर्य का खजानामात्र ही नहीं है, अपितु भारत के सांस्कृतिक व साहित्यिक विकास में इसका योगदान अनुपम है। प्राचीन काल में साहित्य एवं दर्शन के जितने ग्रन्थों का निर्माण इस प्रदेश के आचार्यों ने किया उतना भारत के किसी अन्य प्रदेश के आचार्यों ने नहीं। इसके साथ ही काश्मीर धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय की भूमि भी रहा है। मुस्लिम, शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि परस्पर- विरोधी विचारधाराओं वाले अनेक दर्शन काश्मीर की उपजाऊ भूमि में पल्लवित और पुष्पित हुए हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की त्रिवेणी-वैदिक, आगमिक एवं बौद्धधर्म व दर्शन और उनके सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार इस केसर-प्रदेश में होता रहा है। अतः इस भूमि के दार्शनिकों ने यहाँ विभिन्न धर्मों एवं दर्शनों का पारस्परिक विवाद भी देखा है एवं उनकी समन्वयवादी नीति भी।

अभिनवगुप्त आर्यावर्त की मुकुटमणि काश्मीर की इस समन्वयवादी परम्परा के सर्वोच्च प्रतिनिधि हैं- जिन्होंने केवल सिद्धान्तों में ही नहीं अपितु अपने व्यवहार एवं व्यक्तित्व में भी दर्शन, साहित्य एवं योग का सफल समन्वय प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपना परिचय अपने ग्रन्थों (तन्त्रालोक एवं परात्रिंशिका) में दिया है। तदनुसार उनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त एवं माता का नाम विमला था। वे शैव शास्त्रों के ज्ञाता एवं शिव के अनन्य भक्त थे। काश्मीर में प्रचलित तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं का निर्वाह वे अपने दैनन्दिन जीवन में भी करते थे। वे अपने माता-पिता की 'योगिनीभू' सन्तान माने जाते हैं। अपने शैशवकाल से ही वे अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने न केवल काश्मीर के, अपितु अन्य स्थानों के भी गुरुओं से ज्ञानार्जन किया था। उन्होंने जालन्धर के कौलिक गुरु श्री शम्भुनाथ से कुलसम्प्रदाय में दीक्षा प्राप्त करके कुलज्ञान प्राप्त किया था। उसी ज्ञान से उन्हें परम शान्ति की अनुभूति हुई थी (तन्त्रा, १.५१)।

समन्वयवादी दार्शनिक अभिनवगुप्त ने अपने दर्शन एवं साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में एवं विशेषरूप से अपने विशालकाय ग्रन्थ तन्त्रालोक में भारतीय दर्शन सम्प्रदाय एवं प्रमुखरूप से काश्मीर शैवदर्शन की क्रम, कुल, प्रत्यभिज्ञादि समस्त शाखाओं के सिद्धान्तों एवं कर्मकाण्ड का एकत्र निरूपण किया है। विश्वकोषात्मक यह ग्रन्थ अभिनवगुप्त के ज्ञानगाम्भीर्य एवं साधना के प्रकर्ष का ज्वलन्त उदाहरण है। तन्त्रालोक एवं अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में निरूपित सिद्धान्त एवं साधनाएँ, अभिनवगुप्त के द्वारा अधीत शास्त्रों एवं गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान का विवेचन अथवा निरूपणमात्र नहीं है, अपितु वे उनके स्वयं के अनुभव से भी सिद्ध हैं (तन्त्रा., ४.२०२)। स्वयं उनके शब्दों में भी उन्होंने तन्त्रालोक का निर्माण परमशिव से साक्षात्कार होने के उपरान्त ही प्रारम्भ किया था (तन्त्रा., १.१६)। तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने जिन आगमों, गुरुओं एवं सम्प्रदायों के उद्धरण एवं सन्दर्भ दिए हैं, उनकी विस्तृत सूची डॉ० के.सी. पाण्डेय ने अपनी पुस्तक " Abhinavagupta: An Historical And Philosophical Study" (पृ. ६११-६२४) में एवं डॉ० नवजीवन रस्तोगी ने "Introduction To The Tantraloka" (पृ. २५३-३०४) में प्रस्तुत की है। विशेषरूप से कर्मकाण्ड के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने श्रीमत्त्रैशिरस्, देव्यामल,

दीक्षोत्तर, पिचुशास्त्र, सिद्धयोगीश्वरी मत, रत्नमाला, वीरावलीशास्त्र, योगसंचर, मालिनीवियोत्तर, ब्रहमयामल, कुलगहृवर, ऊर्मिशासन आदि आगमों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश आज अनुपलब्ध हैं।

अभिनवगुप्त ने स्वयं सिद्धातन्त्र में निर्दिष्ट शास्त्रों का आयाति-क्रम इस प्रकार निरुपित किया है। नौ करोड़ शैवागमों का ज्ञान क्रमशः भैरव, भैरवी, स्वच्छन्द, लाकुल, अनन्त, गहनेश, ब्रह्मा, शक्र एवं गुरु ने प्राप्त किया, जिनमें से प्रत्येक के ज्ञान में शास्त्रों की एक-एक करोड़ संख्या कम होती गई। इस प्रकार भैरवी ने आठ करोड़, स्वच्छन्द ने सात एवं अन्त में स्थित गुरु ने एक करोड़ शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। इस ज्ञान के पुनः चार भाग करके गुरु ने क्रमशः दक्ष, संवर्त, वामन को एक-एक पाद आर्थात् पच्चीस-पच्चीस लाख शास्त्र एवं भार्गव का पादार्द्ध अर्थात् साढ़े बारह लाख एवं बलि को पाद का चौथाई अर्थात् सवा छः लाख एवं बचे हुए सवा छः लाख का आधा सिंह को एवं उससे बचे हुए का आधा भाग गरुड़ को एवं चौथाई वासुकि नाग को प्रदान किया। इस प्रकार शास्त्र-ज्ञान के ये सत्रह खण्ड (पहले के नौ खण्डों को मिलाकर) हुए। इस शास्त्र-ज्ञान में से रावण ने हठमेलाप-विधि से बलपूर्वक आधे का अपहरण कर लिया, उससे आधा राम ने एवं उसका भी आधा ज्ञान विभीषण ने प्राप्त किया। विभीषण को प्राप्त ज्ञान ही इस संसार में गुरु-शिष्य विधिक्रम से प्रचारित है (तन्त्रा., ३६.१-६)।

राम से लक्ष्मण ने एवं लक्ष्मण से सिद्धों ने, उनसे दानवों ने एवं दानवों से गुह्यकों ने ज्ञान प्राप्त किया। उनसे योगियों ने एवं उनसे श्रेष्ठजनों ने ज्ञान प्राप्त किया। उन श्रेष्ठजनों में वह ज्ञान कालान्तर में लुप्त हो गया अथवा यह भी मान्यता है कि कलियुग में उसका दुरुपयोग होने की आशंका से उसे लुप्त कर दिया गया है। बाद में प्राणियों पर कृपा करने के उद्देश्य से श्रीकण्ठरूपधारी महेश्वर ने मुनि दुर्वासा को आज्ञा दी कि ऐसा प्रयत्न करो जिससे इस शास्त्र का लोप न हो। उन्होंने त्र्यम्बकादित्य, आमर्दक एवं श्रीनाथ इन तीन सिद्धों को क्रमशः अद्वय, द्वय एवं द्वयाद्वयवाद वाले शैवशासन में दीक्षित किया। त्र्यम्बक की कुलपरम्परा पुत्री के माध्यम से प्रवाहित होने के कारण उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय अर्धत्र्यम्बक कहलाया। इस प्रकार ये साढ़े तीन मठिकाएँ शिष्य-प्रशिष्यों के माध्यम से सैकड़ों शाखाओं में फैल गईं (तन्त्रा., ३६.११-१४)।

त्र्यम्बक मठिका की गुरु-परम्परा में सर्वप्रथम श्रीकण्ठ का उल्लेख किया गया है। श्रीकण्ठ के समान ही भूतिराज को भी अभिनवगुप्त ने महेश्वर का अवतार माना है (तन्त्रा., १.६)। भूतिराज के पश्चात् अपने आचार्य के रूप में अभिनवगुप्त ने अपने पिता चुखुलक का स्मरण किया है एवं उनके पश्चात् कुलप्रक्रिया के गुरु शम्भुनाथ का स्मरण किया है। सम्पूर्ण त्रिकशास्त्रों का आधारभूत शास्त्र मालिनीमत है उसी का आश्रय लेकर अभिनवगुपत ने तन्त्रालोक की रचना की है।

सिद्धि व मुक्ति प्राप्त कराने के चार उपाय हैं-अनुपाय, शाम्भव, शांक्त एवं आणव। इनमें से किसी भी एक उपाय के द्वारा इच्छित लक्ष्य भोग अथवा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। ये उपाय संविदुत्कर्ष के क्रम से सम्बन्धित हैं। सर्वाधिक संकुचित संविद् वाले व्यक्ति के लिए क्रिया-प्रधान आणवोपाय का उपदेश किया गया है। अन्य उपायों

से अथवा स्वतः संविदुत्कर्ष को प्राप्त व्यक्ति शाम्भवोपाय अथवा अनुपाय के माध्यम से सीधे परसंवित् समावेश को प्राप्त कर सकते हैं। इनका निरूपण ही तन्त्रालोक का प्रमुख विषय है (तन्त्रा., १.२४५)। जयरथ के अनुसार -----"तन्त्राणां पारमेश्वराणाम् आलोक इव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा।" तन्त्रालोक के प्रारम्भिक आह्निकों में प्रत्यभिज्ञा शाखा एवं क्रमदर्शन से सम्बन्धित सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के कुल सैंतीस आह्निकों में से बीस (चौदहवें से लेकर चौतीसवें तक) आह्निकों में प्रमुख रूप से कर्मकाण्ड का ही निरूपण है। प्रथम आह्निक से तेरहवें तक जिन्हें प्रमुखरूप से कर्मकाण्डविषयक नहीं माना जाता, भी कर्मकाण्ड से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। लगभग सभी आह्निकों में कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विषय, शब्दावली आदि उपलब्ध होते हैं। प्रथम विज्ञानभेद प्रकाशन नामक आह्निक में तन्त्रालोक के वर्णनीय विषय का उल्लेख करते हुए दीक्षा, मल, कर्मादि, मोक्ष के शाम्भव, शाक्त, आणवादि उपायों का वर्णन है, द्वितीय अनुपायप्रकाशन आह्निक में याग से सम्बन्धित स्थण्डिल, तूर, पट, ध्यान, ध्येय आदि का निरूपण है (४२-४३); तृतीय शाम्भवोपाय प्रकाशन आह्निक में कौलिकी शक्ति (६७), यामल (६८), क्षोभ एवं क्षोभाधार (८२-८५), त्रिकोण (९५), षडरमुद्रा (९६), विसर्ग (१४४-४८), अहंपरामर्श (२२३-२४) आदि कर्मकाण्ड से सम्बद्ध शब्दों एवं विषयों का निरूपण है। चतुर्थ शाक्तोपाय प्रकाशन आह्निक में प्राणायामादि योगांगों के निरूपण (१०६-१२१) के प्रसंग में स्नान, पूजा एवं पूजोपकरण का, षोडशार, द्वादशार, सहस्रारादि चक्रों का (१२७-१३५), अहंपरामर्श (१९२-९३), जपध्यानादि के स्वरूपसहित यागविधि (१९४-२२०), कुलादि विभिन्न शास्त्रों में विहित विधियों एवं कुल गुरुपरम्परा (२५६-७१) का निरूपण है। पंचम आह्निक का नाम आणवोपाय प्रकाशन है। आणवोपाय मोक्ष का क्रियापरक उपाय होने के कारण सम्पूर्ण आह्निक में कर्मकाण्ड के तकनीकी शब्दों यथा त्रिशूल, चक्र, प्राणदण्डप्रयोग (५४-५५), विसर्ग (७०-७१), उच्चारकरणध्यानादि अवान्तर उपायों का निरूपण है। छठे कालतत्वप्रकाशन नामक आह्निक में यागादि के लिए स्थानकल्पना (२-४), षडध्वा (२१-३७), प्राणचार एवं वर्णोदय (२१६-२३९) आदि का विवेचन है। सातवें चक्रोदयप्रकाशन आह्निक में चक्र एवं मन्त्रों के स्वरूप में प्रकारों का विवेचन है, जो कर्मकाण्ड का ही विषय है। आठवें देशाध्वप्रकाशन नामक आह्निक में एक सौ आठ भुवन (४३७-५०), दीक्षादि के बिना भी पृथ्वी आदि महाभूतों में शिवतत्त्व दर्शन करने वालों की शिवात्मता की सिद्धि (२०९-२१२), वामादि नौ देवियाँ (३३८-३९) आदि वर्णित हैं। नवें तत्त्वप्रकाशन नामक आह्निक में कला के किंचित्कर्तृत्व के प्रसंग में सद्योनिर्वाणदा दीक्षा का उदाहरण दिया गया है (१७७)। दसवें तत्त्व-भेदप्रकाशन आह्निक में कर्मकाण्ड से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाला कोई विषय नहीं है। एकादश कलादिप्रदर्शन आह्निक में पद एवं मन्त्र की एकरूपता (४४-४५), षडध्वा का एकत्र निरूपण (५१-५३), मन्त्रों का शोधकत्व (८७-९२) आदि विषयों का निरूपण है। बारहवें अध्वोपयोगप्रकाशन नामक आह्निक के प्रारम्भ में ही अध्वा के यागादि में उपयोग की प्रतिज्ञा की गई है, इसके अन्तर्गत अर्चन, जप, ध्यान, होम, समाधि आदि का स्वरूप संक्षेप में निरूपित है (७-१४)। तेरहवें शक्तिपात प्रदर्शन नामक आह्निक में दीक्षा से पूर्व आवश्यक शक्तिपात एवं प्रातिभज्ञान (१२९-१४७), सांसिद्धिक संविद् (१५१-५५), शक्तिपात के सूचक चिह्न (२१४-१६) आदि कर्मकाण्ड

से सम्बद्ध विषयों का विवेचन है। इसके पश्चात् चौदहवें आह्निक से प्रारम्भ करते हुए अन्तिम दो आह्निकों जिनमें शास्त्र सम्मेलनादि का निरूपण है, को छोड़ कर सभी आह्निकों का प्रमुख विषय कर्मकाण्ड ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण तन्त्रालोक को कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ कहना अनुचित नहीं होगा।

तन्त्रालोक में अनेकत्र पारिभाषिक शब्दों[१] का प्रयोग यथा प्रमाण, प्रमेय प्रमाता के लिए सोम सूर्य अग्नि[२] का साथ ही सोम सूर्य का अन्य अर्थों (हृस्व, दीर्घ एवं प्लुत, विवेक, ३.१३२) में भी प्रयोग किया गया है। सूर्य एवं चन्द्र शब्द प्राणापान प्रवाह से भी सम्बद्ध हैं। सोम, सूर्य व अग्नि का मिलनस्थल हृदय है जहाँ परम ध्यान एकाग्र करने से पूर्ण प्रमातृरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इस ध्यानरूप अरणि से प्राणापान की गति को विच्छिन्न करके निर्विकल्परूप से मध्यधाम में प्रवेश करने रूप क्षोभ के द्वारा हृदय, कुण्ड में संकोच का लोप करने वाली महाभैरवाग्नि प्रदीप्त होती है।[३] यही याग का पारमार्थिक स्वरूप है। इस ध्यान में सृष्टि, स्थिति एवं संहार से सम्बन्धित परा, परापरा एवं अपरा देवियों को भी विषय बनाया जाता है।

पारमार्थिक स्वरूप-विश्रान्ति के प्रसंग में गोपनीयता की रक्षा की दृष्टि से "ख" शब्द का अनेक (१०) अर्थों में एक साथ प्रयोग आलंकारिक दृष्टि से भी उल्लेखनीय है----

घतुष्षड्द्विर्द्विगुणितचक्रषट्कसमुज्ज्वला।
तत्स्थं विचारयेत् खं खं खस्थं खस्थेन संविशेत्।।
खं खं त्यक्ता खमारुह्य खस्थं खं घोष्यरेदिति।
खमध्यास्याधिकारेण पदस्थाशिचन्मरीचयः।। -तन्त्रा., ५.९०-९१.

इसी प्रसंग में भाव एवं धाम शब्दों का भी यमकपूर्ण प्रयोग किया गया है। साहित्यशास्त्री अभिनवगुप्त के कर्मकाण्डपरक दार्शनिक ग्रन्थ में उपमा के उल्लेखनीय उदाहरण है--------

केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृंड्ग एव रसिको न मक्षिका
भैरवीयपरमाद्वयाध्वनि कोऽपि रज्यति महेशचोदितः। -तन्त्रा., ४. २७६.

तन्त्रालोक के दो संस्करण उपलब्ध हैं। एक शोध-विभाग जम्मू एवं कश्मीर से पं. मधुसूदन कौल शास्त्री के सम्पादन में सन् १९१८ से १९३८ तक बारह खण्डों में प्रकाशित है दूसरा मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रो० आर.सी. द्विवेदी एवं डॉ० नवजीवन रस्तोगी के संपादन में सन् १९८७ में आठ खण्डों में प्रकाशित है। यह संस्करण तन्त्रालोक पर विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची, कारिकाओं की अकारादि - अनुक्रमणिका एवं विवेक में

---

१. तन्त्रालोक एवं विवेक में उपलब्ध पारिभाषिक शब्दों की सूची ग्रन्थ के अन्त में प्रस्तुत की गई है।

२. सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते।
योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत्। -तन्त्रा., ५.१२१ अब एवं १२३अब.

३. सोमसूर्याग्निसंघट्ट तत्र ध्यायेदऽनन्यधीः।
तद्ध्यानारणिसंक्षोभान्महाभैरवहव्यभुक्।।
हृदयाख्ये महाकुण्डे जाज्वलन् स्फीततां व्रजेत्। -तन्त्रा., ५.२२-३ब.

उपलब्ध उद्धरणों की अकाराद्यनुक्रमणिका से उपबृंहित है। तन्त्रालोक का एक अन्य संस्करण माधवानन्द आश्रम, धर्माज, खेडा गुजरात से १९८४ में प्रकाशित हुआ था जिसके मात्र दो खण्ड (१ से ६ आह्निक और सात से १४ आह्निक) प्रकाशित हुए हैं जिनका सम्पादन आचार्य कृष्णानन्द सागर ने किया है किन्तु इसकी अपेक्षा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से १९९२-९३ में प्रकाशित सात आह्निकों के दो खण्ड (१ से ३ और ४ से ७) अध्येताओं के लिए अधिक उपयोगी हैं जिनका सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद डॉ0 परमहंस मिश्र ने किया है। साथ ही इटालियन विद्वान् R. Gnoli के द्वारा प्रस्तुत तन्त्रालोक का इटालियन अनुवाद भी इस क्रम की महत्वपूर्ण कड़ी है।

तन्त्रालोक की एकमात्र टीका उपलब्ध है जयरथकृत विवेक। यद्यपि एक और टीका विवरण का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह अनुपलब्ध है। विवेक टीका का स्वरूप विवृत्ति का है जो तन्त्रालोक को समझने में हमारी पर्याप्त सहायता करती है। अभिनवगुप्त ने जिन आगमों के सन्दर्भ दिए हैं, जयरथ ने आवश्यकतानुसार उन स्थलों को उद्धृत भी किया है। इनके माध्यम से उस विषय एवं अभिनवगुप्त के मन्तव्य को समझा जा सकता है। जिन स्थलों पर जयरथ ने उद्धरण नहीं दिए हैं अथवा विस्तृत व्याख्या नहीं की है, आज के शोधकर्ता के पास उन्हें समझने का कोई मार्ग नहीं है। यद्यपि जयरथ ने अभिनवगुप्त के मन्तव्य के अनुरूप ही व्याख्या करने का प्रयत्न किया है (तदस्माकमपि एवं व्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्तपादा एवं प्रमाणम्, विवेक ५, पृ0 ४४३), तथापि कहीं - कहीं उन्होंने उनसे विपरीत विचार भी प्रस्तुत किए हैं। कहीं पर सीधे खण्डन अथवा निषेध करके "पालयेत्सप्तसत्रकम् इत्यनन्तरं भ्रमात् लेखकैर्लिखित इति तदुपेक्ष्यम्" (विवेक, २३.२६) अथवा कहीं भिन्न व्याख्या देकर। कहीं-कहीं जयरथ को भी अस्पष्टता प्रतीत हुई- "वैपरीत्यत इति प्रागिव अस्पष्टम्" (विवेक, ३१.३६), कहीं पर व्याख्या करने में उन्हें अनेक दोषों की सम्भावना दिखाई दी-(विवेक, १६.२३६) तथापि तन्त्रालोक के अनेक तकनीकी एवं पारिभाषिक शब्दों एवं प्रसंगों को समझना जयरथ की टीका की सहायता से ही सम्भव है। विशेषरूप से मन्त्रों के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का विवरण यदि वे नहीं देते तो मन्त्रों का उद्धार असम्भव था। मण्डल-निर्माण-विधि के साथ यही कठिनाई है। अभिनवगुप्त के द्वारा प्रस्तुत मण्डल-विवेचन में प्रयुक्त तकनीकी शब्द मत्स्यसन्धि, भ्रमयुग्मक आदि का विवरण विवेक में उपलब्ध नहीं है, इसलिए मण्डलनिर्माण विधि का सांगोपांग निरूपण कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के समय में मण्डलनिर्माण सर्वसाधारण के दैनन्दिन जीवन के कर्मकाण्ड में प्रायः होता था, जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है--- "शूलाब्जविधिर्दृष्टोऽभिलिख्यते" (तन्त्रा., ३१.१०० सद)। यद्यपि इसका तात्पर्य ग्रंथ से ग्रहण करना भी लिया जा सकता है, किन्तु जयरथ ने जिस प्रकार विभिन्न विषयों का स्पष्टीकरण (सम्पूर्ण तन्त्रालोक में से केवल इसी स्थल पर) नहीं किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि सर्वज्ञात होने से उन्होंने इसकी आवश्यकता नहीं समझी।

कौल सम्प्रदाय और उसके ग्रन्थ

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड का निरूपण काश्मीर शैवदर्शन की कुल शाखा अथवा कौल-सम्प्रदाय के आधार पर किया गया है। कौल सम्प्रदाय के साहित्य के पल्लवन का काल एक हजार तीन सौ वर्ष का माना जा सकता है।

यह काल ५वीं शती ई. में जब त्र्यम्बक की पुत्री के वंशज मच्छन्द[1] अथवा मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप में उत्पन्न हुए थे, से लेकर १८ वीं शती ई., जब काशी के भास्करराय[2] ने नित्याषोडशिकार्णव पर टीका लिखी, तक माना गया है। कौल साहित्य के अन्तर्गत आगम, उन पर आधारित स्वतन्त्र ग्रन्थ एवं टीका उपटीका आदि हैं। इनमें से अधिकतर ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं, उनका ज्ञान अन्य ग्रन्थों में उनके उद्धरणों के द्वारा हमें प्राप्त होता है। इसलिए उन ग्रन्थों का ऐतिहासिक कालानुक्रम निश्चित कर पाना अत्यधिक कठिन है। प्राप्त ग्रन्थों एवं उनमें उद्धृत अंशों के अवधानपूर्ण अध्ययन के द्वारा ग्रन्थों के कालानुक्रम को के0 सी0 पाण्डेय ने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है।

सिद्धयोगीश्वरी मत शैव सम्प्रदाय का प्रमुख एवं आधारभूत ग्रन्थ है। सौ करोड़ श्लोकों वाला यह ग्रन्थ अब दुष्प्राप्य है। कालान्तर में इसे संक्षिप्त करके मालिनीविजय नाम दिया गया। यह ग्रन्थ भी अब प्राप्त नहीं होता है। इसका और संक्षिप्त रूप मालिनीविजयोत्तरतन्त्र आज उपलब्ध है। इसमें कुल सम्प्रदाय को वाम एवं दक्षिण मार्गों का संश्लिष्ट रूप बताया गया है। मालिनीविजयोत्तर तन्त्र का उद्धरण अभिनवगुप्त ने अनेकत्र श्रीपूर्वशास्त्र के नाम से दिया है, अर्थात् उनके मत में भी यह ग्रन्थ आगमिक ग्रन्थों में पूर्वस्थानीय है। इसी कारण इसका अथवा इसके आधारभूत ग्रन्थ सिद्धयोगीश्वरीमत का प्रथम परिगणन किया गया है।

रुद्रयामलतन्त्र वामकेश्वरी मत से प्राचीन है, क्योंकि स्वयं वामकेश्वरी मत (१२१) में कहा गया है कि करशुद्ध्यादि विद्याओं का उपदेश मैंने पहले रुद्रयामलतन्त्र में दे दिया है। यह ज्ञानार्णवतन्त्र से भी प्राचीन है जिसमें इसका सन्दर्भ दिया गया है। रुद्रयामल भी कौल सम्प्रदाय का आधारभूत आगम है, इसके अन्तिम भाग परात्रिंशिका पर सोमानन्द, अभिनव आदि ने वृत्तियाँ लिखी हैं, जो अधुना उपलब्ध कुल सम्प्रदाय-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

कुलार्णवतन्त्र रुद्रयामल से अर्वाचीन माना जाना चाहिए क्योंकि इसका प्रारम्भ नमस्कारात्मक श्लोकों से होता है जब कि अन्य तन्त्र भैरव-भैरवी-संवाद के रूप में सीधे शुरू हो जाते हैं। कुलार्णव तन्त्र जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, कौल सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। यह सिद्धयोगीश्वरी मत के पश्चात् आता है क्योंकि इसमें प्रथम ग्रन्थ का उद्धरण पाया जाता है (कु0 त0, २८८)। नित्याषोडशिकार्णव जो वामकेश्वर तंत्र का एक अंग माना जाता है, के टीकाकार भास्करराय के अनुसार वामकेश्वरी तंत्र में इसका सन्दर्भ पाया जाता है, इस दृष्टि से कुलार्णवतन्त्र पूर्वकालीन है।

स्वच्छन्दतन्त्र जयरथ के अनुसार आठ यामल तन्त्रों में से एक है। यह माना जाता है कि यह भी सिद्धयोगीश्वरी मत की भाँति एक करोड़ श्लोकों में निबद्ध था। अधुना उपलभ्यमान स्वच्छन्दतन्त्र इसका संक्षिप्त रूप है। यह शिव के दक्षिण मुख से उद्भूत माना जाता है एवं कुल सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। अन्तः साक्ष्यों

---

१. चंचल चित्तवृत्तिरूपपाशों को काटने के कारण उन्हें मच्छन्द कहा गया है--
'मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः'।।-- विवेक, १. ७.

२. विस्तारार्थ द्रष्टव्य-- खिस्ते, पं0 बटुकनाथ शास्त्री द्वारा प्रणीत-भास्करराय भारती दीक्षितः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९३.

के आधार पर यह तन्त्र ग्रन्थों में अधिक अर्वाचीन माना जाना चाहिए। इसमें लकुलीश पाशुपत दर्शन जो द्वितीय शती ई0 में उद्भूत हुआ था, का सन्दर्भ पाया जाता है। साथ ही कामशास्त्र, चित्रशास्त्र, वाल्मीकि एवं व्यास के सन्दर्भ भी इसमें मिलते हैं। इस दृष्टि से इसे द्वितीय शती के बाद का ग्रन्थ माना जाना चाहिए।

नित्याषोडशिकार्णव को रुद्रयामल के पश्चात् रखना उचित है क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में रुद्रयामल का सन्दर्भ पाया जाता है। साथ ही तन्त्रराज तन्त्र का सन्दर्भ प्रस्तुत करने के कारण यह क्रम में तन्त्रराजतन्त्र से पूर्व का है।

नेत्रतन्त्र स्वच्छन्दतन्त्र का उत्तरकालीन ग्रन्थ है। यह शिव के तृतीय नेत्र जिसे मृत्युंजित् कहा गया है, का प्रमुखतः वर्णन करने के कारण नेत्रतन्त्र कहलाता है।

तन्त्रराजतन्त्र समस्त तन्त्र ग्रन्थों में सर्वाधिक अर्वाचीन है। यह समस्त चौंसठ तन्त्र ग्रन्थों के पश्चात् माना जाता है। साथ ही यह नित्याषोडशिकार्णव संम्बन्धी नौ तन्त्रों के भी बाद का है एवं उनमें निरूपित तत्त्वों का ही एक साथ विवेचन प्रस्तुत करता है। शंकराचार्य ने अपनी आनन्दलहरी में इसे ६५ वें तन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है।

कालीकुल यद्यपि आगम ग्रन्थ नहीं है (इसे डॉ0 के0 सी0 पाण्डेय ने 'Semi-Agamic' कहा है) तथापि यह अभिनवगुप्त के द्वारा अनेकशः उद्धृत है। कुल-सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा, पर्व दिवसों आदि प्रसंगों में इसका प्रमुखतः उल्लेख हुआ है। "त्रिककालीकुलादिके....."(तन्त्रा., २८.७) उल्लेख से यह सूचित होता है कि इस परम्परा में अन्य ग्रन्थ भी थे।

कर्मकाण्ड लोक-जीवन से घनिष्ठरूप से सम्बन्धित है। किसी भी धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से संगति रखते हुए उसके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला व्यावहारिक मार्ग कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्ड के माध्यम से ही धर्म एवं दर्शन लोक-जीवन में प्रतिष्ठित एवं चिरकाल तक जीवित रहते हैं। धर्म एवं कर्मकाण्ड अविच्छेद्य है। कोई भी धर्म कर्मकाण्ड के बिना विकसित नहीं हो सकता। इस प्रकार सामान्यतः कर्मकाण्ड ऐहिक एवं पारलौकिक फल-प्राप्ति की कामना से किया जाने वाला और मानव की असतप्रवृत्तियों को रोकने वाला भौतिक पदार्थों से युक्त व्यापार है जिसका धर्म भी अनुमोदन करता है। धर्म का लक्षण कर्मकाण्डप्रधान दर्शनमीमांसा के अनुसार "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १.१.२) एवं "वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः" (अर्थसंग्रह) है। मीमांसा के अनुसार सम्पूर्ण वेद प्रयोजनवद् अर्थ, धर्म अथवा क्रियात्मक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं। "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (जै. सू. १. २. १.) इसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए वेद के वे भाग जो सीधे किसी क्रिया का निर्देश नहीं करते, को भी क्रिया से संयुक्त करने का प्रयास मीमांसाशास्त्र का विषय है। मीमांसकों के अनुसार वेद के छः भाग हैं-- (१) विधि, (२) निषेध, (३) अर्थवाद, (४) मन्त्र, (५) नामधेय और (६) उपनिषद्। विधि एवं निषेध सीधे क्रिया से सम्बन्धित हैं, अर्थवाद के अन्तर्गत प्रशंसा अथवा निन्दा के द्वारा कार्य के प्रति प्रेरित अथवा निरुद्ध किया जाता है, मन्त्रों का याग में प्रयोग होता ही है, यज्ञ, देवतादि का नामोच्चारणरूप नामधेय भावना की पुष्टि करते हैं, ब्रह्मज्ञानरूप उपनिषद् क्रिया में हुए अनर्थ को दूर करने में

सहायक होता है। शंकर के अनुसार श्रुति में केवल ज्ञान का प्रतिपादन है एवं ज्ञान और क्रिया में आत्यन्तिक विरोध है। इस प्रकार समान वेदवाक्यों को एक दर्शन-सम्प्रदाय (पूर्वमीमांसा) क्रियापरक सिद्ध करने का प्रयास करता है तो दूसरा (अद्वैत वेदान्त) इन्हें ज्ञानपरक। इन दोनों (ज्ञान एवं क्रिया) के विरोध का परिहार काश्मीर शैवदर्शन में मिलता है। क्रिया तो ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञान क्रियाशून्य होने पर जड़ होता है। ज्ञान और क्रिया परस्परपूरक हैं-- "न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।"

श्रीमद्भागवत के अनुसार कर्मकाण्ड तीन प्रकार का होता है-- "वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः" (११.२७.७)। वैदिक कर्मकाण्ड का पुनः श्रौत, स्मार्त एवं पौराणिक विधियों में विभाजन किया जा सकता है। तान्त्रिक कर्मकाण्ड भी शैव, शाक्तादि सम्प्रदायों के आधार पर विविध हैं। तान्त्रिक कर्मकाण्ड के विकास का इतिहास बहुत पुराना है। इसके बीज हमें प्रागैतिहासिक सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध होते हैं। वैदिककाल में अथर्ववेद में तान्त्रिक साधना एवं कर्मकाण्ड का विकसित रूप दिखाई देता है। तन्त्र साहित्य केवल शैवधर्म से ही सम्बन्धित नहीं है, अपितु वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के अपने-अपने तन्त्र हैं। मिश्रित कर्मकाण्ड में वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों प्रकार के कर्मकाण्डों की विधियों का समावेश होता है। स्मार्त विधि-विधान में तान्त्रिक न्यासादि का प्रयोग मिश्रित कर्मकाण्ड का उदाहरण है।

तंत्रालोक न केवल विभिन्न आगमों तथा तान्त्रिक ग्रन्थों में वर्णित साधनाओं का विश्वकोष है अपितु गुरु-परम्परा से जो भी साधना-विधि, पूजापद्धति, कर्मकाण्ड या आध्यात्मिक अनुभव अभिनवगुप्त को प्राप्त हुए थे या जिनकी स्वयं उन्होंने साधना की थी उनका प्रामाणिक संग्रह है। तान्त्रिक कर्मकाण्ड की एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें यज्ञविधि का सम्पादन करने वाला एवं उसके फल को प्राप्त करने वाला व्यक्ति एक ही होता है-- "यष्टा तावत् कर्ता अभिधीयते" ---(-विवेक, १५. १५६.)।

वैदिक कर्मकाण्ड में सामान्यतया यजमान, आवश्यक धन देकर, पुरोहित के माध्यम से यज्ञ-सम्पादन करवा कर उसके फल का भागी बन सकता है। यजमान द्वारा उस कर्मकाण्ड के ज्ञान की अथवा उसके प्रति कोई निश्चित भावना की आशा नहीं की जाती। जबकि तान्त्रिक कर्मकाण्ड काश्मीर शैवदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त "न क्रियारहितं ज्ञानं न च ज्ञानरहिता क्रिया" का मूर्तरूप है। वैदिक कर्मकाण्ड में जहाँ यजमान को ज्ञान के बिना ही इच्छित फल की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ कौलिक कर्मकाण्ड में यज्ञीय प्रसाद --शिवोपयुक्त हवि-- को प्राप्त करने का अधिकार भी सामान्यजन अथवा अज्ञानी व्यक्ति को नहीं है-- "शिवोपयुक्तं हि हविर्न सर्वो भोक्तुमर्हति।" (-तन्त्रा., १६. ३0 सद) किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि शिव का प्रसाद (शिवोपयुक्त हवि) ग्रहण करने के लिए दीक्षा, समयपालन आदि कठिन साधना ही अनिवार्य है। ज्ञान और क्रिया के साथ ही भक्ति का भी अपना महत्त्व है। परमशिव के प्रति भक्तिभाव से परिपूर्ण होने पर किसी भी ज्ञान अथवा क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। भक्तिपूर्वक हवि का भोग करने वाला व्यक्ति समयित्व को स्वतः प्राप्त कर लेता है--

"यस्तु दीक्षाविहीनोऽपि शिवेच्छाविधिचोदितः।
भक्त्याश्नाति स संपूर्णः समयी स्यात्सुभावितः।।" -तन्त्रा., १६. ३१.

इसी प्रकार रक्ता देवी की आराधना के लिए उपदिष्ट विधि का कालानुसार विधान करने मात्र से व्यक्ति क्रमशः समयी, पुत्रक, साधक आचार्यादि पदों को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., ४. ६३ स -६४)।

इस प्रकार दीक्षा, यागादि इन कर्मकाण्डों का विधान एवं क्रम अन्तिम नहीं है। दीक्षादि के क्रम का व्युत्क्रम भी सम्भव है एवं इनके बिना भी परम पद की प्राप्ति सम्भव है। शिव का शक्तिपात एवं मोक्ष अथवा परम लक्ष्य की प्राप्ति की तीव्र भावना होने पर लक्ष्य अवश्य प्राप्त होता है। स्नान, शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान, जप, मन्त्र, मुद्रा, न्यास, लिंगपूजा, व्रत, तीर्थ, याग आदि कर्मकाण्ड मायीय विकल्प हैं। ये परम तत्त्व की प्राप्ति के अपरिहार्य साधन नहीं हैं, तथापि ये चित्त के स्थिरीकरण एवं परसंवित्समावेश में सहायक होते हैं। जिस भी साधन अथवा माध्यम, चाहे वह ज्ञान हो, योग अथवा भक्ति, से परमतत्त्व में चित्त निश्चल होकर स्थिर हो, वही मुक्ति का उपाय है (मा.वि.त., १८. ७४-८१)। साथ ही मुक्ति या शिवत्वलाभ ही अन्तिम साध्य नहीं है (वह तो अन्ततः प्राप्त होगा ही) अपितु करुणा और अनुग्रह के भाव से प्रेरित होकर लोककल्याण करना परम उद्देश्य है। इसी दृष्टि से साधक के दो प्रकार हैं। शिवधर्मी साधक की निष्ठा शिवमात्र में होती है जबकि लोक-धर्मी साधक लोककल्याण की दृष्टि से कर्मनिरत रहता है--

"द्वितीयो लोकमार्गस्थ इष्टापूर्तविधौ रतः।
कर्मकृत्फलमाकांक्षं शुभैकस्थोऽशुभोज्झितः।।
तस्य कार्यं सदामन्त्रैरशुभांशविनाशनम्।"-- स्व. त., ४. ८५-८६.

यही भाव गीता के लोकसंग्रह, सर्वभूतरति व समदर्शिता में, बुद्ध के द्वारा करुणा की देशना में, जैनधर्म के अहिंसा-सिद्धान्त में, वेदान्त के सर्वमुक्तिवाद में, योगदर्शन के मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा के आदर्शों में अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार समस्त धर्म-सम्प्रदायों के परमलक्ष्य के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के मार्ग एवं सिद्धान्तों में भिन्नता पाई जाने पर भी उनका प्रमुख उद्देश्य मानव-कल्याण ही रहता है।

भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र समस्त धर्म-दर्शनों का भी मूल-मन्त्र है -

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।"



द्वितीय परिच्छेद
दीक्षा और शक्तिपात

दीक्षाः परिभाषा एवं स्वरूप

दीक्षा शब्द दीक्ष् धातु से भाव अर्थ में अ एवं स्त्रीलिंगवाची टाप् प्रत्यय होकर निष्पन्न है। "दीक्ष् मौण्डेज्योपनयननियमव्रतादेशेषु"[1] के आधार पर दीक्ष् धातु का प्रयोग मौण्ड्य, यज्ञ, उपनयन, नियम, व्रत, आदेशादि अर्थों में होता है। इस प्रकार दीक्षा का अर्थ प्रायः आचरणसम्बन्धी विशेष नियमों अथवा व्रतों का पालन करने से सम्बन्धित माना जाता है। रूढ़ अर्थ में दीक्षा का प्रयोग किसी व्रत, यज्ञ अथवा नियम को स्वीकार करने से पूर्व व्यक्ति में वांछित योग्यता की परीक्षा एवं उसका आधान करने आदि कार्यों में होता है। विभिन्न आचार्यों के द्वारा दी गई दीक्षा की विभिन्न परिभाषाओं के अनुसार, इसके माध्यम से व्यक्ति के मलात्मक पाशों को क्षीण करके दिव्य ज्ञान की उत्पत्ति की जाती है। यह आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर पड़े हुए अज्ञानावरण को दूर करके स्वरूपप्रकाशन में सहायता करती है। न केवल मोक्ष अपितु दीक्षित की इच्छानुसार भोगप्राप्ति की साधनभूता दीक्षा के अनेक प्रकार तन्त्रालोक एवं अन्य ग्रन्थों में बताए गए हैं।

तन्त्रालोक में दीक्षा की व्युत्पत्तिपरक अथवा स्वरूपनिश्चायक कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त ने अन्यत्र (परात्रीशिका की व्याख्या में) दीक्षा को "ज्ञानदानमायाक्षपणलक्षणा" बताया है। जयरथ के इस उद्धरण-

"दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिताः।।" (१.४३)

के अनुसार भी दीक्षा का कार्य ज्ञान का दान (दा) एवं पाशों का नाश (क्षै) है। अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों शारदातिलक[2], महाहारकतन्त्र[3], प्रयोगसार[4], कर्मकाण्डक्रमावली[5] आदि में उपलब्ध परिभाषाओं के आधार पर भी दीक्षा मलात्मक पाशों को विच्छिन्न एवं शिष्य में दिव्य ज्ञान को उत्पन्न करती है। शुक्ल यजुर्वेद में दीक्षा को तपस्या का शरीर बताया गया है-- "दीक्षा तपसोस्तानुरसि" (वा. स., ४. २)। अन्यत्र (गोपथब्राह्मण) दीक्षा का अर्थ व्यक्ति में श्रेष्ठ बुद्धि का आधान करने वाली क्रिया के रूप में किया गया है (गोपथब्राह्मण, १.३.१६)।

दीक्षा के पर्याय के रुप में अंग्रेजी भाषा के "Initiation" शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका तात्पर्य व्यक्ति को किसी कार्यविशेष के लिए प्रेरित अथवा उद्बोधित करना है। दीक्षा का कार्य केवल सम्प्रदाय में प्रवेश दिलाना मात्र नहीं है अपितु फल प्राप्त करवाना भी है। अधिकारी में यागविशेष अथवा कौलिक कर्मकाण्ड को

---

१. त्रिपाठी, भगीरथप्रसाद, पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा, पृ० २५६,
२. दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयः। तस्माद्दीक्षेति संप्रोक्ता दैशिकैस्तान्त्रवेदिभिः।। ४, २.
३. ज्ञानं दिव्यं यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं नृणाम्। तेन दीक्षित लोकेऽस्मिन् कीर्तिता तन्त्रपारगैः।।
-ता.भ सु. में पृ० २८ पर उद्धृत
४. दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पापसंचयः।
तेन दीक्षेति सा ज्ञेया पाशच्छेदक्षयात्क्रिया।। शा. ति, की टीका पदार्थादर्श में पृ० १२६ पर उद्धृत
५. मलमायादिपाशानां विश्लेषः क्रियते यया।। ६०७
ज्ञानं च जन्यते शिष्ये सा दीक्षेत्यभिधीयते। - ६०७ (रावं) -८ (अब)

करने की योग्यता का आधान करने से लेकर मोक्षप्राप्ति पर्यन्त दीक्षा का अधिकार-क्षेत्र है। "दानक्षपणलक्षणा" दीक्षा केवल ज्ञान या योग्यता का आधान ही नहीं करती, बल्कि मलात्मक पाशों का क्षपण करके शिष्य को शिवरूपता की प्राप्ति भी करवाती है।

दीक्षा वस्तुतः आत्मसंस्कार का नामान्तर है।[१] आणव, मायीय और कार्म मलों के कारण आत्मा के पूर्णत्व में संकोच आता है और अपरिच्छिन्न इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति से युक्त आत्मा स्वयं को परिच्छिन्न समझने लगता है। दीक्षा के द्वारा इन मलात्मक पाशों का निवारण होता है जिससे आत्मा को स्वरूप-प्रत्यभिज्ञानरूप मोक्ष प्राप्त होता है। संसार अथवा मलात्मक पाशों से मुक्ति दिलाने के कारण ही इसे "मोचिका" कहा गया है (तन्त्रा., १६. २९९स-३००ब.)। दीक्षा का कार्य तो दर्पण पर लगी हुई धूलि को पोंछने के समान मलों को निवृत्त करना है जिससे दर्पण के निर्मल प्रतिबिम्बन के समान आत्मा स्वतः मुक्त हो जाता है -

"मलो नाम किल द्रव्यं चक्षुस्थपटलादिवत्,।" --(तन्त्रा., १. २३९)

चक्षुस्थ दोष पटल के समान मल हैं जो पुरुष की ज्ञानक्रियात्मक दृष्टि में अवरोध उपस्थित करते हैं। नेत्रदोष पटल की जिस प्रकार वेद्य व्यापार (क्रिया) के बिना केवल ज्ञानमात्र कि यह पटल है, से निवृत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अज्ञान के कारणभूत मलों की निवृत्ति का साक्षात् उपाय क्रियारूपिणी दीक्षा ही है। यद्यपि मल द्रव्य न होकर अज्ञानस्वरूप हैं जो ज्ञानोदय से स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। यह ज्ञानोदय गुरुतः, शास्त्रतः एवं स्वतः होता है, किन्तु यह ज्ञानवान् पुरुषों में ही हो पाता है। सामान्य अज्ञानी अकुशलजनों के मलात्मक आवरण को दूर करने के लिए तो दीक्षा ही सुखद उपाय है (तन्त्रा. एवं विवेक, १५. ६)।

दीक्षा बौद्धज्ञानपूर्वक मोचिका कही गई है। अद्वयवादी शैव शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न ज्ञान बौद्ध ज्ञान माना गया है जिसकी प्राप्ति के लिए दीक्षा अनिवार्य है क्योंकि दीक्षा के बिना व्यक्ति शांकरयोग अथवा शैव शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी नहीं होता है-- "न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे" (स्व.त., ११.१२६)। इस प्रकार दीक्षा शैव शास्त्रों के अध्ययन के माध्यम से बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति करती है। श्रीमन्निशाटन में कहा गया है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति से विकल्पों का उन्मूलन हो जाता है और विकल्परहित की तत्काल मुक्ति हो जाती है। मलों का पूर्ण परिपाक न होने से यदि चित्त में विकल्प शेष रहें तो देहपात होने पर मोक्ष होता है (-तन्त्रा., १. ५१)। यह स्थिति जीवन्मुक्त की होती है।

बौद्ध एवं पौरुष ज्ञानाज्ञान

श्रीस्वायम्भुव, रुरु, मतंगशास्त्र आदि में ज्ञान एवं अज्ञान के दो-दो प्रकार बताए गए हैं (तन्त्रा., १. ४६) -- पौरुष ज्ञान एवं अज्ञान और बौद्ध ज्ञान एवं अज्ञान।

पौरुष अज्ञान-- अपने पूर्ण चैतन्य स्वातन्त्र्ययुक्त शिवरूप को आवृत्त करके पशु के संकुचित दृक् क्रियारूप में प्रकट करने वाला मलात्मक पौरुष अज्ञान है। परमेश्वर स्वयं ही अपने स्वातन्त्र्य, पूर्णज्ञत्व, पूर्णकर्तृत्व आदि

---

१. दीक्षा हि नाम संस्कारो न त्वन्यत्सोऽस्ति चास्य हि। ---तन्त्रा., १६. ४६ अब.

को छिपा कर अज्ञानात्मक आणवमल के आविर्भावपूर्वक स्वयं को अणुरूप में प्रकट करते हुए कलादि षट्कंचुक से संयुक्त करता है जिससे उसमें नियतज्ञत्व, कर्तृत्वादि का योग होता है (तन्त्रा., १. ३६-३८)।

बौद्ध अज्ञान-- षट्कंचुक के कारण जब अपने संकुचितज्ञत्व, कर्तृत्व की प्रतीति होती है और पशुप्रमाता उसे ही सत्य मानने लगता है वह बौद्ध अज्ञान है जिसका कारण पौस्न अज्ञान है (तन्त्रा., १. ३६-४०)।

पौरुष ज्ञान-- पशुसंस्कार आणवमल के क्षीण हो जाने पर कार्म एवं मायीय मल भी क्षीण हो जाते हैं। तब समस्त बन्धनों का क्षय होने पर परम चिद् से ऐकात्म्यरूप पराहन्ताविमर्शात्मक निर्विकल्प पौरुष ज्ञान होता है (तन्त्रा., १. ४१)।

बौद्ध ज्ञान-- इस विकस्वर अविकल्प आत्मज्ञान की "सर्वो ममायं विभवः" रूप में अनुभूति बौद्धज्ञान है जिसका कारण भी पौरुष ज्ञान होता है (तन्त्रा., १.४२)। दीक्षा के द्वारा यद्यपि पौरुष अज्ञान नष्ट हो जाता है तथापि पौरुष ज्ञान का उदय शरीर का अन्त होने पर होता है। इसके साथ ही मान्यता यह भी है कि पारमेश्वर शास्त्रों के श्रवण से उद्भूत बौद्ध ज्ञान के द्वारा जब बौद्ध अज्ञान लुप्त हो जाता है तब जीवन्मुक्ति होती है (तन्त्रा., १. ४३-४४)।

पूर्ण, अपरिच्छिन्न, निर्मल आत्मा आणवमल के कारण स्वयं को परिच्छिन्न समझता है। उस संकुचित स्वरूप में कार्म-मल के कारण शुभाशुभ वासनाएँ उद्भूत होती हैं जिनके कारण जाति, आयु, भोगादि फल भोगने होते हैं। कला, विद्या, राग, काल, नियति एवं माया-इस षट्कंचुक-स्वरूप मायीय मल के कारण विचित्र भुवनों एवं योग्य पदार्थों का अनुभव होता है। इन त्रिविध मलों से मुक्ति दीक्षा के माध्यम से प्राप्त होती है। दीक्षा से आत्मा की त्रिधा स्थिति-केवल, सकल एवं अमल होती है। इस स्थिति में भी मलों के क्षीण होने पर निःश्रेयस् के प्रति आस्था होती है और शिष्य गुरु के द्वारा प्राप्त दीक्षा से बन्धनमुक्त होकर शिवसायुज्य को प्राप्त कर लेता है (स्वा. आ. लुप्तागमसंग्रह, पृ० १८५से)[१]। इस प्रकार दीक्षा पाशों से मुक्ति दिलाकर ऊर्ध्वस्थित शैवधाम की प्राप्ति करवाती है "दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि "(तन्त्रा., १५.१ सद)।

दीक्षा भोग एवं मोक्ष-प्राप्ति का उपाय है (तन्त्रा., २६.२)। इसका स्वरूप एवं फल प्रदान करने की सामर्थ्य शक्तिपात के तारतम्य पर आधारित होती है। तीव्रतम शक्तिपात होने पर दी जाने वाली सद्योनिर्वाणदा दीक्षा मोक्ष की साक्षात् उपायभूता है जबकि मन्द अथवा मध्य शक्तिपात होने पर प्रदान की जाने वाली समयी अथवा पुत्रक दीक्षा संस्कार के माध्यम से भोग और मोक्ष को प्रदान करती है (तन्त्रा., १५.७; २६.५-६; द्र. विवेक, १५. पृ०४.)।

जो लोग शक्तिहीन होने के कारण मोक्ष की उपायस्वरूप विद्याप्राप्ति के लिए अधिक श्रम नहीं कर सकते उनके लिए दीक्षा एक सरल सुखद उपाय है (तन्त्रा., १५.८)। शिष्य की सामर्थ्य एवं शक्तिपात के भेद से दी जाने वाली दीक्षा में अन्तर होता है। इसलिए गुरु द्वारा शिष्य की परीक्षा लेकर अथवा उससे पूछ कर दीक्षा देने का विधान किया गया है--

"परीक्ष्य पृष्ट्वा वा शिष्यं दीक्षाकर्म समाचरेत्। (तन्त्रा., १५.२०सद.)

तंत्रालोक में दीक्षा के प्रकार

भोग एवं मोक्ष की उपायभूता दीक्षा के तन्त्रालोक में निरुपित प्रकारों का, उनके प्रयोजन की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है--

१. प्रयोजन-- भोग अथवा मोक्ष के आधार पर दीक्षा के सबीज एवं निर्बीज दो भेद बताए गए हैं (तन्त्रा., १७.६४)। संस्कारों की सिद्धि के लिए की जाने वाली, भोग प्रदान करने वाली एवं अनुसन्धान के माध्यम से परम्परया मोक्ष प्रदान करने वाली दीक्षा सबीज दीक्षा होती है (तन्त्रा., २६.३)। इसके द्वारा दीक्षित के लिए समयाचार का पालन अनिवार्य होता है। निर्बीज दीक्षा के अन्तर्गत समयाचार के पाशों का शोधन कर दिया जाता है। इस दीक्षा से दीक्षित के लिए समयनियमों का पालन करने की आवश्यकता नहीं होती। यह अतीत, अनागत एवं आरब्ध तीनों पाशों से वियुक्त करने वाली होती है। इस दीक्षा से तत्काल मुक्ति हो जाती है (तन्त्रा., १५. ३१-२)।

२. कुल साधना अथवा शिवरूपतापत्ति से पूर्व दीक्षा अनिवार्य है। जो व्यक्ति इस जन्म में किसी भी गुरु से दीक्षा प्राप्त किए बिना कुलाचार में रत है अथवा शिवज्ञानी है उसके लिए यह माना गया है कि उसने पूर्वजन्म में प्राक्तनी दीक्षा को प्राप्त कर लिया होगा अथवा लौकिक गुरु से दीक्षित न होने पर भी उसे साक्षात् परमेश्वर ने पारमेशी दीक्षा प्रदान की होगी। दीक्षा का तीसरा प्रकार पौरुषेयी दीक्षा है जो शास्त्र-निर्दिष्ट विधिपूर्वक लौकिक गुरु के द्वारा दी जाती है (तन्त्रा., ८.१६२-६३ब)।

३. दीक्ष्य (शिष्य) की योग्यता अथवा स्वरूप के आधार पर दीक्षा के अनेक भेद एवं उनकी विधि तन्त्रालोक में प्रमुख रूप से वर्णित है।

(क) समय-दीक्षा-- यह प्राथमिक दीक्षा है, इसलिए इसके अधिकारी के लिए कोई विशेष-योग्यता आवश्यक नहीं है। वे पशुप्रमाता जो सीधे ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता नहीं रखते हैं, उनके लिए यह दीक्षा एक सरल एवं क्रियात्मक उपाय है। समय-दीक्षा को प्राप्त कर लेने पर ही व्यक्ति आगे वाले पुत्रक, साधक, आचार्य आदि पदों को प्राप्त करने का अधिकारी होता है १.... समयी राजपुत्रवत्। सर्वत्रैवाधिकारी स्यात्पुत्रकादिपदत्रये। (तन्त्रा., १५. ४६६)।

(ख) पुत्रक-दीक्षा-- समय-दीक्षा से संस्कृत शिष्य ही पुत्रक-दीक्षा का अधिकारी होता है। समयी को विधिपूर्वक तत्त्व-पाशों से मुक्त कर देने पर वह पुत्रकत्त्व को प्राप्त कर लेता है। पुत्रक का दैशिक के द्वारा परतत्त्व से संयोग कर दिया जाता है। इस दीक्षा के दो प्रकार होते हैं-- सबीज और निर्बीज दीक्षा। सबीज दीक्षा द्वन्द्वसहिष्णु विद्वान् शिष्यों को दी जाती है, जो समय-नियमों का पालन करने में समर्थ होते हैं। दूसरी निर्बीज दीक्षा बालक मूर्ख, स्त्री, वृद्ध, बीमार जनों को दी जाती है जो समय-नियमों के पालन की सामर्थ्य नहीं रखते। इसके अन्तर्गत तत्त्वपाशों के साथ ही समय-पाशों का भी शोधन कर दिया जाता है एवं दीक्षित तत्काल अथवा वासनानुसार भोगों को भोग कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १५. २५-६ एवं २७. ६४स-६७ब)।

(ग) सद्यः समुत्क्रान्तिप्रदादीक्षा-- आसन्नमरणशील व्यक्ति पर तीव्रशक्तिपात होने पर प्राणों के क्लेश-रहित तत्काल उत्क्रमण एवं शिव-सायुज्य की प्राप्ति के लिए गुरु के द्वारा सद्यःसमुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा दी जाती है (तन्त्रा., १६.१)।

(घ) पारोक्षी दीक्षा-- शिष्य जब सदेह गुरु के सम्मुख साक्षात् उपस्थित नहीं हो पाता है किन्तु फिर भी, उस पर हुए शक्तिपात का ज्ञान हो जाने से गुरु द्वारा दी जाने वाली दीक्षा पारोक्षी दीक्षा होती है। शिष्य की अनुपस्थिति दो कारणों से सम्भव है- जीवित शिष्य के प्रवास में होने पर अथवा शिष्य की मृत्यु हो जाने की स्थिति में। तात्पर्य यह है कि शिष्य के सम्मुख न रहने पर भी गुरु क्रमशः पारोक्षी एवं मृतोद्धारी दीक्षा प्रदान करते हैं।

(ङ) लिंगोद्धार-दीक्षा -- शैव शास्त्रों से भिन्न शास्त्रों, जिन्हें वे अधरतन्त्र मानते हैं, पर आश्रित व्यक्ति यदि शैव शास्त्रों का आश्रय लेना चाहे, तो उसके लिए लिंगोद्धार दीक्षा का विधान किया गया है।

(च) सप्रत्यया दीक्षा-- जो व्यक्ति मूर्ख होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से शैव शास्त्रों में विश्वास नहीं रखते, उनमें विश्वास उत्पन्न करने के लिए सप्रत्यया-दीक्षा का विधान किया गया है। दीक्षा के इन प्रकारों की विधियों का निरूपण आगे किया जाएगा।

उपर्युक्त दीक्षाओं के अधिकारियों की सूची से स्पष्ट है कि ज्ञानशक्ति से सर्वथा शून्य, आसन्न मृत्यु वाला, वृद्ध, जिसके प्राणों का उत्क्रमण हो रहा है, जो मूढ़ है, जो असन्निहित या अन्य संप्रदाय का अनुसर्ता है, इस प्रकार के सभी व्यक्ति दीक्षा के अधिकारी माने गये हैं। इस अधिकार का अभिप्राय यह है कि स्वयं की दीक्षा के लिए संकल्पना न होने पर भी दीक्षा देने वाला व्यक्ति यदि अपने अनुग्रह (शक्तिपात) से अथवा दूसरों के अनुरोध से यह अनुभव करता है कि अमुक विपन्न व्यक्ति का उद्धार अपेक्षित है, तो वह उपर्युक्त दीक्षाओं के माध्यम से उस व्यक्ति का उद्धार कर सकता है। दीक्षा के बिना व्यक्ति का उद्धार संभव नहीं है। दीक्षा तथा शक्तिपात के माध्यम से ज्ञानी प्रत्येक जीव के उद्धार में प्रवृत्त होता है।

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।"

का महाभाव अथवा बोधिसत्त्व के स्वरूप की परिकल्पना और गुरु द्वारा विपन्न व्यक्ति को दीक्षा देकर उसके कल्याण में स्वतः प्रवृत्ति अनुग्रहशील चिन्ताधारा का सहज परिणाम है।

षडर्धशास्त्र एवं श्रीसारशास्त्र में सत्तर शोधक-मन्त्र कहे गए हैं। इसके आधार पर जननादिवर्जित दीक्षा के सत्तर भेद कहे गए हैं। इन भेदों को पुनः तीससंख्यक शोध्यवर्ग से गुणित करने पर दीक्षा के इक्कीस सौ भेद होते हैं। इसी प्रकार जननादिसमन्वित दीक्षा के भी इक्कीस सौ भेद होते हैं। इन दोनों में शोधक-सम्बन्धी सत्तर भेद मिला देने पर बयालीस सौ सत्तर भेद और द्रव्य एवं विज्ञान के भेद से आठ हजार पांच सौ चालीस भेद होते हैं (तन्त्रा., १६.१६२-१६८)। मालिनीतन्त्र के अनुसार इन्हें पुनः सत्तर से गुणा करके दीक्षा के पांच लाख सत्तान्वे हजार आठ सौ भेद बताए गए हैं (तन्त्रा., १५. १८५-६)।

दीक्षा के अनेक भेदों की गणना सम्भव न होने से अभिनवगुप्त का कथन है--

यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत्प्राधान्योपयोगतः।।
अन्यान्तर्भावनातश्च दीक्षानन्तविभेदभाक्।--- तन्त्रा., ११. ३८स-३९ब.

अन्य तन्त्रग्रन्थों में दीक्षा-प्रकार--

तन्त्रालोक के अतिरिक्त अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों में निरूपित दीक्षा के भेद इस प्रकार हैं--

अभिनवगुप्त के द्वारा अनेकशः श्रीपूर्वशास्त्र के नाम से उद्धृत मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में क्रिया एवं ज्ञान के भेद से द्विविध (क्रियादीक्षा एवं ज्ञानदीक्षा) का निरूपण किया गया है (४. ६सद-७)। स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थपटल में समय दीक्षा, पुत्रक दीक्षा एवं साधक को दी जाने वाली शिवधर्मिणी एवं लोकधर्मिणी दीक्षा निरूपित हैं (तन्त्रालोक में निरूपित दीक्षाएँ इन पर आधारित हैं)। नेत्रतन्त्र (यह स्वच्छन्दतन्त्र की अपेक्षा उत्तरकालीन है) के चतुर्थ अधिकार में दीक्षा के दो प्रकारों तत्त्वदीक्षा एवं कलादीक्षा का संक्षिप्त उल्लेख है। इनका विस्तार अन्य ग्रन्थ (क्षेमराज के अनुसार स्वच्छन्दतन्त्र) से ग्रहण करने का निर्देश किया गया है (एवमुद्देशतो दीक्षा कथिता विस्तरोऽन्यतः (४. १० सद.)। विवेककार द्वारा उद्धृत एक उद्धरण के आधार पर दीक्षा के तन्त्र-भेद से पाँच प्रकार होते हैं-- सिद्धान्त मत में होत्री दीक्षा, तन्त्र में योजनिका, त्रिक में समावेशवती, कुल में स्तोभात्मिका एवं कौल-सम्प्रदाय में सामरस्यमयीदीक्षा मानी गई है (विवेक, १३. ३०२)। समस्त तन्त्रों का सार माने जाने वाले शारदातिलक तन्त्र (४. ३) में चतुर्विधा दीक्षा (क्रियावती, वर्णमयी, कलात्मा एवं वेधमयी) का निर्देश है। क्रियावती दीक्षा स्थूल व समय दीक्षा के समकक्ष मानी जा सकती है। इनसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हुए अन्तिम वेध दीक्षा को तन्त्रालोक में वर्णित सद्योनिर्वाणदा दीक्षा के समकक्ष माना जा सकता है।

शिवमहापुराण में त्रिधा दीक्षा-- शाम्भवी, शाक्ती एवं मान्त्री का निरूपण है। गुरु के आलोकन, स्पर्श एवं सम्भाषण मात्र से प्राणियों में पाश-क्षयकारिणी चेतना को उत्पन्न करने वाली शाम्भवी दीक्षा है। यह वेधदीक्षा के समकक्ष है। गुरु जब योगमार्ग के द्वारा ज्ञान-चक्षु अथवा मन से शिष्य के शरीर में प्रवेश करके उसका संस्कार करते हैं वह शाक्ती दीक्षा है। मान्त्रीदीक्षा क्रियावती दीक्षा है। इसके अन्तर्गत कुण्ड, मण्डप आदि का निर्माण करके शनैः-शनैः शिष्य का संस्कार किया जाता है। ये शाक्ती एवं मान्त्री दीक्षाएँ समय-दीक्षा के तुल्य हैं।

कुल शाखा के प्रमुख ग्रन्थ कुलार्णवतन्त्र के चतुर्दश उल्लास (३६-६३) में दीक्षा के सात प्रकार बताए हैं---

१. क्रियात्मक-दीक्षा कुण्डमण्डपपूर्वक एवं कलशादि से सम्बन्धित क्रियाओं से युक्त होती है इसके पुनः आठ प्रकार होते हैं।

२. वर्णदीक्षा के पुनः तीन प्रकार हैं-- बयालीस अक्षरात्मक, पचास वर्णात्मक एवं बासठ लिप्यात्मक।

३. कलादीक्षा के अन्तर्गत शिष्यदेह में कलाओं का न्यास किया जाता है, इसके तीन प्रकार होते हैं।

४. स्पर्श दीक्षा के अन्तर्गत गुरु मूलांगमालिनी का जप करते हुए, हाथ में शिव का ध्यान करके शिष्य देह का स्पर्श करता है। यह समयदीक्षा के अन्तर्गत गुरु द्वारा की जाने वाली शिवहस्त विधि के तुल्य है।

५. वाग्दीक्षा में गुरु चित्त को परतत्त्वों से उपबृंहत सत्त्व में समाहित करके विशिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करता है।

६. दृग्दीक्षा में गुरु नेत्र मूंद कर परमतत्त्व का ध्यान करके शिष्य को प्रसन्नतापूर्वक देखता है।

७. शाम्भवी दीक्षा दो प्रकार की होती है-- तीव्रा एवं तीव्रतरा।

सोमशम्भुविरचित अपेक्षाकृत अर्वाचीन एवं प्रक्रियापरक ग्रन्थ कर्मकाण्डक्रमावली में दीक्षा के चार प्रकार-साधिकार, निरधिकार, निर्बीज एवं सबीज बताए गए हैं। निरधिकार-दीक्षा विज्ञानाकल (मलमात्र से युक्त शिष्य) एवं प्रलयाकल (मल एवं कर्म से युक्त) शिष्यों को तीव्र शक्तिपात के कारण, आचार्य की अपेक्षा किए बिना ही, स्वयं शिव के द्वारा दी जाती है (६१०-१२)। सकल (कलासे भूमिपर्यन्त तत्वों से युक्त) शिष्यों के मन्दतीव्रादि शक्तिपात का भेद होने पर गुरुस्वरूप का आश्रय लेकर शम्भु द्वारा दी जाने वाली दीक्षा साधिकार होती है (६१२-१३)।

समयाचार से युक्त दीक्षा सबीज और उससे रहित निर्बीज होती है। साधक और आचार्य की नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों में अधिकारिता के कारण सबीज दीक्षा साधिकार होती है। समयी व पुत्रक की निर्बीज दीक्षा निरधिकार होती है (६१३-१७)।

इन दीक्षाओं के ही पुनः कुण्डमण्डपपूर्वक होने से क्रियावती एवं मानसिक व्यापारमात्र होने से ज्ञानवती भेद होते हैं।

दीक्षा का अधिकारी--

तान्त्रिक दीक्षा के अधिकारी के लिए वर्ण, लिंग आदि भेदों का विधान नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, नपुंसक जो भी दीक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, दीक्षणीय हैं (तन्त्रा.,२३. २०स-२१)। अज्ञानी भी शिव के शक्तिपात से युक्त यियासु बनकर भुक्ति और मुक्ति की सिद्धि के लिए गुरु के समीप ले जाया जाता है (तन्त्रा.,१३. २०१-२०२)। ज्ञानप्राप्ति के विविध उपाय शास्त्रों (किरणावली आदि) में बताए गये हैं--गुरुतः, शास्त्रतः एवं स्वतः (तन्त्रा.,१३.१६२स-६३ब.)।

आगमों के चार पाद होते हैं-- ज्ञान, योग, क्रिया व चर्या। इसी के आधार पर अधिकारी-भेद भी हैं। कुछ अधिकारी ज्ञानयोग्य हैं, तो कुछ योग-योग्य एवं कुछ चर्या के योग्य। कर्म, योग व ज्ञान में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का क्रम है (तन्त्रा., १५. १६)।

दीक्षाः महत्त्व

शास्त्रविहित क्रियात्मक अनुष्ठान करने से पूर्व उसके कर्ता का दीक्षित होना अनिवार्य है। दीक्षा के बिना जप-पूजादि सम्पूर्ण क्रियाएँ पत्थर में बोए गए बीज के समान निष्फल होती हैं (क. रु. या., उ.त., ३.१३स-१४ब.; ख. ता.भ. सु., पृ० २७)। क्योंकि गुरु से विधिपूर्वक दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् प्राप्त किया हुआ मन्त्र ही इच्छित फल प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है। दीक्षा के बिना कहीं से भी पढ़ा हुआ अथवा छिप कर सुना हुआ मन्त्र जप किए जाने पर भी निष्फल होता है (ता.भ.सु.पृ० २८)। गुरु भी यदि स्नेह से अथवा लोभ के वशीभूत होकर शिष्य को बिना दीक्षा के मन्त्र प्रदान कर देता है तो उस गुरु एवं शिष्य को मन्त्र-देवता के शाप का भागी होना पड़ता है (प्रयोगसार द्वारा ता.भ.सु., पृ० २८)। दीक्षा-विहीन व्यक्ति की सद्गति नहीं होती, मृत्यु के पश्चात् रौरव नरक में जाता है (रु. या., उ. त., ३.१६.)। उसकी शुद्धि नहीं होने के कारण वह साधना का

अधिकारी नहीं होता फिर भी यदि वह मोहवश साधना करता है तो उसके द्वारा की गई साधना व्यर्थ होती है, उसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती (क. रु.या., उ. त., ३.१४ ख. महाहारकतन्त्र द्वारा ता.भ.सु., पृ० २७.)। उसके द्वारा किया हुआ कर्म अग्नि में रुई के समान भस्म हो जाता है (ता.भ.सु.,पृ० २७.)।

दीक्षा के बिना शांकरयोग में अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता (न चाधिकारिता दीक्षां विना योगे ऽस्ति शांकरे) और उसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। इसलिए समग्र प्रयत्नपूर्वक गुरु से दीक्षा प्राप्त करनी चाहिए।

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड का निरूपण प्रमुख रूप से कुल एवं कहीं-कहीं क्रम शाखा के अनुसार है। कौलिक कर्मकाण्ड तलवार की धार पर चलने के समान दुरूह है। इसे करने से पहले साधक में आवश्यक योग्यताओं का होना आवश्यक है। इसलिए दीक्षा की आवश्यकता है। साथ ही दीक्षा से पहले भी शिष्य की योग्यता की परीक्षा का विधान किया गया है (क. तन्त्रा., २३.५०-५१ अब: २३.४२स-४३ब. ख कु.त., १४. २६-२४)। परीक्षा के आधार पर ही यह निश्चय किया जाता है कि शिष्य कर्मप्रधान दीक्षा के योग्य है अथवा ज्ञान-प्रधान दीक्षा के। इस आधार पर अथवा गुरु स्वयं शिष्य से पूछ कर अथवा उसकी वासना के अनुसार शिष्य को तदनुकूल दीक्षा देता है (एवं पृष्ट्वा परिज्ञाय विचार्य च गुरुः स्वयम्। उचितां संविधित्सुस्तां वासनां तादृशीं श्रयेत्।। १५.३४स-३५ब.)। कहीं-कहीं दीक्षा लेते समय शिष्य द्वारा गुरु की परीक्षा का भी विधान किया गया है (कु. त., १४. २५-२६.)।

'शिवस्वरूपतापत्ति'-रूपी इस यज्ञ में अज्ञानी, बालक, मूर्ख एवं स्त्रियाँ दीक्षा के माध्यम से पाश-छेदन होने पर मुक्त होते हैं। इसलिए पाशों को नष्ट करके, परबोध अथवा प्रातिभ ज्ञान का उदय कराने के लिए दीक्षा की उपयोगिता है। वस्तुतः मुक्ति तो स्वयं के ज्ञान से ही होती है (तन्त्रा., १३.१६४-५)।

प्रातिभ ज्ञान

दीक्षा के अन्तर्गत प्रातिभज्ञान का अपना महत्त्व है। प्रातिभ ज्ञानवान् को निःसन्देह तिल, आज्यादि से रहित निर्वाणगामिनी दीक्षा प्राप्त हो जाती है। मण्डलदर्शनादि के बिना भी वह समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। यागविधियों को नहीं जानते हुए भी वह यज्ञकर्ता हो जाता है। महेश्वर ने श्रीत्रिंशिकाशास्त्र में दीक्षा-संस्कार के तत्त्वभूत सांसिद्धिक-प्रातिभ-ज्ञान का उपदेश दिया है (तन्त्रा., १३.१५२-५४)। दीक्षादि अन्य कर्मकाण्ड इस परमज्ञान प्राप्ति के ही उपाय हैं इसलिए प्रातिभज्ञान स्वभावतः केवलीभाव को प्रदान करने वाला है (तन्त्रा., १३.१६६)। अन्यत्र शिष्य के स्वयं के ज्ञान के बिना भी दीक्षा युक्तिपूर्वक एवं शास्त्रों में मोक्षदायिनी कही गई है (तन्त्रा., १६. २६६सद-३००अब.)। दीक्षा का प्रयोजन पशु आत्मा का संस्कार करना है, इसके पश्चात् स्वयं अपनी सामर्थ्य से भोग अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १६. २६६सद-२६७अब)। इस प्रकार दीक्षा-क्रिया के द्वारा गुरु, शिष्य के ज्ञानात्मक स्वरूप पर पड़े हुए अज्ञानात्मक आवरण को दूर कर देता है जिससे उसे स्वरूप-ज्ञानरूप मोक्ष एवं इच्छानुसार भोगों की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

भोग एवं मोक्ष की उपायभूता दीक्षा की प्राप्ति गुरु एवं शक्तिपात के बिना असम्भव है। परम शिव का शक्तिपात होने पर शिष्य स्वतः सद्गुरु के पास पहुंच जाता है (तन्त्रा., ४. ३५स: एवं १३. २०२सद.), जो उसे दीक्षापूर्वक ज्ञान प्रदान करके शिवतादात्म्य का अनुभव करवा देता है। श्रीत्रीशिकाशास्त्र के अनुसार दीक्षा

ज्ञानरूपिणी होती है, उसे प्रदान करने वाले गुरु में भी ज्ञान की प्रधानता होना अनिवार्य है। इसीलिए गुरु के लक्षण में सर्वत्र ज्ञान का ही प्रामुख्य दिखाई देता है।

गुरु: स्वरूप एवं महत्त्व--

श्रीकचभार्गवशास्त्र में तो स्पष्टतः कहा गया है कि अन्य लक्षणों के नहीं होने पर भी ज्ञानवान् होना गुरुस्वरूपता के लिए पर्याप्त है--"सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरिष्यते।" -तन्त्रा., २३. ६अब. गुरु को पद, वाक्य, प्रमाणादिसहित समस्त शैव शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए, उसे शिवभक्ति में परायण एवं शिष्य के प्रति करुणा से परिपूर्ण होना चाहिए (तन्त्रा., २३. ७)।

श्रीकण्ठनाथ के अनुसार जो समस्त तत्त्वों को यथार्थरूप में जानता है, मन्त्रवीर्य का प्रकाशन करने वाला वह गुरु साक्षात् श्रीकण्ठ के समान है (तन्त्रा., १३.२१६स-एवं मा.वि.त., २.१०)। गुरु का प्रमुख कार्य शिष्य को मन्त्र प्रदान करना है। मन्त्र अहंपरामर्शात्मिक (आदिमान्त्ययुक्त) होते हैं, अतः गुरु का लक्षण आदिमान्त्यत्व का सम्पूर्णतया ज्ञान भी बताया गया है--"गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत्।" (तन्त्रा., ३. २२४.)। वह, श्लोक, गाथादि समस्त वर्णजात जो आदिमान्तत्व युक्त हैं, को मन्त्ररूप में ही देखता है। ऐसा गुरु ज्ञानी, भैरवरूप देवतात्मक होता है एवं परम शिव की भाँति पूजनीय होता है (तन्त्रा., ३. २२४स-२५)। मन्त्रवीर्य के ज्ञान में भी जो गुरु लिखित मन्त्र का वीर्य भी स्वतः ग्रहण कर लेता है, जिसका स्वात्मविज्ञान सस्फुर होता है वह स्वभ्यस्त ज्ञानवान् सांसिद्धिक गुरु श्रेष्ठ माना गया है?[१]

"तस्मात् स्वभ्यस्तविज्ञानतैवैकं गुरुलक्षणम्।" -तन्त्रा., १३. ३३३अब

मन्त्र प्रदान करने के लिए गुरु को मन्त्रादि का भलीभाँति ज्ञान होना चाहिए एवं उसे मन्त्रतन्मय होना चाहिये--

लक्षणं कथितं ह्येष मन्त्रतन्त्रविशारदः। तेन मन्त्रार्थसंबोधे मन्त्रवार्तिकमादरात्।।
ऊहापोहप्रयोगं या सर्वथा गुरुराचरेत् मन्त्रार्थविदभावे तु सर्वथामन्त्रतन्मयम्।। -तन्त्रा., १६. २६८-९.

जिस प्रकार शिष्यों में योग्यता-भेद के आधार पर वे ज्ञान, चर्या, दीक्षा अथवा योग-प्राप्ति के योग्य होते हैं, उसी प्रकार कर्म, योग, एवं ज्ञान में विशारद गुरुओं में क्रमशः उत्कृष्टता पायी जाती है (तन्त्रा., १५. १८-९)। ज्ञानी गुरु उत्कृष्टतर होता है एवं ज्ञान के भी पुनः श्रौत, चिन्तामय एवं भावनामय ये तीन प्रकार हैं, जिनमें अन्तिम श्रेष्ठ माना गया है। भावनामय ज्ञान से युक्त गुरु ही तत्त्वों से उद्धार करके सकल एवं अकल पद में शिष्य का योजन करने की सामर्थ्य रखता है (तन्त्रा., १३. ३२७-८)। इसलिए भोग, मोक्ष एवं विज्ञान की इच्छा करने वाले शिष्य को स्वभ्यस्तज्ञानी, योगसिद्ध गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए। यदि अनेक गुरुओं में से किसी एक को चुनना हो, तो जिससे श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त हो सके, उसी से दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। शिष्य को अपने कल्याण के लिए

---

१. क. ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते।। ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धका इति। (तन्त्रा., २६. २३स-२४ब.)
ख. अनेन स्वात्मविज्ञानं सस्फुरत्वप्रसाधकम्।। उक्तं मुख्यतयाचार्यो भवेद्यदि न सस्फुरः।। (वही, ४. ६२स-६३ब.)
ग. स्वभ्यस्तज्ञानवानेवगुरुर्मोक्षप्रद इति सर्वत्रोक्तम् ....(विवेक, १३. ३३१.)

स्वभ्यस्तज्ञानी मोक्ष-ज्ञान में परायण गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए। अन्य गुरु का आवश्यकता पड़ने पर त्याग भी अनुचित नहीं है। इस विषय में भ्रमर का दृष्टान्त देते हुए कहा गया है----

"आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्।। -तन्त्रा., १३. ३३५.

श्रौत साहित्य में भी एक गुरु को छोड़ कर अन्य विख्यात एवं योग्य गुरु का आश्रय ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१. ४. ३) के अनुसार जिस प्रकार पानी ढलान की ओर बहता है उसी प्रकार शिष्य योग्य गुरु की ओर चले जाते हैं। ऐसे विद्यार्थियों को महाभाष्य (२.१.४१) में "तीर्थकाक" कहा गया है।

शिष्य के संविद्विकास के लिए गुरु का पूर्ण विज्ञानशाली होना आवश्यक है। यदि ऐसा गुरु प्राप्त न हो सके, तो शिष्य को चाहिए कि वह आवश्यकतानुसार एक से अधिक गुरुओं का आश्रय ले। अनेक गुरुओं एवं आगमशास्त्रों से प्राप्त ज्ञान को स्वयं के प्रातिभज्ञान की धाराओं से मिलाकर ज्ञानरूपी समुद्र को परिपूरित करना चाहिये। अभिनवगुप्त के गुरु कल्लटनाथ ने स्वयं अनेक गुरुओं का आश्रय लिया था (तन्त्रा., १३. ३४१-३४५ब)। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार शिवशास्त्रों के विधानों को जानने वाला, ज्ञान-ज्ञेयादि के विवेक से सम्पन्न, देवकर्म में निरत, शान्त, सत्यवादी, दृढव्रत, सत्त्ववान्, वीर्यवान्, दया-दाक्षिण्यादि से परिपूर्ण, त्याग एवं दम्भ से मुक्त शैवशास्त्रों में श्रद्धायुक्त गुरु का आश्रय लेने से सिद्धि एवं मुक्ति की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता।[१] शारदातिलक (२. १४२-४४) में भी गुरु के शास्त्रज्ञान, परोपकार, जपपूजन, शमादि गुणों पर बल दिया गया है। कुलार्णवतन्त्र (१३. ३८-५०) में भी गुरु के इसी प्रकार के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त गुरु के निषेधात्मक लक्षण भी उपलब्ध हैं। तन्त्रालोक (२३. ८-१०) में श्रीदेव्यायामल के अनुसार न बनाने योग्य गुरुओं का स्वरूप बताया गया है। ईश्वर से अनधिष्ठित, उसमें भक्तिरहित, पशु आत्मा के द्वारा स्वयं को स्वयंभू समझने वाला भस्मांकुर, व्रती का पुत्र, दुराचारिणी स्त्री का पुत्र, कुण्ड, गोल (मनुस्मृति, ३.१७४) आदि दुष्ट व्यक्ति माने गए हैं। इसके साथ ही अन्य शास्त्रों के चिह्नों को धारण करने वाला, शैव शास्त्र में दीक्षित व्यक्ति जिसे पुनर्भू कहा जाता है, भी गुरु बनाने योग्य नहीं है। स्वच्छन्दतन्त्र (१. १६-१८ब) के अनुसार क्रोधी, चंचल, क्षुद्र, दयादाक्षिण्यादि से रहित शास्त्रज्ञान से रहित, तार्किक, दम्भी, सत्य, शौच आदि से वर्जित, अन्य शास्त्रों में निरत व्यक्ति गुरु बनाए जाने पर मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है। इस स्थल पर गुणों के साथ ही कुछ शारीरिक लक्षण भी बताए गए हैं जिनसे रहित व्यक्ति को ही गुरु बनाया जाना चाहिए, यथा बड़े-बड़े दांतों वाला, काना, अत्यधिक लम्बा या छोटा, अधिक दुबला या अधिक मोटा व्यक्ति गुरु बनाने योग्य नहीं है। अभिनवगुप्त (तन्त्रा., २३. १३स-१७ब) के अनुसार गुरु के विषय में इस तरह के नियम माननीय नहीं हैं। गुरु का काणत्वादि के कारण निषेध उन शास्त्रों में किया गया है जहाँ उससे क्रिया की अपेक्षा की जाती है। विशिष्ट देश यथा कांची,

---

१. आर्यदेशसमुत्पन्नं सर्वावयवभूषितम्। शिवशास्त्रवधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारद म्।।
देवकर्मरतं शान्तं सत्यवादिदृढव्रतम्। सत्त्ववद्वीर्यसंपन्नं दयादाक्षिण्यसंयुतम्।।
त्यागिनं दम्भनिर्मुक्तं शिवशास्त्रेषु भावितम्। ईदृशं तु गुरुं प्राप्य सिद्धिमुक्ती न दूरतः। स्व. त., १, १३-१५.

कोसल आदि में उत्पन्न व्यक्तियों को गुरु बनाने का निषेध इसलिए पाया जाता है, क्योंकि वहाँ के व्यक्ति प्रायः क्रोधयुक्त होते हैं। किन्तु प्रस्तुत शास्त्र में गुरु के लिए सम्यग्ज्ञानवान् होना ही आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान से ही अपने कार्य दीक्षा एवं मुक्ति प्रदान करने में समर्थ होता है एवं उसमें देश, विकारादि से उत्पन्न दोषों का भी स्थान नहीं रहता।

"अतो देशकुलाचारदेहलक्षणकल्पनाम्।।
अनादृत्यैव संपूर्णज्ञानं कुर्याद् गुरुर्गुरूम्। -तन्त्रा., २३. १६स-१७ब

गुरु की महिमा का वर्णन शब्दों में सम्भव नहीं है। गुरु माता-पिता से बढ़कर है, वह साक्षात् महेश्वर है। यहाँ तक कि महेश्वर क्रोधित हो जाएँ तो गुरु के माध्यम से किसी उपाय के द्वारा उन्हें मनाया जा सकता है, किन्तु गुरु के क्रोधित होने पर उन्हें किसी भी तरह नहीं मनाया जा सकता[१]। महेश्वर स्वयं अपनी अनुग्रह शक्ति को गुरु के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। गुरु ही सृष्टि एवं संहारपूर्वक विश्व को अपने में समाहित किए हुए है--

"तदत्र नीतौ संवित्तिरेवासौ गुरुरुच्यते।
गिरत्येव यतो विश्वं सृष्टिसंहृतियोगतः"।। -मा.वि.वा., २. २६२.

गुरु ही दीक्षादि के माध्यम से शिष्य को आत्मस्वरूपज्ञान अथवा शिवरूपता की प्राप्ति कराने में समर्थ है, इस दृष्टि से वह स्वयं शिव से भी बढ़कर है। इसी भाव को हिन्दी साहित्य के कवि कबीर ने बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है--

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो मिलाय।।"

प्रस्तुत दर्शन के अनुसार तो महेश्वर स्वयं गुरुरूप में मनुष्य-शरीर धारण करके शिष्यों का उद्धार करता है (विवेक, १३. २५३)। शिव और गुरु में कोई अन्तर नहीं है (वही, १.१०६)। मनुष्यरूप गुरु शिवात्मता को उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार तपाने, घिसने, सेंकने आदि से लोहे का गोला अग्निरूपता को (तन्त्रा., १६. ६३स-६४ब)। कुलार्णवतन्त्र (१३. ६४-५) में कहा गया है कि गुरु, देवता एवं मन्त्र उसी प्रकार एक अर्थ के वाचक हैं जिस प्रकार घट, कुम्भ, कलश आदि शब्द एक वस्तु के वाचक हैं। इनमें से किसी की भी पूजा करने पर समान फल की प्राप्ति होती है। देवता के वाचक अथवा शब्दरूपधारी देवतास्वरूप मन्त्र भी तब ही सार्थक होते हैं जब वे योग्य गुरु के द्वारा विधिपूर्वक प्रदान किए जाएँ। पुस्तकों में लिखितरूप में स्थित मन्त्र में कार्यसिद्धि की शक्ति नहीं होती एवं उन्हें पढ़कर ग्रहण करने वाले कष्ट प्राप्त करते हैं (विवेक, ४.६६)। केवल मन्त्र ही नहीं वेदज्ञान भी योग्य गुरु से ही प्राप्त किया जाना चाहिए। पराशरमाधवीय में कहा गया है कि गुरूपदेश के बिना केवल पुस्तक के द्वारा विद्या-प्राप्त व्यक्ति सभा के मध्य में स्त्री के जारगर्भ के समान शोभित नहीं होता है (प.मा.भा. १. १५४)।

---

१. गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः। शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।। -कु. त. १२.४६.

स्वभ्यस्तज्ञानी मोक्ष-ज्ञान में परायण गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए। अन्य गुरु का आवश्यकता पड़ने पर त्याग भी अनुचित नहीं है। इस विषय में भ्रमर का दृष्टान्त देते हुए कहा गया है----

"आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्।। -तन्त्रा., १३. ३३५.

श्रौत साहित्य में भी एक गुरु को छोड़ कर अन्य विख्यात एवं योग्य गुरु का आश्रय ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१. ४. ३) के अनुसार जिस प्रकार पानी ढलान की ओर बहता है उसी प्रकार शिष्य योग्य गुरु की ओर चले जाते हैं। ऐसे विद्यार्थियों को महाभाष्य (२.१.४१) में "तीर्थकाक" कहा गया है।

शिष्य के संविद्विकास के लिए गुरु का पूर्ण विज्ञानशाली होना आवश्यक है। यदि ऐसा गुरु प्राप्त न हो सके, तो शिष्य को चाहिए कि वह आवश्यकतानुसार एक से अधिक गुरुओं का आश्रय ले। अनेक गुरुओं एवं आगमशास्त्रों से प्राप्त ज्ञान को स्वयं के प्रातिभज्ञान की धाराओं से मिलाकर ज्ञानरूपी समुद्र को परिपूरित करना चाहिये। अभिनवगुप्त के गुरु कल्लटनाथ ने स्वयं अनेक गुरुओं का आश्रय लिया था (तन्त्रा., १३. ३४१-३४५ब)। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार शिवशास्त्रों के विधानों को जानने वाला, ज्ञान-ज्ञेयादि के विवेक से सम्पन्न, देवकर्म में निरत, शान्त, सत्यवादी, दृढव्रत, सत्त्ववान्, वीर्यवान्, दया-दाक्षिण्यादि से परिपूर्ण, त्याग एवं दम्भ से मुक्त शैवशास्त्रों में श्रद्धायुक्त गुरु का आश्रय लेने से सिद्धि एवं मुक्ति की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता।[१] शारदातिलक (२. १४२-४४) में भी गुरु के शास्त्रज्ञान, परोपकार, जपपूजन, शमादि गुणों पर बल दिया गया है। कुलार्णवतन्त्र (१३. ३८-५०) में भी गुरु के इसी प्रकार के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त गुरु के निषेधात्मक लक्षण भी उपलब्ध हैं। तन्त्रालोक (२३. ८-१०) में श्रीदेव्यायामल के अनुसार न बनाने योग्य गुरुओं का स्वरूप बताया गया है। ईश्वर से अनधिष्ठित, उसमें भक्तिरहित, पशु आत्मा के द्वारा स्वयं को स्वयंभू समझने वाला भस्मांकुर, व्रती का पुत्र, दुराचारिणी स्त्री का पुत्र, कुण्ड, गोल (मनुस्मृति, ३.१७४) आदि दुष्ट व्यक्ति माने गए हैं। इसके साथ ही अन्य शास्त्रों के चिह्नों को धारण करने वाला, शैव शास्त्र में दीक्षित व्यक्ति जिसे पुनर्भू कहा जाता है, भी गुरु बनाने योग्य नहीं है। स्वच्छन्दतन्त्र (१. १६-१८ब) के अनुसार क्रोधी, चंचल, क्षुद्र, दयादाक्षिण्यादि से रहित शास्त्रज्ञान से रहित, तार्किक, दम्भी, सत्य, शौच आदि से वर्जित, अन्य शास्त्रों में निरत व्यक्ति गुरु बनाए जाने पर मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है। इस स्थल पर गुणों के साथ ही कुछ शारीरिक लक्षण भी बताए गए हैं जिनसे रहित व्यक्ति को ही गुरु बनाया जाना चाहिए, यथा बड़े-बड़े दांतों वाला, काना, अत्यधिक लम्बा या छोटा, अधिक दुबला या अधिक मोटा व्यक्ति गुरु बनाने योग्य नहीं है। अभिनवगुप्त (तन्त्रा., २३. १३स-१७ब) के अनुसार गुरु के विषय में इस तरह के नियम माननीय नहीं हैं। गुरु का काणत्वादि के कारण निषेध उन शास्त्रों में किया गया है जहाँ उससे क्रिया की अपेक्षा की जाती है। विशिष्ट देश यथा कांची,

---

१. आर्यदेशसमुत्पन्नं सर्वावयवभूषितम्। शिवशास्त्रवधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम्।।
देवकर्मरतं शान्तं सत्यवादिदृढव्रतम्। सत्त्ववद्वीर्यसंपन्नं दयादाक्षिण्यसंयुतम्।।
त्यागिनं दम्भनिर्मुक्तं शिवशास्त्रेषु भावितम्। ईदृशं तु गुरुं प्राप्य सिद्धिमुक्ती न दूरतः। स्व. त., १, १३-१५.

कोसल आदि में उत्पन्न व्यक्तियों को गुरु बनाने का निषेध इसलिए पाया जाता है, क्योंकि वहाँ के व्यक्ति प्रायः क्रोधयुक्त होते हैं। किन्तु प्रस्तुत शास्त्र में गुरु के लिए सम्यग्ज्ञानवान् होना ही आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान से ही अपने कार्य दीक्षा एवं मुक्ति प्रदान करने में समर्थ होता है एवं उसमें देश, विकारादि से उत्पन्न दोषों का भी स्थान नहीं रहता।

"अतो देशकुलाचारदेहलक्षणकल्पनाम्।।
अनादृत्यैव संपूर्णज्ञानं कुर्याद् गुरुर्गुरुम्। -तन्त्रा., २३. १६स-१७ब

गुरु की महिमा का वर्णन शब्दों में सम्भव नहीं है। गुरु माता-पिता से बढ़कर है, वह साक्षात् महेश्वर है। यहाँ तक कि महेश्वर क्रोधित हो जाएँ तो गुरु के माध्यम से किसी उपाय के द्वारा उन्हें मनाया जा सकता है, किन्तु गुरु के क्रोधित होने पर उन्हें किसी भी तरह नहीं मनाया जा सकता[1]। महेश्वर स्वयं अपनी अनुग्रह शक्ति को गुरु के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। गुरु ही सृष्टि एवं संहारपूर्वक विश्व को अपने में समाहित किए हुए है--

"तदत्र नीतौ संवित्तिरेवासौ गुरुरुच्यते।
गिरत्येव यतो विश्वं सृष्टिसंहृतियोगतः"।। -मा. वि. वा., २. २६२.

गुरु ही दीक्षादि के माध्यम से शिष्य को आत्मस्वरूपज्ञान अथवा शिवरूपता की प्राप्ति कराने में समर्थ है, इस दृष्टि से वह स्वयं शिव से भी बढ़कर है। इसी भाव को हिन्दी साहित्य के कवि कबीर ने बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है--

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो मिलाय।।"

प्रस्तुत दर्शन के अनुसार तो महेश्वर स्वयं गुरुरूप में मनुष्य-शरीर धारण करके शिष्यों का उद्धार करता है (विवेक, १३. २५३)। शिव और गुरु में कोई अन्तर नहीं है (वही, १. १०६)। मनुष्यरूप गुरु शिवात्मता को उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार तपाने, घिसने, सेंकने आदि से लोहे का गोला अग्निरूपता को (तन्त्रा., १६. ६३स-६४ब)। कुलार्णवतन्त्र (१३. ६४-५) में कहा गया है कि गुरु, देवता एवं मन्त्र उसी प्रकार एक अर्थ के वाचक हैं जिस प्रकार घट, कुम्भ, कलश आदि शब्द एक वस्तु के वाचक हैं। इनमें से किसी की भी पूजा करने पर समान फल की प्राप्ति होती है। देवता के वाचक अथवा शब्दरूपधारी देवतास्वरूप मन्त्र भी तब ही सार्थक होते हैं जब वे योग्य गुरु के द्वारा विधिपूर्वक प्रदान किए जाएँ। पुस्तकों में लिखितरूप में स्थित मन्त्र में कार्यसिद्धि की शक्ति नहीं होती एवं उन्हें पढ़कर ग्रहण करने वाले कष्ट प्राप्त करते हैं (विवेक, ४. ६६)। केवल मन्त्र ही नहीं वेदज्ञान भी योग्य गुरु से ही प्राप्त किया जाना चाहिए। पराशरमाधवीय में कहा गया है कि गुरूपदेश के बिना केवल पुस्तक के द्वारा विद्या-प्राप्त व्यक्ति सभा के मध्य में स्त्री के जारगर्भ के समान शोभित नहीं होता है (प. मा. भा. १. १५४)।

---

१. गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः। शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।। -कु. त. १२.४९.

गुरु के द्वारा शिष्य की भी भलीभाँति परीक्षा कर लेने पर ही उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। अभिनवगुप्त ने ऊर्मिशासन के आधार पर बताया है कि शिष्य को विपरीत कार्यों में नियुक्त करके उसकी परीक्षा लेनी चाहिए यथा ब्राह्मण को श्रुतिसमृति- विरुद्ध मद्यपानादि कार्यों में नियुक्त किए जाने पर उसके विश्वास की दृढता एवं चांचल्यादि से मुक्त चित्त का ज्ञान हो जाएगा (तन्त्रा., २३. ४२-४३ब)। स्वच्छन्दतन्त्र (१.१८स-२१) के अनुसार दयालु,धैर्यवान्, दम्भ एवं माया से रहित, देव, अग्नि, गुरु, शास्त्रादि में निष्ठा रखने वाला, दृढ संकल्प से युक्त, गुरु की सेवा में तत्पर, जितेन्द्रिय व्यक्ति ही अनुग्रह प्रदान कर शिष्य बनाने योग्य होता है। इसके विपरीत मायावान्, धूर्त, क्रूर, असत्यवक्ता, कलहप्रिय, कामी, लोभी, शिवभक्ति से रहित, गुरु-शास्त्रादि में दोष देखने वाला व्यक्ति शिष्यत्व के योग्य नहीं होता, यदि भूल से उसे दीक्षा दे भी दी जाय तो उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती (स्व. त. १. २०स-२१)। शिष्य की अयोग्यता का ज्ञान न होने के कारण भूल से दीक्षा दे देने वाला दैशिक दोष का भागी नहीं होता। अज्ञानवश यदि उसे ज्ञानदान दे भी दिया है तो उसकी अयोग्यता का ज्ञान होने पर उसका विज्ञानहरण कर लेना चाहिए।

विज्ञानहरण विधि-

शिष्य का जब उस शास्त्र एवं ज्ञान में अनन्य विश्वास नहीं दिखाई दे तो गुरु को चाहिए कि वह उस (शिष्य अथवा ज्ञान) का प्रकाशमान् चन्द्रमा अथवा सूर्यरूप में ध्यान करे। इसके पश्चात् अपने हृदयकमल में, बोध-गगन में उदित अपनी भानुरूपिणी विमोहिनी वामाशक्ति का ध्यान करे एवं साध्य की ओर गमन करने वाली इस शक्ति को वामाचार के क्रम से निकलने के क्रम से चिन्तन करते हुए उसके द्वारा उस ज्ञान-प्रकाश को ग्रस्त किया हुआ समझना चाहिए। इस प्रकार विज्ञानमन्त्रादि का अपहरण होने पर वे शिष्य का उपकार करने में समर्थ नहीं होते हैं (तन्त्रा. २३. ५०-५५ एवं मा. वि. त., १८.६६)। यह सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं निग्रह अथवा तिरोभावरूप पंचकृत्यकारी शिवरूप गुरु का अन्तिम तिरोभाव कृत्य है। इस प्रकार जिस पर गुरुकुपित हो वह संसारी शिष्य तिरोहित कहलाता है "गुरुर्हि कुपितो यस्य स तिरोहित उच्यते" (तन्त्रा., २३. ६३अब.)। इसके विपरीत अभिनवगुप्त के गुरु का मत है कि शिष्य के तिरोभूत होने पर भी गुरु को उस पर कुपित नहीं होना चाहिए और न ही उसे शाप देना चाहिए, क्योंकि गुरु को सदैव अनुग्रह करने वाला माना गया है। यदि ईश्वर की इच्छा से शिष्य पाशबद्ध है तो गुरु को उसे और बन्धनग्रस्त करने में सहायता नहीं करनी चाहिए अपितु शिवरूप गुरु को उसकी मुख्य अनुग्रहशक्ति की उपासना करते हुए सदैव अनुग्रह ही करना चाहिऐ (तन्त्रा. २३. ५६-६७)। उपर्युक्त विज्ञानाहरण का कार्य गुरु के स्वातन्त्र्य का सूचक है तथापि गुरु को पतित शिष्य पर भी अनुग्रह ही करना चाहिए, कोप नहीं, क्योंकि "न कार्यं पततां हस्तालम्बः सहृयो न पातनम्"।

शक्तिपात का स्वरूप--

पंचकृत्यकारी परमेश्वर गुरु-रूप में निग्रह के साथ-साथ ही अपनी अनुग्रह शक्ति को भी अभिव्यक्त करता है। परमेश्वर की अविच्छिन्न क्रियाशक्ति एक होने पर भी दृष्टिभेद से अलग-अलग नामों से जानी जाती है। परमतत्त्व के स्वरूप को आवृत्त करके जगत् की स्थिति एवं संरक्षण करने वाली वामा ("वामा संसारवमना

स्वरूपावरणात्मिका"), संहार करने वाली ज्येष्ठा (-विवेक, १३. २०७) एवं पाशहरण अथवा अनुग्रह करने वाली शक्ति रौद्री कहलाती है। इस प्रकार शक्तिपात परमेश्वर की रौद्री शक्ति का व्यापार है। जब वह अपने निरोधरूप व्यापार से निवृत्त होती है तब अणुप्रमाता की ज्ञानक्रियादि शक्तियाँ अपने स्पष्ट प्रकाश को प्राप्त करती हैं जिस प्रकार सूर्य-किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्तमणि प्रकाशित होती है (तन्त्रा., १३. ४०-४१ब)। इनके अतिरिक्त शिव के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली शक्ति शान्ता मानी गई है - "शान्ता त्वेषा स्वरूपदृक्" (तन्त्रा., १३. २०७द)। इस शान्ता शक्ति से सम्बद्ध होने पर अणुभाव को छोड़ कर शिवरूपता में स्थिति होती है (तन्त्रा., १३. २०६)।

रौद्री शक्ति के व्यापार की निवृत्ति में अणुप्रमाता की योग्यता-में मलपरिपाक के आधार पर तारतम्य होता है, इसी के आधार पर शक्तिपात के विभिन्न भेद होते हैं। किन्तु यदि रौद्री शक्ति अपनी उदासीनता के लिए मलपरिपाक की अपेक्षा रखती है तो परमेश्वर का स्वातन्त्र्य खण्डित होता है और यदि अकारण ही शक्तिपात होता है तो सदैव अथवा प्रलयकाल में सबकी मुक्ति का प्रसंग उपस्थित होता है। प्रश्न यह है कि अनुग्रह शक्ति की अभिव्यक्ति में ईश्वरेच्छा निरपेक्षरूप से प्रवृत्त होती है अथवा अन्य शास्त्रों में उपदिष्ट भक्ति, यम-नियमादि अन्य उपायों की अपेक्षा रखती है। यदि निरपेक्ष है तो व्यवस्था एवं तरतमभाव कैसे सम्भव है और यदि सापेक्ष है तो परमशिव का स्वातन्त्र्य खण्डित होता है। इन प्रश्नों का उत्तर अभिनवगुप्त के अनुसार यह है कि एक, स्वतन्त्र, चिद्रूप और प्रकाशात्मा, परमेश्वर स्वभाव से ही अपने स्वरूप को आच्छादित करके अनेक अणुओं के रूप में आभासित करता है एवं अपने स्वातन्त्र्य से ही अनेक आकार, विकार, कर्मादि विकल्पों की रचना करके स्वयं को बन्धनग्रस्त करता है। यही प्रभु स्वयं अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से ही अणुतामयरूप को छोड़ कर अपने परिशुद्ध रूप को इच्छानुसार प्रकट करता है (तन्त्रा., १३. १०३-४)। शक्तिपात में प्रतीत होने वाला तारतम्य भी उसके स्वातन्त्र्य का ही परिचायक है-- (तन्त्रा., १३. ११६स-१७ब.)।

शक्तिपात कर्मसापेक्ष हो भी नहीं सकता क्योंकि कर्मादि तो अणुप्रमाता को बन्धनग्रस्त करने का कारण बनते हैं। वे संवित् की अनवच्छिन्न क्रियाशक्ति को सीमित करते हैं। इसलिए कर्मादि शक्तिपात की प्राप्ति में उपाय नहीं बन सकते। अतः शक्तिपात निरपेक्षरूप से प्रवृत्त होता है (तन्त्रा., २३. २४६स-४७ब.)। शिव में निश्चल भक्ति ही शक्तिपात का प्राथमिक एवं प्रमुख चिह्न है (-मा.वि.त., १४.८) एवं लिंग-लिंगी में अभेदोपचार से कभी-कभी इसे ही शक्तिपात-स्वरूप मान लिया जाता है। फल की आकांक्षा के बिना कुल, जाति, आयु, कर्म, अनुष्ठान, सम्पत्ति आदि से निरपेक्ष दृष्टि से की जाने वाली भक्ति ही शक्तिपात की सूचिका होती है। फल की इच्छा होने पर तो कर्मों की अपेक्षा होती है एवं फल-प्राप्ति में तारतम्य भी होता है, जो शिवैकात्म्यरूप अपवर्ग में सम्भव नहीं है (तन्त्रा., १३. ११७स-१६ब)।

शक्तिपात के विषय में श्रीसारशास्त्र को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि शिव स्वयं को वामा, ज्येष्ठादि शक्तिसमूह से उसी प्रकार आवेष्टित करता है जिस प्रकार अन्य दर्शनों के अनुसार जीवात्मा धर्माधर्मादि भावों से आवेष्टित होता है। शिव स्वयं ही स्वयं को बांधता है और स्वयं ही मुक्त करता है, वह स्वयं ही भोक्ता एवं ज्ञाता है एवं स्वयं ही यह सब कुछ जानने वाला है। वह स्वयं ही भुक्ति-मुक्तिस्वरूप है, स्वयं देवी और स्वयं ही प्रभु है। वही परा भट्टारिका रुपिणी देवी है। अग्नि से विस्फुलिंग अथवा ऊष्मा की भाँति ये सभी रूप परमशिव से अभिन्न हैं। इस प्रकार स्वातन्त्र्यपूर्वक स्वात्मप्रकाशन उसका स्वभाव है (तन्त्रा., १३. १२१स-२५)।

श्रीमन्निशाकुलशास्त्र में भी कहा गया है कि स्वल्प बुद्धि वाले मिथ्यात्व की भावना से युक्त, हृदय से मल-मायादि की दृष्टि के कारण कष्ट उठाते हैं। जिस प्रकार स्फटिक पत्थर पर स्थित धूलि अथवा आकाश की नीलिमा स्वयं उन्हें मलिन नहीं करती है, उसी प्रकार शुद्ध बोधात्मक स्वभाव वाले परमशिव के लिए कुछ भी बन्धनस्वरूप नहीं है (तन्त्रा., १३. १२६-७)।

शक्तिपात के प्रकार --

शक्तिपात के प्रमुख रूप से दो भेद होते हैं-- पर एवं अपर। परशक्तिपात परमेश्वर के स्वाच्छन्द्य पर आधारित पूर्णतः निरपेक्ष एवं कर्म-भोगादि अवच्छेदों से परे होता है। संकुचित अणु आत्मा में परिपूर्ण चिदात्मा का जो परम प्रकाश है वही परम शक्तिपात कहलाता है। इसमें अणु से सम्बद्ध समस्त उपाधि अथवा अवच्छेदों का विगलन हो जाता है। इस प्रकार यह अनवच्छिन्न संवित् स्वभाव वाला परशक्तिपात है (तन्त्रा, २३. २५४स-५५ब)।

अपरशक्तिपात में परिपूर्ण चिदात्मा का प्रकाश भोगांश से अवच्छिन्न रहता है। भोगांश के न्यूनाधिक्य के आधार पर इसके पुनः नौ प्रकार होते हैं जिनमें थोड़े या अधिक समय तक, इस देह अथवा देहान्तर में भोग के बाद, अन्त में शिवता की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., २३. २५५स-५६ब)। शक्तिपात के प्रकाशन में तारतम्य के आधार पर इसके तीव्र, मध्य एवं मन्द प्रकार होते हैं। इन तीव्रादि प्रकारों में पुनः न्यूनाधिक्य होने के कारण प्रत्येक के तीव्र, मध्य, मन्द प्रकार और इस प्रकार शक्तिपात के प्रमुख रूप से नौ प्रकार माने गए हैं--

तीव्र शक्तिपात--

तीव्र शक्तिपात के तीन स्तर तीव्र-तीव्र, तीव्रमध्य और तीव्रमन्द होते हैं। तीव्रतीव्र शक्तिपात होने पर तत्काल देहपात होकर मोक्ष प्राप्ति होती है अथवा उसकी भी मात्रा के तारतम्य होने पर देहपात एवं मोक्षप्राप्ति में कुछ समय लग जाता है (तन्त्रा., १३. १३०स-३१ब)। उस काल में वह संविदनुभवपूर्वक समस्त व्यवहारों का निर्वाह करता है (तन्त्रा., १३ . २११)। इस प्रकार तीव्रतीव्र शक्तिपात होने पर सद्यःसमुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा प्रदान की जाती है।

मध्यतीव्र शक्तिपात होने पर अणुप्रमाता को गुरु एवं शास्त्र की अपेक्षा न रखने वाला प्रातिभमहाज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं के बन्धन एवं मोक्ष के स्वरूप को जान लेता है, उसका समस्त अज्ञान निवृत्त हो जाता है

(तन्त्रा., १३. १३१स-३२)। उसे समयित्व, अभिषेक, संस्कारादि की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह आदिविद्वान् महादेव के द्वारा स्वयं अधिष्ठित हो जाता है एवं देवियों के द्वारा शिवशासन में दीक्षित हो जाता है (तन्त्रा., १३. १४०-४२ब)। इस प्रकार उसकी तिल-आज्यादि की आहुति के बिना ही निर्वाण-गामिनी दीक्षा हो जाती है। वह मण्डलदर्शनादि के बिना ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह योगी एवं दीक्षित हो जाता है। वह याग के समस्त विधानों को स्वतः ही जान लेता है। इस विषय का निरूपण अभिनवगुप्त ने श्रीशिकाशास्त्र के आधार पर किया है (तन्त्रा., १३. १५१स-५४ब)।

तीव्रमन्द शक्तिपात होने पर शिशु में शिवेच्छा से गुरु के प्रति पिपासा उत्पन्न होती है। भोग एवं मोक्ष की सिद्धि के लिए वह गुरु के समीप ले जाया जाता है। आराधनापूर्वक उसे सन्तुष्ट करके शिष्य उससे शांकरी दीक्षा को प्राप्त करता है जिससे तत्क्षण अथवा कुछ काल तक भोग भोगने के उपरान्त देहपात होने पर वह शिवत्व को प्राप्त करता है (तन्त्रा., १३. २०२-३)। तीव्रमन्द शक्तिपात के सूचक कुछ चिहृन शिव में निश्चल भक्ति है, द्वितीय, मन्त्रसिद्धि एवं उसके पश्चात् क्रमशः सर्वतत्त्वशिवत्व, प्रारब्ध कार्य में सफलता, कवित्व, समस्त शास्त्रों का ज्ञान आदि चिहृन लक्षणीय हैं।

मध्यशक्तिपात-

मध्यशक्तिपात के पुनः तीव्र, मध्य एवं मन्द प्रकार होते हैं। मध्यतीव्र शक्तिपात की स्थिति में दीक्षा प्राप्त होने पर भी निर्विकल्प आत्मज्ञान न होने के कारण स्वात्मा की शिवरूपता में विश्वास नहीं होता, किन्तु देहपात होने पर शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। निशिसंचार एवं योगसंचार शास्त्रों में भी कहा गया है कि विकल्पों के कारण देह धारण करते हुए देहान्त में शिवता की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., १३. २४०स-४२ब)।

मध्यमध्य शक्तिपात होने पर शिशु शिवताप्राप्ति के लिए उत्सुक होने के साथ ही भोग की भी इच्छा रखता है। ऐसी स्थिति में गुरु उसे दीक्षा प्रदान करके अभिमत तत्त्व से संयुक्त कर देता है जिसके फलस्वरूप भोगों को भोग कर वह देहान्त में शिवता को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १३. २४२स-४३ब)।

मध्यमन्द शक्तिपात का भागी शिष्य तत्त्वों में नियोजित किये जाने के पश्चात्, देहान्त होने पर भी भोगों को दूसरी देह के माध्यम से भोगता है उसके पश्चात् शिवत्व को प्राप्त करता है (तन्त्रा., १३. २४३स-४४ब)। ये मध्यमध्य एवं मध्यमन्द प्रकार शिवधर्मी साधक या बुभुक्षु से सम्बन्धित हैं।

मन्दशक्तिपात-

मन्दशक्तिपात के तीनों प्रकार लोकधर्मी साधक से सम्बन्धित हैं जिनमें बुभुक्षुता की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। मन्दतीव्र शक्तिपात होने पर लोकधर्मी साधक दीक्षा के माध्यम से देहान्त होने पर अभिमत भुवनों में भोग कर शिवता को प्राप्त करता है। मन्दमध्यशक्तिपात का भागी शिष्य निश्चित भुवन में भोगों को भोगने के पश्चात् उस भुवन के ईश्वर से दीक्षा प्राप्त करके अन्त में शिवत्व को प्राप्त करता है। मन्दमन्द शक्तिपात होने पर शिष्य उन भुवनों में ही सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य आदि की प्राप्तिपूर्वक चिरकाल तक भोगों को भोगने के पश्चात् दीक्षा प्राप्त कर के शिवत्व को प्राप्त करता है (तन्त्रा. एवं विवेक, १३. २४५स-४६ब)।

शक्तिपात की मान्यता स्वातन्त्र्यवादी काश्मीर शैवदर्शन की अपनी विशेषता है। इसके द्वारा परमतत्त्व के पूर्ण, अनवच्छिन्न स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए बन्ध एवं मोक्ष की समुचित व्याख्या की गई है। इसमें बन्धन एवं मोक्ष को कर्म पर आधारित नहीं माना गया है जिससे मोक्ष का स्वरूप भी सुरक्षित रहता है एवं सर्वप्रथम बन्धग्रस्त होने अथवा सृष्टि के आरम्भ की भी तर्कसंगत व्याख्या हो जाती है। सृष्टि का आरम्भ परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है एवं मोक्ष भी, कर्म पर आश्रित न होकर परमेश्वर के पूर्ण स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति करता है। शक्तिपात क्रियासापेक्ष न होने पर भी इसमें जो तारतम्य उपलब्ध होता है उसका कारण अनुग्रह के पात्रभूत जीवों के चित्त का वैषम्य होता है। जिस प्रकार वही जल की बूंद तप्त लोहे पर गिरने से वाष्प बन जाती है, सर्प के मुख में गिरने से विष एवं सीपी में गिरने से मोती बन जाती है उसी प्रकार एक ही शक्तिपात के विभिन्न प्रमाताओं की योग्यता के आधार पर अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड में दीक्षा-

वैदिक कर्मकाण्ड के अन्तर्गत सोमयाग से पूर्व यजमान को दीक्षा देने का विधान है। दीक्षा के माध्यम से व्यक्ति के किसी भी जाति का होने पर भी उसे द्विजत्व की प्राप्ति हो जाती है (भा.श्रौ. सू., १०. ७. ६; बौ. श्रौ. सू. ६. ५; आप. श्रौ. सू., १०. ८. ११-१५; ११.१-४)। दीक्षित व्यक्ति को देवताओं में सम्मिलित माना जाता है--"यो दीक्षते स देवतानामेको भवति" -शतपथब्राह्मण, ३. २. १. १६.\दीक्षा को व्यक्ति का (कर्मकाण्डीय) पुनर्जन्म बताया गया है। इस सन्दर्भ में अनेकत्र शिशु जन्म से सांगोपांग साम्य प्रदर्शित किया गया है।

अग्नि यज्ञ की योनिस्वरूप है। दीक्षित यज्ञकर्ता गर्भ के समान है। जिस प्रकार गर्भ झिल्ली से ढका रहता है उसी प्रकार यह क्षौम वस्त्र से आवृत्त होता है। गर्भाशय का स्थानापन्न कृष्णाजिन है, मेखला नाभिस्वरूप है, दीक्षित गर्भ के समान अपने हाथ-पैर सिकोड़ कर निश्चित स्थान पर रहता है जिसे दीक्षित विभित कहा गया है (शत. ब्रा., III, १.३.२८, १.५.६, १.५.१७, मैत्रा. सं., सं.,III, ६.७)। तान्त्रिक कर्मकाण्ड में भी दीक्षा को व्यक्ति का पुनर्जन्म माना गया है। पुत्रक दीक्षा के अन्तर्गत वागीश्वरी देवी में गुरु शिष्य को स्थापित करता है एवं वागीश्वरी के द्वारा उत्पन्न शिष्य का पुनर्जन्म नहीं होता- "योनिर्वागीश्वरीर्यस्यां जातो न जायते।"

इस प्रकार वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों दीक्षाओं का उद्‌देश्य दीक्ष्य का संस्कार करके उसे दिव्य क्रियाओं को करने योग्य बनाना अथवा देवताओं के समान बनाना एवं इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति करवाना है। वैदिक दीक्षा एवं यज्ञ के लक्ष्य प्रायः ऐहिक अथवा पारलौकिक भोग से सम्बन्धित होते हैं, जबकि तान्त्रिक दीक्षादि का लक्ष्य परसंविदैकात्म्य है। इस दीक्षा का व्यापार पात्रता से पार्यन्तिकता तक है। इसका उद्‌देश्य दीक्षित में केवल संस्कारों का आधान अथवा निश्चित काल तक कुछ नियमों का पालन-मात्र नहीं है, अपितु आजीवन निश्चित नियमों का पालन एवं दीक्षित को अनिवार्यतः फल-प्राप्ति करवाना है।



तृतीय परिच्छेद
विविध दीक्षाएँ

समय दीक्षा

दीक्षा के विभिन्न प्रकारों में प्रथम स्थान समय दीक्षा का है। म. म. गोपीनाथ कविराज के अनुसार समय–दीक्षा सामान्य दीक्षा है जो पुत्रक ,आचार्यादि विशेष दीक्षाओं की भूमिकास्वरूप है (ता. वा. में. शा., दृ. पृ० ३३.)। अन्य समस्त दीक्षाएँ इसके पश्चात् दी जाती हैं "समयिदीक्षापूर्वकमेव सर्वा दीक्षा उक्ता" (विवेक, १५. ४६६)। पशु आत्माओं के मल का कुछ परिपाक होने पर जब वे मन्द शक्तिपात की भाजन बन जाती हैं तो लिंग, वर्ण, जाति, आयु आदि का विचार किए बिना उन्हें समय दीक्षा दी जाती है। इस दीक्षा से दीक्षित शिष्यों में भक्ति, श्रद्धा आदि का उद्दीपन होता है एवं प्राक्तन कर्मों का परिपाक–मात्र होता है। पूर्व जाति से सम्बन्ध बना रहता है। इस दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति को निश्चित नियम–जिन्हें "समयधर्म" कहा गया है,का पालन करना पड़ता है। इससे उसे शुद्ध विद्या के ऊपर स्थित ईश्वर–तत्त्व की आराधना करने का अधिकार प्राप्त होता है और अन्त में उसकी ईश्वर–पद में स्थिति होती है। समय–दीक्षा–प्राप्त व्यक्ति राजपुत्र के समान पुत्रक, साधक, आचार्य आदि कोई भी पद प्राप्त करने का अधिकारी होता है.... "समयी राजपुत्रवत्। सर्वत्रैवाधिकारी स्यात्पुत्रकादिपदत्रये"(तन्त्रा., १५ ४६६)।

समय दीक्षा, श्रौत एवं स्मार्त विधि में किए जाने वाले उपनयन संस्कार से तुलनीय है। इस दीक्षा के द्वारा ही शैवशस्त्रों के अध्ययन एवं अन्य दीक्षा, यज्ञादि का अधिकार प्राप्त होता है एवं समयी को निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता है, उसी प्रकार उपनयन के द्वारा ही बालक को वेदादि के अध्ययन का अधिकार मिलता है एवं उसे गुरू के समीप रह कर निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता है। अन्तर यह है कि समय–नियमों का पालन आजीवन करना पड़ता है।

अभिनवगुप्त ने समय–दीक्षा का निरूपण श्रीस्वायम्भुवतन्त्र, श्रीमालिनीमत, श्रीमन्मतंगतन्त्र, श्रीत्रीशिकाशास्त्र, स्वच्छन्दशास्त्र, श्रीमत्त्रैशिरस्, श्रीपूर्वतन्त्र, श्रीदीक्षोत्तर, श्रीदेव्यायामल, श्रीसारशास्त्र, श्रीकुलगह्वर आदि शास्त्रों के आधार पर किया है।

समय : प्रवृत्तिनिमित्त –

"समयन्ति संगच्छन्ते परं तत्त्वगनेनेति, राम्यगयनं ज्ञानगस्माविति" (विवेक,१५. ६१३)। विवेककार जयरथ ने परम तत्त्व को प्राप्त कराने का कारण अथवा ज्ञान की प्राप्ति का माध्यम समय को बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार समय वे नियम हैं—

१. जिनका पालन अवश्य किया जाना चाहिए,

२. जो परतत्त्व से संगम करवाते हैं,

३. जो ज्ञानप्राप्तिके उपाय हैं(१५.६०६)।

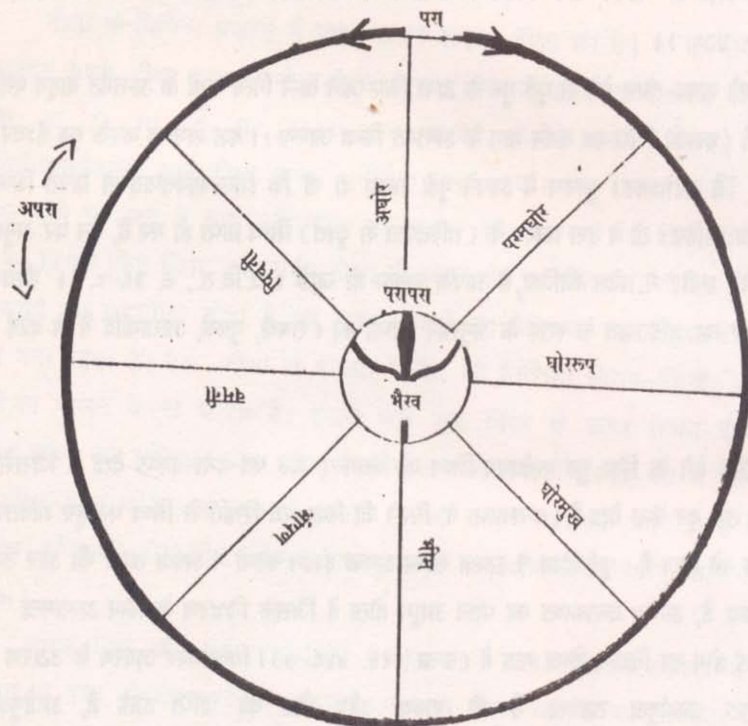
इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शास्त्रोक्त नियम अथवा करणीय-अकरणीय का नियन्त्रण जो परम श्रेयस् की प्राप्ति के लिए हो "समय" है। जयरथ के शब्दों में "इदं कार्यमिदं न कार्यमिति शास्त्रीया नियन्त्रणा हि समयः" (विवेक, २८. ४०८.)।

शिष्य को समय-दीक्षा देने से पूर्व गुरु के द्वारा किए जाने वाले नित्य कर्मों के अन्तर्गत बाह्य एवं आन्तरयाग का विधान है (इसकी विधि का वर्णन याग के अन्तर्गत किया जाएगा)। यज्ञ समाप्त करके गुरु ईश्वर को निवेदन करता है-- "हे परमेश्वर। गुरुरूप में आपने मुझे आज्ञा दी थी कि शिव-शक्तिपात से प्रेरित शिष्यों पर तुम्हें अनुग्रह करना चाहिए। तो ये उस प्रकार के (शक्तिपात से युक्त) शिष्य प्राप्त हो गए हैं, इन पर अनुग्रह करने के लिए आप मेरे शरीर में प्रवेश कीजिए, मैं आपके समान हो जाऊँ (मा.वि.त., ६, ३६-८.)। ईश्वर से आज्ञा प्राप्त होने पर वह शक्तिपात के स्तर के अनुसार शिष्यों को (समयी, पुत्रक, आचार्यादि में से कोई एक) दीक्षा देता है।

विधि-

समयदीक्षा देने के लिए गुरु सर्वप्रथम शिष्य को पंचगव्य, चरु एवं दन्त-काष्ठ देता है जिससे दाँत साफ करके शिष्य उसे दूर फेंक देता है। दन्तकाष्ठ के गिरने की दिशा एवं स्थिति से शिष्य पर हुए शक्तिपात के स्तर का ज्ञान गुरु को होता है। पूर्व दिशा में अथवा सौम्य अथवा ईशान कोणों में अथवा ऊपर की ओर उसका गिरना शुभ माना गया है, अन्यत्र दन्तकाष्ठ का पतन अशुभ होता है जिसके निवारण के लिए अस्त्रमन्त्र "फट्" पूर्वक एक सौ आठ होम का विधान किया गया है (तन्त्रा., १५. ४४६-७)। विवेककार जयरथ के उद्धरण के अनुसार जब दन्तकाष्ठ ऊर्ध्वमुख ठहरता है तो राज्य और मोक्ष की प्राप्ति होती है, अधोमुख होने पर मरण होता है जिसके निवारण के लिए हृन्मन्त्र "नमः" के द्वारा सौ बार हवन करना चाहिये। पूर्व दिशा में गिरने पर योग-संसिद्धि और आग्नेयी में व्याधि होती है। याम्या में मरण एवं नैऋत में कलह होता है। वारुणी में धनसंपुष्टि एवं वायव्य में उच्चाटन होता है। सौम्य में सिद्धि एवं ईशानकोण में गिरने पर मोक्ष प्राप्त होता है (तन्त्रा., १५. ४५१)।

इसके पश्चात् गुरु मन्त्रित शुभ वस्त्र से एकाग्रचित्त शिष्य के निश्चल नेत्रों को बलपूर्वक ढक देता है एवं मोती, रत्न, पुष्पादि से परिपूर्ण अंजलि वाले शिष्य को याग-स्थान में प्रवेश करवा के घुटनों के बल बिठा कर, भावितात्मा उन शिष्यों से अंजलि को प्रक्षिप्त करवाता है, पुनः उनकी अंजलि भर कर शीघ्रता से क्षण भर के लिए उसके नेत्रों के आगे से वस्त्र को हटा देने पर शिष्य भी तुरन्त स्थण्डिलदर्शन कर लेता है। उस मन्त्र-प्रभाव से व्याप्त स्थल का दर्शन करने मात्र से शिष्य भी तदाविष्ट होकर तन्मयता को प्राप्त करता है (तन्त्रा., १५. ४४८-५१)। जिस प्रकार अनुरक्त व्यक्ति प्रिया के लावण्यादि गुणों का किसी अन्य उपायादि के बिना स्वतः ही दर्शन कर लेता है उसी प्रकार शक्तिपात से संस्कृत शिष्य स्थण्डिल में मन्त्र-सन्निधि का दर्शन करने में समर्थ होता है। इसके पश्चात् गुरु शिष्य के मस्तक



शिवहस्त - विधि में कल्पनीय मन्त्रचक्र

पर शिवहस्त का अर्पण, जो कि इस दीक्षा का प्रमुख कृत्य है, करता है।

शिवहस्त : स्वरूप एवं विधि

शारदातिलकतन्त्र की पदार्थादर्श टीका के उद्धरण के अनुसार अपने दाहिने हाथ में गन्ध के द्वारा मण्डल बनाए एवं विधिपूर्वक देवता की अर्चना करे-इस प्रकार शिवहस्त होता है

"गन्धैर्मण्डलकं स्वीये विदध्याद्दक्षिणे करे।
विधिना चार्चयेद्देवमित्थं स्याच्छिवहस्तकमिति"। (प० ५, पृ० १९१.)

जयरथ के द्वारा प्रस्तुत उद्धरण (विवेक, १६. ८०.) में शिवहस्त को ब्रह्मप्रपंच में संयुक्त, शिव से अधिष्ठित, शिवस्वरूप पाशच्छेदकारी एवं कल्याणकारी बताया गया है।

गुरु दाहिने हाथ में समस्त अध्वाओं से पूरित, दीप्त, पाशदाहक, मन्त्रचक्र का बाएँ हाथ से यजन करने के पश्चात् जिसकी देह में समस्त अध्वाओं का न्यास कर दिया गया है, ऐसे शिष्य के सिर पर अपने उस हाथ का न्यास करते हुए क्रम से उसके समस्त अङ्गों का स्पर्श करता है (तन्त्रा., १५. ४५६स-५८ब)। स्वच्छन्दतन्त्र (३. १४२-४, ५६) के अनुसार भी गुरु शिवहस्त में जाज्वल्यमान पाशदाहक व्यापक मन्त्रग्राम का ध्यान करके, शिष्य के सिर पर उस हाथ को रखकर अधोमुख शिवहस्त से हृदय व पीठ पर स्पर्श करता है।

दीक्षोत्तरशास्त्र में कहा गया है कि मन्त्रतेज से परिपूर्ण होने के कारण अग्निवर्षक के समान इस शिवहस्त के अर्पण से शिष्य समयी हो जाता है, उसका ईश्वरतत्त्व से सायुज्य हो जाता है एवं उसे शैव शास्त्रों के अध्ययन, होम पूजनादि की योग्यता प्राप्त हो जाती है (तन्त्रा., १५. ४५८-५६)। समयाचार का पालन करते हुए अन्त में वह ईश्वर-पद को प्राप्त करता है।

शिवहस्त के विषय में श्रीदेव्यायामलशास्त्र में कहा गया है कि हाथ में आठ अरों एवं मध्य में त्रिशूल वाले चक्र की भावना करे। चक्र की नाभि में भैरव एवं आठ अरों में अघोरादि अष्टक-अघोर, परमघोर, घोररूप, घोरमुख, भीम, भीषण, वमनी, पिवनी का, चक्र के बाहर अपरा का, नेमि में परा का एवं मध्य-स्थित त्रिशूल अथवा त्रिशूल के मध्य शृङ्ग में परापरा का ध्यान करे। हाथ में इस प्रकार का ध्यान पूर्ण (संदृष्टि) हो जाने पर शिष्य द्वारा उसके दर्शन से समय-दीक्षा होती है। इस हाथ को यदि मरणासन्न व्यक्ति के पाश-नाश की दृष्टि से, उसके सिर पर रखा जाए तो यह प्राणवियोजक होता है (तन्त्रा, १५. ४६०-६३)।

शिवहस्त के दर्शन से शिष्य समयी हो जाता है एवं उसके पाशों का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् शिष्य की विश्रान्ति के लिए शय्याकल्पन से पूर्व गुरु कुम्भ, अस्त्रकलश, अग्नि और स्वयं के प्रति प्रणाम करवाता है एवं तदनन्तर मातृबलि प्रक्षिप्त करता है (तन्त्रा., १५. ४७२-४३अब ; इसकी विधि अभिनवगुप्त अथवा जयरथ किसी ने भी नहीं दी है)। केवल तान्त्रिक समय-दीक्षा में ही नहीं अपितु उपनयन संस्कार के समय भी गुरु शिष्य को यज्ञोपवीत, मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड आदि ब्रहमचारी के चिह्नों को प्रदान करने के उपरान्त, अश्मारोहण, हस्तग्रहण एवं सूर्यविक्षण करते हुए शिष्य के हृदयदेश व नाभि का स्पर्श करता है।

यह स्पर्श शिवहस्तप्रदान करने के समकक्ष माना जा सकता है। ये विधियाँ गुरु के द्वारा शिष्य को पूर्णतः अंगीकार करने की सूचना देती हुई प्रतीत होती हैं।

शय्या-कल्पन-

इस (मातृबलि-क्षेप) के पश्चात् गुरु शंकर की अर्चना करके एवं शय्या को अस्त्र से अभिमन्त्रित करके, उस पर शिष्य को आरोपित (बिठा) कर एवं उस पर मन्त्रों का न्यास करके, शिष्य के हृच्चक्र में विश्रान्ति करके उसके द्वादशान्त में प्रवेश करता है जहाँ सूर्यकलारूप स्वरद्वादशक के उदय के कारण चन्द्रसम्बन्धी कलाजाल क्षीण हो जाता है। इसके पश्चात् स्वयं के प्रवेश से विकसित उज्ज्वल षोडशकलाओं वाले संपूर्ण चिच्चन्द्ररूप स्वात्मा को गुरु, शिष्य के हृदय में विश्रान्ति प्रदान करता है और स्वयं उसके उठने तक द्वादशान्त में अवस्थित रहता है व पुनः उसके हृच्चक्र में प्रवेश करता है। इस प्राकर शिष्य में स्वात्मा का प्रवेश एवं निर्गमन ही निद्रा (का)-विधि-क्रम है (तन्त्रा., १५. ४७४स-७८ब)।

निद्रा को प्राप्त शिष्य निर्मल, पूर्ण एवं कृश चन्द्रमा एवं सूर्य का बलपूर्वक हृच्चक्र में प्रतिसन्धान करता है। वह निर्मल चन्द्र-सूर्य के प्रकाश एवं भावी शुभ अथवा अशुभ को स्पष्टरूप से बताने वाले स्वप्न को देखता है। शास्त्रप्रमाण की दृष्टि से विज्ञानभैरव को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि द्वादशान्त में पूर्ण अथवा कृश (चन्द्र अथवा सूर्य कला) का ध्यान करके द्वादशान्त में प्रवेश करके हृदय में भी ध्यान करना एवं सोने पर स्वच्छन्दता को प्राप्त करना अर्थात् निश्चिन्त होकर सोना चाहिये। शिशु को निद्रा आ जाने पर गुरु शंकर की अर्चना करके सखा सहित चरु का भोग करता है। इसके पश्चात् दन्तधावन करके मन्त्ररश्मियों से दीप्त मन को हृच्चक्र में अर्पित करके सो जाता है। प्रातः काल सम्पूर्ण नित्य संस्कारों को करने के पश्चात् शंकर की अर्चना करके गुरु को शिष्य एवं स्वयं द्वारा देखे गए स्वप्न के बलाबल का विचार करना चाहिये। यद्यपि संबोध के उद्रेक के कारण गुरु के द्वारा देखा हुए स्वप्न ही बलवान् होता है किन्तु गुरु एवं शिष्य में कभी-कभी बोध-साम्य होने पर उनके स्वप्न में समानता भी रहती है (तन्त्रा., १५. ४७८स-८४)। इस प्रकार स्वप्न का स्वरूप, द्रष्टा के बोध के स्तर एवं उसके चित्त में सत्त्वादि गुणों की प्रधानता पर निर्भर करता है।

सत्त्वप्रधान आत्मा वाले शिष्य को स्वप्न में दृश्य, स्फुटरूप से, रजोगुण-प्रधान को लिङ्गमात्ररूप में दिखाई देते हैं किन्तु तामस व्यक्ति (स्वप्न में) कुछ भी नहीं देख पाता है (तन्त्रा., १५. ४६०-६१)। इस प्रकार स्वप्न-दर्शन में गुणों के कारण वैचित्र्य होता है। यथा सुन्दर स्त्री, मद्यपान, कच्चामांस-भक्षण, रक्तपान, शिरच्छेद, रक्तविष्ठामूत्रलेप, पर्वत, अश्व, गजादि पर आरोहण में से जो-जो प्रसन्नता के लिए होता है, वह शुभ माना गया है। संतुष्टि की वृद्धि के लिए उन (शुभस्वप्नों) का कथन करना चाहिये, जिनसे प्रसन्नता मिलती है। इसके अतिरिक्त शिरच्छेदादि जो अशुभ हैं, उनके लिए अस्त्र मन्त्र "फट्" पूर्वक आठ सौ बार होम करने का विधान है। गुरु के द्वारा शिष्यों को अशुभ स्वप्न के अशुभ रूप से सम्बन्धित कुछ नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में उनके विषय में दीक्षा व फलादि के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हो सकती है एवं रूढ़ शंका को दूर

करने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है। गुरु आदि ज्ञानीजन जिनकी शंका का लय हो चुका है, उनके लिए स्वप्न में देखे गए शुभाशुभ में कोई अन्तर नहीं होता है (तन्त्रा., १५, ४८५-८६ ; विस्तार के लिए द्रष्टव्य, स्व.तः ४, ३-२७)।

अष्टचत्वारिंशत् संस्कार--

इसके पश्चात् गुरु शिष्य को मन्त्रपूर्वक देवतार्चन का उपदेश देता है और शिष्य उसे करता है। फिर गुरु शिष्य का संस्कार करता है जिसके अन्तर्गत वह हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र आदि षट्चक्र में क्रमशः स्थित ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शिव, इन छः देवताओं से समाहित होकर शिशु का प्राणवृत्ति से स्पर्श करता है एवं इन देवताओं से शिष्य के चैतन्य को मुक्त करता है। इस प्रसंग में प्रत्येक स्थान के आठ-आठ संस्कार, इस प्रकार छः चक्रों के लिए कुल अड़तालीस संस्कारों को करने का विधान है। इस प्रकार शिष्य हृदय से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त परप्रमाता के बोध के स्पर्श से पवित्र अर्थात् उससे अनुविद्ध हो जाता है (तन्त्रा., १५. ४६४स-६६)। इन संस्कारों के द्वारा शिष्य को विभिन्न दोषों से मुक्त कराते हुए द्विजत्वापादन के योग्य बनाया जाता है। श्रुतिस्मृति में बताए गए आहार-सम्बन्धी नियमों का पालन न करने से होने वाले आहार-दोषों, बीजदोष अर्थात् वर्णसंकरता, असत्य, अनार्जवादि के कारण होने वाले भावदोष एवं म्लेच्छादिसंपर्कजनित देशदोषों का निवारण अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों के माध्यम से किया जाता है (तन्त्रा. एवं विवेक १५. ४६७)। इन संस्कारों से शिशु द्विजत्व को प्राप्त करते हुए रुद्रांश प्राप्ति के योग्य हो जाता है। यह द्वितीय जन्म अलौकिक होने के कारण ब्राह्मणादि के द्वारा भी करणीय है। गुरु इन संस्कारों को प्राणक्रम से अथवा मन्त्रपूर्वक तिलादि की आहुति देकर करता है (तन्त्रा., १५. ५०६-१०ब)। मन्त्रपूर्वक दी जाने वाली आहुति में सर्वप्रथम ओंकार, उसके पश्चात् प्रत्येक संस्कार में विद्यांगपंचक से सम्बन्धित पाँच अहुतियाँ, स्वाहा का अन्त में प्रयोग करते हुए दी जाती हैं जिससे शिशु में रुद्रांशापादन की योग्यता आती है (तन्त्रा., १५. ५१०स-१२ब ; द्विजत्वप्राप्ति की विधि तुलनीय - स्व.त., ४. ५०-६७ ; रुद्रांशापादन - स्व. त., ४. ६८-७७ ; विद्यांगपंचक का स्पष्टीकरण तन्त्रालोक अथवा विवेक में उपलब्ध नहीं है, षट्कंचुक में से माया को छोड़ देने पर विद्या, कला, राग, काल एवं नियति ये पाँच शेष रहते हैं, अभिनवगुप्त का तात्पर्य इनसे ही है, ऐसा निश्चितरूप से कहना कठिन है)।

अष्टचत्वारिंशत् संस्कार हैं -- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, व्रतबन्ध, ऐष्टिक, मौजी, भौतिक, सौमिक, गोदान, विवाह, अष्टका, पार्वणी, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रायणी, चैत्री, आश्वयुजी, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पौर्णमास, दर्श, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, सौत्रामणि, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, आप्तोर्याम, अतिरात्र, हिरण्य-पदादिमख, अश्वमेध, वानप्रस्थ, पारिव्राज्य, दया, क्षमा, अनसूया, शुद्धि, सत्कार, मंगल, अकार्पण्य, अस्पृहा के माध्यम से द्विजता में परिपूर्णता आती है। दीक्षा एवं समय-पालन से जिस द्विजत्व की प्राप्ति हुई थी, उसकी पूर्णता अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों के माध्यम से ही

सम्भव है (तन्त्रा., १५. ४६८-५०५)। इन अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों में अन्य निम्निलिखित संस्कारों का भी अन्तर्भाव हो जाता है (तन्त्रा., १५. प्र. ६-६) - मेखला, दण्ड, मृगचर्म, भस्म-पुण्ड्रक, अग्नि-उपासना, सन्ध्या, भिक्षा-ये सात संस्कार एवं सात व्रतों--भौतेश, पाशुपत, गाणेश, गाणपत्यक, उन्मत्तक, असिधाराख्य, घृतेशानि-ये चौदह संस्कार व्रतबन्ध के अंगभूत माने गए हैं। (इन संस्कारों की विधि तन्त्रालोकादि ग्रन्थों में अलग से उपलब्ध नहीं है। ये नाम श्रौत विधि के संस्कार व यज्ञादि से गृहीत हैं, सम्भवतः इन्हें करने के लिए श्रौत विधान ही सर्वस्वीकृत रहा होगा, इसलिए विधि-निरूपण की आवश्यकता नहीं समझी गई)। जिस प्रकार स्वर्ण, चाँदी आदि के उत्पादक द्रव्य को अग्नि में पकाने पर उसकी शुद्धता क्रमशः परिपूर्ण होती जाती है (तन्त्रा.,१५. ५१२ (स द)-१३.) उसी प्रकार संवित् के संस्कार की प्रक्रिया में सर्वप्रथम आहारादिजनित दोषों को संस्कारों के माध्यम से दूर किया जाता है। तदनन्तर द्विजत्व प्राप्त शिष्य निश्चित नियमों अर्थात् समय-धर्म का पालन करता है। इस प्रकार क्रमशः संवित्-उत्कर्ष को प्राप्त करते हुए वह अन्त में रुद्रांश को प्राप्त कर लेता है।

द्विजत्वप्राप्त शिष्य की द्वादशान्त में स्थित गुरु से एकता स्थापित हो जाती है, तब गुरु को उसके द्वादशान्त में विश्राम करने की आवश्यकता नहीं है एवं वह संस्कृत समयी बन जाता है, जिसे अध्ययन, श्रवण, नित्यपूजा, गुरुसेवा आदि का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस स्थिति में गुरु उसे अष्टाष्टक समयों का श्रवण करवाता है जिनका पालन करना उसका कर्त्तव्य होता है (तन्त्रा., १५. ५१६-२१)।

अष्टाष्टक समय--

श्रीदेव्यायामल के अनुसार अष्टाष्टक समय इस प्रकार हैं (तन्त्रा., १५. ५२२-३१)--

१. अवाद (कथन न करना) २. अकरणं (कार्य-निषेध) ३. गूढि (गोपनीयता) ४. पूजा ५. तर्पण ६. भावना ७. हनन ८. मोहन। इन आठ प्रकारों में से प्रत्येक के अन्तर्गत आठ प्रकार के आचरण-सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है--

१. अवाद - इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आठ बातों का कथन न करने का आदेश है--

१. एवं २. मन्त्र और तन्त्र का स्वभाव ३. रहस्ययागरूप समय ४. उसके लिए की जाने वाली क्रियाएँ ५. मेलक ६. असत्प्रलाप ७. कठोरवाणी ८. असत्य वचन

२. अकरण- निम्न आठ कार्यों को न करे--

१. निष्फल चेष्टा २. हिंसा ३. परस्त्रीसंसर्ग ४. गर्व ५. दम्भ ६. भूततन्त्र ७. विषतन्त्र ८. व्याधितन्त्र

३. गूढि- इन आठ वस्तुओं की गोपनीयता को प्रयत्नपूर्वक बनाए रखे--

१. स्वमन्त्र २. अक्षसूत्र ३. पाण्डित्यरूप विद्या ४. तत्त्वपरिज्ञान ५. समाचार ६. गुण ७. क्लेश ८. सिद्धिलिंग

४. पूजा- निम्नलिखित की पूजा सदैव करनी चाहिये--

१. गुरु २. शास्त्र ३. देवता ४. अग्नि ५. ज्ञानवृद्ध ६. स्त्रियाँ ७. व्रतमुद्रादि ८. गुरुवर्ग

५. तर्पण- इन आठ का नित्य तर्पण करना चाहिये--

१. दीन २. कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति ३. पितर ४. क्षेत्रपाल ५. प्राणीगण (गौ आदि पशु) ६. पक्षी ७. श्मशान में रहने वाले भूतगण ८. देह देवी

६. भावना- इन आठ की, गुरु मुख से सुनकर भावना करनी चाहिये--

१. शिव २. शक्ति ३. स्वात्मा ४. मुद्रा ५. मन्त्रस्वरूप ६. संसार ७. भक्ति ८. मुक्ति

७. हनन- निम्नलिखित को समाप्त करने का विधान है-

१. राग २. द्वेष ३. असूया ४. संकोच ५. ईर्ष्या ६. अभिमानिता ७. समय का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति ८. समयादि का अनुचित आचरण करने वाले व्यक्ति

८. मोहन- इन आठ को मोहित किया जाना चाहिये--

१. पशुमार्ग पर स्थित २. क्रूर ३. द्वेष करने वाले ४. चुगलखोर ५. मन्दबुद्धि ६. राजा के अनुचर ७. पापी व्यक्ति ८. शुभकार्य में विघ्नकर्ता

इन अष्टाष्टक समयों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में समयी द्वारा पालनीय कुछ नियमों का भी निर्देश मिलता है। शास्त्रोल्लेख-पूर्वक वे नियम इस प्रकार हैं (तन्त्रा., १५. ५३२-४२) -

श्रीगमशासन के अनुसार समयी को शाकिनीपूजन भी करना चाहिये। जिनमें सामान्य से द्विगुण साहस, चतुर्गुण काम एवं अष्टगुण लोभ होता है, वे शाकिनी कहलाती हैं। अन्यत्र उन्हें प्रेमपूर्वक अथवा हठपूर्वक वश में करने का भी निरूपण किया गया है (तंत्रा., 15. 532)।

माधवकुलशास्त्र के अनुसार कुलमार्ग में स्थित होने पर भी जो वीर द्रव्यों-- मद्य, मांसादि का सेवन न करते हों, उन पशुओं के साथ निवास नहीं करना चाहिये। देवता, चक्र, अग्नि, शास्त्र आदि की सदैव अर्चना करनी चाहिये एवं इन्हें निवेदित किए बिना कुछ भी नहीं खाना चाहिये। इस निवेदित द्रव्य का अपहरण नहीं करना चाहिये। गुरुवर्ग, जिसके अन्तर्गत इसके भाई, पत्नी, पुत्र एवं शिष्य (विद्याकृत) होते हैं, जन्मसम्बन्धी नहीं, की पूजा का विधान है। ये सब गुरु के प्रिय होते हैं इसलिए उसे प्रसन्न करने की दृष्टि से इनकी अर्चना का विधान है, उनकी स्वयं की महिमा न होने पर भी उनकी गुरु के समान पूजा की जानी चाहिये। गुरु की निन्दा नहीं करनी चाहिये, न ही तदर्थ आचरण करना अथवा सुनना चाहिये। गुरु को क्रोधित भी न करना और उसके सामने उसकी सेवा के अतिरिक्त कोई भी लौकिक-अलौकिक कार्य, क्रोध, क्रीड़ा, तप, जप आदि उसकी आज्ञा के बिना नहीं करना चाहिये। गुरु के द्वारा उपभुक्त शय्या, वस्त्र, आसनादि का उपभोग नहीं करना चाहिये और न ही उसका पैरों से स्पर्श करना चाहिए अपितु वन्दना करनी चाहिये।

श्रीमत्त्रैशिरस् के अनुसार मन, वचन और कर्म से गुरु की आराधना में लगे रहने पर गुरु सन्तुष्ट होकर जो

परम श्रेय प्रदान करता है, वह कृच्छ्र-चांद्रायणादि व्रतों अथवा वन में अतिकठिन तपस्या करने पर भी नहीं प्राप्त होता है। जिस प्रकार भूमि पर स्थित वृक्षादि चारों ओर से बर्फ से ढक जाने पर वायु आदि का संयोग होने पर भी पत्थर की भाँति निश्चल रहते हैं, उसी प्रकार यमादि में निश्चल हो जाने पर उनसे ऐकात्म्य ही गृहीत होता है अर्थात् समय-नियमों का पालन करने वाला शिष्य सांसारिक भोग व ऐश्वर्य से मोहित नहीं होता है। वृक्षभूत शिष्य के चारों ओर समयपालनरूप बर्फ के स्थित होने से वह लौकेषणारूपी वायु से विचलित नहीं होता। आराधित गुरु से पूर्ण प्रसार वाला जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे सर्वत्र ज्ञेयस्थित चित्तत्व अर्थात् समस्त भोग्यपदार्थ चित् का स्फार - मात्र है, का अनुभव हो जाता है एवं उसका कथन मात्र भी शीघ्र ही ऊर्ध्व धाम को ले जाता है, इसलिए गुरु की आराधना करनी चाहिये (तन्त्रा., १५, ४४३-४५)।

श्रीसारशास्त्र में भी कहा गया है कि गुरु के संभाषण से पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं, इसलिए शास्त्रोक्त रीति से ज्ञानादि लक्षणों की प्रयत्नपूर्वक परीक्षा कर के उसका संग करना एवं शास्त्राचारपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। गुरु को भी चाहिये कि वह कभी-भी स्नेह के कारण ज्ञान न दे अथवा लोभ के कारण ज्ञान को न छिपाए। गुरु के सन्तुष्ट होने पर देवता, पितर आदि सन्तुष्ट होकर नरक से उतर कर शीघ्र महान् शिवपुर को चले जाते हैं अथवा पितरादि भोग करके घर में ठहरते हैं तो वह शिवपुर हो जाता है - यह जानकर सदैव पितृश्राद्ध में अपने गुरु की अर्चना करनी चाहिये एवं गुरु के आदेश से ही श्राद्ध के अन्न का भोग स्वयं करना एवं अन्य व्यक्तियों को करवाना चाहिये। जो दीक्षाप्राप्त व्यक्ति श्राद्धादि में स्वतन्त्र विधि का आचरण करता है उसकी वह सम्पूर्ण क्रिया दूषित एवं समय के द्वारा लंघित हो जाती है (तन्त्रा., १५. ५४६-५०)। सैद्धान्तिक के द्वारा अर्पित चण्डीयोग्य द्रव्य को छोड़ देना चाहिये। शाकिनीवाचक शब्द का कभी - भी उच्चारण नहीं करना चाहिये।

श्रीगमशास्त्र के अनुसार विरूपा, वृद्धा, शिल्पोपजीविका, अन्त्यजातीया, विकृतांगी, स्वच्छन्दचारिणी, वेश्या आदि समस्त स्त्रियाँ पूजनीया होती हैं। यहाँ तक कि निराचारा, सर्वभक्ष्या, धर्माधर्मवर्जिता, स्वच्छन्दगामिनी, पलाशिनी, लम्पटा, वेश्या, आदि स्त्रियाँ भी देवता के समान प्रयत्नतः पूजनीय होती हैं। उनका घर प्रयाग के समान होता है, जहाँ क्रम का यजन करना चाहिये। स्त्रियों के प्रति ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहिये जिससे जुगुप्सा उत्पन्न हो। इसलिए नग्ना अथवा प्रकटस्तनी स्त्री का दर्शन न करना एवं वृद्धा अथवा मृता की स्थिति में विकार से जुगुप्सा नहीं करनी चाहिये (तन्त्रा., १५. ५५१-५६)। अपितु उस मुद्रिका में सौरूप्य दर्शन करना चाहिये।

श्रीमदूर्मिशास्त्र के अनुसार मेलक का प्रकाशन नहीं करना चाहिये। त्रिपथ आदि में देवमूर्ति व शून्यतनु (शरीररहित आत्मा) की पूजा करनी चाहिये। समस्त पर्वों में गुरु की पूजा करनी चाहिये। लोभवर्जित मेलक में अनध्याय करना, मद्यादि वीरद्रव्यों से जुगुप्सा कभी नहीं करनी चाहिए और न ही इनकी निन्दा करनी चाहिये अपितु वीरद्रव्यनिरत लोगों की वन्दना की जानी चाहिये। हृदय द्वेषयुक्त न हो, इसलिए "क्व मद्यं क्व शिवे भक्तिः" आदि उपदेश दिये गए हैं। संवित् से भिन्न मल अथवा जगत्-संबंधी विकल्पांशों के उन्मूलन के लिए

निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। अर्चन के अतिरिक्त मन्त्रों में यहाँ-वहाँ गुरु, शास्त्र एवं देवी के नामों का उच्चारण न करना, उनका आवाहन करने पर तर्पण अवश्य करना चहिये, क्योंकि आगत मन्त्र का तर्पण नहीं करने पर वह आधे शरीर का हरण कर लेता है (तन्त्रा., १५. ५५७-६२)। देवियों और वीरों की चेष्टाओं का प्रकाशन अथवा जुगुप्सा नहीं करनी चाहिये। द्रव्य हाथ में लिए बिना कथन भी न करना चाहिये। गुरु, पूजायोग्य द्रव्य आदि का नाम श्रीपूर्वक लिया जाना चाहिये। तीर्थकों सहित गुरु आदि की छाया का लंघन नहीं करना चाहिये। बातचीत में भी अपने शास्त्रार्थ का कथन अथवा निर्देश न करना चाहिये। उससे भी (अधिक) वर्ष के मध्य में कभी-भी जब सामग्री हो तब एवं उससे भी अधिक पूजा पवित्रक विधि (काल) में करनी चाहिये। कभी-भी अन्यस्तमन्त्र न रहना और न ही शास्त्रान्तर का सेवन करना चाहिये, क्योंकि दूसरे शास्त्रों की भावना करने से अप्रस्ढ ज्ञानी विचलित हो जाता है। गृहोपस्करण-चुल्ल्यादि, अस्त्रादि की देवतायागपूर्वक अर्चना करनी चाहिये। उनका पैरों से स्पर्श नहीं करना चाहिए न ही लंघन करना चाहिये। गुरुवर्ग के घर पर आने पर कुछ विशिष्ट आचरण करना चाहिये (तन्त्रा., १५. ५६३-६८)। विद्वेषपूर्वक दीक्षितों की निन्दादि नहीं करनी चाहिये। द्वेषरहित होकर उनका उपदेश ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।

माधवकुलशास्त्र के अनुसार वैष्णवादि अधरशास्त्रस्थों के साथ न रहना, और न ही भोजन, शयनादि करना अथवा इनके सम्मुख अपनी स्थिति को प्रकट करना चाहिये। शास्त्रान्तराश्रितों की वेदोक्ति अथवा वैष्णवोक्ति का वर्जन करना चाहिये, क्योंकि अकुलीन (कुलबाह्य) से सम्पर्क होने पर कुल से पतन का भय होता है। एकपात्ररूप कुलयाग में उन्हें (कुल बाह्य साधकों को) छोड़ देना चाहिये। प्रमादपूर्वक मित्रता कर लेने पर गोष्ठी में चक्र की पूजा कर लेनी चाहिये। श्रीमदूर्मिशास्त्र में कहा गया है कि आगमान्तरसेवक, दूसरे गुरु के प्रति निष्ठावान्, मूर्ख, देवद्रव्योपजीवी शक्तिहिंसाकारी व दुष्टों से सम्पर्क नहीं करना चाहिये। संशय होने पर दीक्षादि को ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु असन्दिग्ध चित्त होने पर अवश्य प्राप्त करना चाहिये। आस्था को शिथिल करने वाले कारणों का आचरण नहीं करना चाहिये (तन्त्रा., १५. ५६९-७५)। अधरशासन स्थित अथवा ब्राह्मणादि जातियों को शिव से भिन्न न देखना, न कथन करना और न ही व्यवहार करना चाहिये, सब कुछ शिवाभिन्न दृष्टि से ही करना चाहिये। सद्विद्या के साथ रहना और ज्ञान दीप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। असंस्कृत (दीक्षारहित) दूती के साथ चर्या (संगमन) न करना और उससे प्राप्त कुण्डगोलकादि द्रव्य को विफल नहीं करना चाहिये। अर्धनिशचर्या में जनरहित (स्थान पर) मेलक करना चाहिये। मांसादि की दाहगन्ध को नहीं सूंघना चाहिये, क्योंकि वह देवीप्रिय होती है। यहीं पर गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए सब कुछ त्याग कर, मन्त्रमय हो जाने का निर्देश किया गया है। शास्त्र पूजा, जप, ध्यान, विवेक, तदुपकारक क्रियाओं को न करते हुए निष्फला त्रिविधा क्रिया की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। मन्त्रतान्त्र के साथ विवाद, विष का भक्षण आदि नहीं करना चाहिये। समयों का लोप होने पर गुरु से (प्रायश्चित्त के विषय में) पूछना चाहिये। गुरु के समीप न होने पर उनके वर्ग के अथवा अन्य गुरु-परम्परा में किसी से अथवा उनके समीप न होने पर गुरु द्वारा उपदिष्ट निर्विकल्प

(प्रायश्चित्त) का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। शास्त्रादि संबोध के द्वारा तन्मयीभूत मन वाला गुरु शिवरूप होता है उसकी वाणी असत्य नहीं होती (तन्त्रा., १५. ५७६-८३ब)।

श्रीमदूर्मिशास्त्र में गुरु का निरूपण करते हुए बताया गया है कि शिव का स्वात्मसंस्कार के लिए प्रह्वीभाव होता है और गुरु का प्रसन्नता के लिए अथवा दोनों स्वात्मसंस्कार एवं आह्लाद के लिए होता है। गुरु की सन्तुष्टि शिष्य को फल प्रदान करने वाली होती है। केवल गुरु के अधीन सिद्धि को मानने वाला समयी बोध का भागी होता है। उसके बोध के सम्मान (महत्त्व) के कारण उसे गुरुओं से भी श्रेष्ठ गुरु माना गया है। विज्ञान को प्राप्त कर के जो गुरु की अवमानना करता है, वह विज्ञान-विश्वस्त नहीं है, वह सत्य ही भ्रष्ट है। ज्ञान के प्रति अनाश्वस्त चित्त वाणी मात्र से उपदिष्ट उस भक्त की कभी अर्चना नहीं करनी चाहिये, वह हृदय से विज्ञान को दूषित करने वाला है। उसे गुरु नहीं बनाना चाहिये, गलती से बना लेने पर भी उसका त्याग कर देना चाहिये। वैष्णवादि शास्त्रों से सम्बद्ध गुरुओं को प्रमुख नहीं मानना चाहिये (तन्त्रा., १५. ५८३स-८८)। गुरु की आज्ञा का सदैव पालन करना चाहिये, यहाँ तक कि प्राणों का सन्देह होने पर भी गुरु की आज्ञा की उपेक्षा अथवा उस पर विचार नहीं करना चाहिये। श्रीमदूर्मिशास्त्र के अनुसार जिस गुरु के द्वारा कौल दीक्षा अथवा कौलशास्त्रीय तत्त्वज्ञान दिया जाए वह गुरु वस्तुतः गुरु है, अन्य (वैष्णवादि) गुरु तो केवल नाम धारण करने वाले होते हैं। श्रीमदानन्दशास्त्र में गुरु का विशेषण इसी प्रकार बताया है-- "यस्माद्दीक्षा मन्त्रशास्त्रं तत्त्वज्ञानं स वै गुरुः"। लिंगधारण नहीं करना चाहिये और कर लेने पर उन्हें गुपत रखना चाहिये, अन्य लिंगियों के साथ संग (आचारमेलन) नहीं करना चाहिये। केवल लिंगियों का पालन करना चाहिये। विरूप लिंगियों की भत्र्स्ना नहीं करनी चाहिये। श्रीमद्रात्रिकुल में कहा है – शंका के समाप्त हो जाने पर मोक्ष हो जाता है किन्तु अशुद्ध वासना से वासित (पशु) से मोक्ष वार्ता नहीं की जानी चाहिये (तन्त्रा., १५, ५८६-६३)।

श्रीमन्मालाशास्त्र में कहा है कि मन्त्रहृदय (बीज मन्त्र) को कदापि न लिखना चाहिये, उसके अंगों से ही मन्त्र का उद्धार करना चाहिये। पक्षपात के कारण अतत्व में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। गह्वरशास्त्र में बताए गए जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण एवं अर्थसम्बन्धी आग्रहों का, जो ग्रह के समान कष्टकारी हैं, तुरन्त त्याग कर देना चाहिये। श्रीनिशिसंचारशास्त्र में भी इन्हें हेय बताया गया है एवं कुलगह्वरशास्त्र में इनके त्याग की विधि बताई गई है (तन्त्रा., १५, ६४-६८ब)।

दीक्षाप्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति का पूर्व जाति से सम्बन्ध नहीं रहता, वह द्विज हो जाता है। पूर्वजाति का स्मरण या नाम संकीर्तन करने पर प्रायश्चित्त किया जाना चाहिये। जाति ग्रह के समान है क्योंकि वह अतद्रूप को भी तद्रूप दिखाती है, व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन कर लेती है। संवित् के स्वभाव में जाति आदि कल्पना के लिए अवकाश नहीं है। अखण्डात्मिका संवित् में जो कोई भी स्वरूप - सम्बन्धीकल्पना की जाएगी वह उसे संकुचित बना देने के कारण ग्रहस्वरूप है, उसका त्याग किया जाना चाहिये (तन्त्रा., १५, ५६८स-६००ब)। श्रीमदानन्दशास्त्र में परमेष्ठी ने कहा है संवित् प्रभु निरपेक्ष, वाम (शुद्ध) है उनके लिए शुद्धि का कोई उपयोग नहीं

है। यज्ञ में देवी की तृप्ति रक्त मांसादि से होती है, शुद्धीकरण से नहीं। चर्या ब्राह्मणों व शूद्रों सहित करनी चाहिये। सभी प्राणियों की देह सर्वदेवमय है। श्रीमान् नकुलेशादि ने भी यह स्पष्टतः उपदेश दिया है कि शरीर ही आयतन (यागस्थान) है, उसे छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्र ही एकमात्र तीर्थ है, अन्य तीर्थ निष्फल हैं। इस विधि को भलीभाँति जान कर अन्य विविध-विधियों का परित्याग कर देना चाहिये। निश्चय को छोड़ कर अन्य किसी उपाय से समाधि की प्राप्ति नहीं होती, यह जानकर विधानज्ञ सम्मोह (मतिभ्रम) को छोड़ देता है। मन्त्र का हृदय ही प्रमुख है, यह जानकर विस्तीर्ण मन्त्रजाल का परित्याग कर देता है। नैवेद्य का भोजन करके, बचे हुए को जल में फेंक देना चाहिये, जहाँ वह पूर्वतः दीक्षित जलचारी जन्तुओं द्वारा खा लिया जाता है (तन्त्रा., १५, ६००स-६ब)।

इस प्रकार दैशिक समय-नियमों का शिष्य को श्रवण करवा कर, देव की पूजा करके शान्त चिद्गगन में उनका विसर्जन कर देता है। यदि इसके तुरन्त बाद में पुत्रक दीक्षा न करनी हो तो शिशु का अस्त्रमन्त्र (फट्) सहित शिवकुम्भ से अभिषेक करना, तदनन्तर स्वयं का भी अभिषेक करना चाहिए। महेश्वर के आठ स्वरूपों में से एक जलमूर्त्ति भी है एवं उसका अभिषेक मन्त्रयुक्त एवं समस्त (गुरुशिष्यादि) का आप्यायन करने वाला होता है (तन्त्रा., १५, ६१०स-१३ब)।

अभिनवगुप्त ने समय-दीक्षा का निरूपण कुलयाग के प्रसंग में भी किया है, जो प्रस्तुत दीक्षा-विधि से कुछ भिन्न है। कुलयाग के अन्तर्गत दी जाने वाली समय-दीक्षा का स्वरूप श्रीरत्नमाला, श्रीपूर्वशास्त्र एवं श्रीभोगहस्तक आदि के आधार पर निरूपित है। इसके अन्तर्गत भी पूर्ववर्णित समय-दीक्षा की भाँति नेत्रपटग्रहण, दन्तकाष्ठ-समादान, शिवहस्त-विधि आदि की जाती है, साथ ही कुलयागाधिकारी के बोध के उच्चस्तर के अनुरूप इस दीक्षा की विधि में अन्तर भी है।

इस दीक्षा को देने से पहले गुरु शिष्य की भलीभाँति परीक्षा लेता है। शिष्य के ज्ञान एवं शक्तिपात का स्तर दीक्षा के योग्य है, यह जानकर ही गुरु दीक्षा प्रदान करना प्रारम्भ करता है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम रुद्रशक्ति अर्थात् परा अथवा मातृसद्भाव से संपुटित मालिनी मन्त्र से उसका प्रोक्षण करता है। प्रोक्षण से शुद्ध शिष्य को देवता के समीप बिठाया जाता है। उसकी भुजाओं का अवलोकन करके उन्हें रुद्रशक्ति के द्वारा, अंगुलि के द्वारा निःसृत गुरु के हृदय-सित शक्तिपुंज के माध्यम से आकर्षित करते हुए उत्तेजित किया जाता है एवं उन हाथों में सुगन्धित पुष्प प्रदान किए जाते हैं। शिष्य की उन भुजाओं को निरालम्बरूप में स्थापित करते हुए, उन्हें दीप्त अंकुशरूपिणी रुद्रशक्ति के द्वारा आकृष्यमाणरूप में ध्यान करना चाहिये। इसके पश्चात् वह शिष्य स्वयं ही वस्त्र-ग्रहण करके दृष्टि को ढक लेता है एवं स्वयं ही पुष्प को गिराता है एवं उसके गिरने से कुल की स्वतः सिद्धि हो जाती है। तत्पश्चात् गुरु उसका मुख खोलकर उससे पैरों में प्रणाम करवाता है एवं उसके हाथों पर देवी-चक्र की अर्चना करता है (तन्त्रा., २९. १८७-९१)। हाथों पर देवी-चक्र की अर्चना प्रेर्यमाण के रूप में एवं सिर पर प्रेरक के रूप में की जाती है। इस प्रकार सिर पर पूजित देवीचक्र

की सामर्थ्य से हाथ आकृष्ट होते हैं एवं जब वे स्वतः सिर पर गिरते हैं तो यह सद्यः प्रत्ययकारी शिवहस्त विधि होती है।

यदि इस प्रकार शिवहस्त विधि सिद्ध न हो, तो रत्नमालाशास्त्र में निर्दिष्ट इस विधि का आश्रय लिया जाना चाहिये। नाभि-क्ष, दण्ड-र से संपुटित हो अर्थात् पूर्वापर र प्रयुक्त हो, एवं वामभूषण - ऊ, वामजंघा - औ तथा नितम्ब - म् से संयुक्त हो, अर्थात् "क्ष्रौं" इस चोदनास्त्र को शिष्य के पुष्पयुक्त हाथ में नियोजित किया जाना चाहिये। जब वह स्तोभयुक्त होकर स्वयं सिर पर गिरता है तो शिवहस्त सिद्ध होता है। इसी आकर्ष्याकर्षक भावरूप प्रयोग के द्वारा देवी के आगे रखकर चरुक का ग्रहण करवाया जाता है एवं शिष्य के द्वारा दन्तकाष्ठ का ग्रहण किया जाता है, उसके गिरने के स्थान के माध्यम से शक्तिपात का ज्ञान पूर्व-वर्णित समयदीक्षा के अनुरूप ही होता है (तन्त्रा., १६२-६५)। केवल दन्तकाष्ठपतन ही नहीं, अपितु करस्तोभ, नेत्रपटग्रहणादि क्रियाएँ भी शक्तिपात के मन्द, मध्य, तीव्रादि स्तरों की सूचक होती हैं। श्रीपूर्वशास्त्र के अनुसार करकम्पन के आधार पर शिष्य समयी होता है जबकि श्रीभोगहस्तक में कर-स्तोभ के आधार पर शिष्य का समयित्व माना गया है (तन्त्रालोक में कम्प एवं स्तोभ में अन्तर स्पष्ट नहीं किया गया है)।

श्रीमदानन्देश्वरशास्त्र के अनुसार गुरु के द्वारा शिष्य को वामामृत से परिपूर्ण चरु प्रदान किया जाना चाहिये। यदि शिष्य उसे निःशंकरूप से ग्रहण कर लेता है तो वह माया से युक्त ब्राह्मी आदि शक्तियों का अंश - रूप हो जाता है। यदि वह कम्पित होते हुए ग्रहण करता है तो वह वाचन-श्रवण आदि क्रियाओं में समयित्व प्राप्त करता है। समयस्थित रहते हुए वह कालान्तर में पुत्रकदीक्षादि के क्रम से अध्वशुद्धि होने पर, मोक्षरूपसिद्धि का भागी होता है (तन्त्रा., २६. १६८-२००)।

समयी के समान ही ब्रह्मचारी के लिए भी निश्चित नियमों का पालन अनिवार्य था। आश्वलायन, आपस्तम्ब आदि के अनुसार ब्रह्मचारी को आचमन, गुरुशुश्रूषा, वाक्संयम एवं समिधाधान अवश्य करना चाहिये। अन्य स्मृतिकारों शांखायन, गोभिल, याज्ञवल्क्य आदि के अनुसार अग्निपरिचर्या, भिक्षा, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन का समय एवं विधि, कुछ खाद्यों, पेयों एवं गीतों का वर्जन, गुरुशुश्रूषा आदि नियमों का विधिपूर्वक पालन करना चाहिये (पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २२४.)। ये नियम आश्रम की अवधि तक ही पालनीय हैं। किन्तु समयदीक्षा प्राप्त व्यक्ति के लिए समय-नियमों का पालन सदैव अपरिहार्य है, यदि वह प्रमादवश ऐसा नहीं करता है तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पुत्रक-दीक्षा-

पुत्रक-दीक्षा प्रायः समयदीक्षा के पश्चात् प्रदान की जाती है। वागीशी के गर्भ से उत्पन्न होने एवं संसार के प्रशम के द्वारा अनुकम्पित होने के कारण शिष्य पुत्रक कहलाता है--

"वागीश्याः गर्भोद्भूतेः संसारप्रशमनेनानुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः" (स्व० त०, ४. ६०) उसका पुनः जन्म नहीं होता (-स्व० त०, १०, ११३२)। वागीशी के गर्भ से जन्म एवं संसार-प्रशम क्रमशः चार संस्कार -- जन्म,

भोग-भोक्तृत्व- लय व निष्कृति के माध्यम से विस्तारपूर्ण विधि, जिसे जननादि समन्विता दीक्षा कहा गया है, के द्वारा होता है। मध्यशक्तिपात के भागी शिष्यों को इन संस्कारों से युक्त विस्तृत विधि की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए जननादिविहीन संक्षिप्त दीक्षा का विधान किया गया है (तन्त्र., १८. १०)। इन दीक्षाओं का निरूपण तन्त्रालोक में श्रीमत्त्रैशिरस्, श्रीपूर्वशास्त्र, श्रीमद्दीक्षोत्तर, मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्दशास्त्र, श्रीब्रह्मयामल आदि शास्त्रों के आधार पर किया गया है।

विधि--

संस्कृत समयी को जब पुत्रकत्व, साधकत्व अथवा आचार्यत्व में तत्तद्दीक्षा द्वारा नियोजित करना हो तो गुरु, प्रथम दिवस अधिवास करके दूसरे दिन मण्डल-लेखन के पश्चात् सामुदायिक याग करता है (तन्त्रा., १६. १-२)। याग के अनन्तर गुरु अग्नि में मन्त्रचक्र का तर्पण करके उसे देवता को निवेदित करता है एवं प्रभु से इस प्रकार प्रार्थना करता है (तन्त्रा., १६. ७३)

"हे परमेश्वर! आपने गुरुरूप में मुझे, साक्षात्, स्वप्नोपदेश, जप अथवा गुरुमुख से यह आज्ञा दी थी कि तुम्हें शिवशक्तिपात से प्रेरित शिष्यों पर (साक्षात् स्वप्न, उपदेश, जप आदि के द्वारा) अनुग्रह करना चाहिये। तो ये उस प्रकार (शक्तिपातयुक्त) शिष्य प्राप्त हुए हैं, तुम इन पर अनुग्रह करो। स्वात्मरश्मियों के द्वारा मुझमें समाविष्ट हो जाओ जिससे मैं शिवरूप हो जाऊँ।" "एवं भवतु" इस शिवोक्ति का अभिनन्दन करते हुए गुरु स्वयं को शिव से अभिन्न पंचकृत्यकारी समझता है। इस प्रकार अग्नि-तर्पण के पश्चात् स्वयं के स्वभाव के दीपन के लिए करणरूप मन्त्रों को स्थूल-सूक्ष्म परापरादि देवियों एवं उनके मूर्त एवं अमूर्त स्वरूपों का स्वात्मा में अनुसन्धान करना चाहिये (तन्त्रा., १६.७४-७७ एवं मा०वि०त०, ८.३७-४२)। (हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र, मन्त्र जो क्रमशः निवृत्त्यादि कलाओं के वाचक हैं, करणस्वरूप होते हैं)। इसके पश्चात् नवात्ममन्त्र के द्वारा सात बार जप करके मन्त्रित सफेद पगड़ी को बाँध कर क्रम से हाथों की अर्चना की जाती है। दक्षिण हस्त से बायें को एवं वाम से दाहिने को गन्धमिश्रित जल से प्रक्षालित करना चाहिये। शुद्ध तत्त्व की सृष्टि के लिए तेजरूप मन्त्रों, जो परिवार एवं आसार से रहित मूलमन्त्र एवं तद्वक्त्ररूप हों, की शिवहस्त में अर्चना की जाती है (तन्त्रा., १६. ७८-६)। मालिनीविजय (८. ४३) में श्वेत उष्णीष बाँधने से पहले ही मूलमन्त्रादि की अर्चना का विधान है। इसके पश्चात् गुरु स्वयं एक होने पर भी विभिन्न जलों में प्रतिम्बित एक चन्द्रमा के समान, कृत्य एवं उपाधि के भेद से इन छः प्रकारों में स्वयं की भावना करता है--

१. मैं मण्डल में स्थित हूँ २. समस्त कार्यों का साक्षी हूँ ३. होम की अधिकरणभूत अग्नि में स्थित हूँ ४. याग समाप्त होने पर्यन्त विघ्नों की शान्ति के लिए कुम्भ में स्थित हूँ ५. शिष्य के पाशों के विश्लेष के लिए मैं शिष्यदेह में स्थित हूँ ६. अनुग्रह (दीक्षा) कर्म के कर्ता के रूप में साक्षात् स्वयं की देह में स्थित हूँ (तन्त्रा., १६.८१-६ एवं मा०वि०त०, ८.४७-४६)।

इस प्रकार भावना करके मन्त्री जिस अध्वा से शिष्य की दीक्षा करना चाहता हो, अनुसन्धान के लिए शिष्य

को छोड़ कर उन पाँच (अध्वा, इन्द्रिय अथवा भावितरूप) में यजन करता है (तन्त्रा., १६.८८ एवं मा०वि०त०, ६.५०)। उसे अपनी शिवात्मता का पुनः अनुसन्धान करना चाहिये, जिससे कर्म की अस्खलित सिद्धि होती है। मैं ही परमतत्त्व हूँ, कहीं पर भी घट के समान जड़रूप दूसरा कुछ नहीं है, महाप्रकाशरूप मुझ में इस सम्पूर्ण जगत् का सद्भाव है, यह बाहर से किसी के द्वारा प्रतिबिम्ब की भांति अर्पित नहीं है, मैं ही इसका कर्ता हूँ, यह मुझसे अधिष्ठित है, किसी अन्य के अधीन नहीं है। इस प्रकार की महाव्याप्ति की निरन्तर भावना करनी चाहिये जिसके संवेदन से पवित्र जन्तु मेरी समानता को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है (तन्त्रा., १६. ९०-३, ९०-३ एवं मा०वि०त०, ६.५२-५३)। इस प्रकार पुनः पुनः भावना करने से गुरु उसी प्रकार शिवात्मता को प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार तपाने, घिसने व सेकने से लोहे का गोला क्रमशः अग्निरूपता को प्राप्त कर लेता है।

इसके पश्चात् गुरु जिस अध्वा से दीक्षा देना चाहता हो, उसकी पुष्पादि से अर्चना करके उसका शिष्य के शरीर में न्यास करता है। पुत्रकदीक्षा में साक्षात् उपस्थित शिष्यदेह में न्यास होता है, जबकि परोक्षदीक्षा में दर्भादि से निर्मित शरीर में व मृतोद्धारी दीक्षा में मृत शरीर में अध्वा का न्यास किया जाता है (तन्त्रा., १६. ९४-९६)। तदनन्तर शोध्य के औचित्य के अनुसार ईप्सित शोधक मन्त्र का न्यास किया जाता है। कहीं-कहीं शोध्यन्यास के प्रभाव से ही शोध्य भी शुद्ध हो जाता है (तन्त्रा., ९७-८)। शिष्य की देह मे अपर, परापर एवं परविधि से षडध्व-न्यास किया जाता है (द्र. पृ०-९७--१०१) जिससे भूतशुद्धि हो जाती है।

जननादिसमन्विता विस्तृता दीक्षा

इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम शिष्य को सूत्र (उपवीत) प्रदान किया जाता है जो नर, शक्ति एवं शिव के त्रित्व का सूचक होने के कारण त्रिगुण होता है एवं आणव, मायीय एवं कार्ममलों की सूचक ग्रन्थियों से युक्त होता है। कर्म की आश्रयरूप भुजा, मायात्मा का आश्रय गला है एवं अधोवहा शिखा अणुत्व को धारण करती है, इसलिए बाहु, गले एवं शिखा में ग्रन्थियोगपूर्वक सूत्र-क्षेप का विधान किया गया है (तन्त्रा., १७.२-५)। वैदिक विधान में उपवीत को तेज, जल एवं अन्न का सूचक माना गया है, कुछ सम्प्रदाय तो इसके लिए शुक्ल, कृष्ण एवं रक्त सूत्र का ग्रहण करते हैं। इसके पश्चात् चिद्गगन मन्त्र सामान्यरूप अग्नि में समस्त मन्त्रों का तर्पण करके क्रमशः तत्त्वों की शुद्धि प्रारम्भ की जाती है।

तत्त्वशुद्धि

सर्वप्रथम स्वमन्त्रयोग से धरा का आवाहन किया जाता है एवं उसका पुष्पादि से यजन करके घी, तिलादि से तर्पण किया जाता है। इसके पश्चात् उन धरादि तत्त्वों को व्याप्त करने वाली मायातत्त्व की अधिष्ठात्री देवता वागीश्वरी का अपने मन्त्र से आवाहन करके तर्पण करना चाहिये (आवाहन में जगज्जननीरूप मातृका का एवं पूजन तर्पणादि में आप्यायकारिणी मालिनी मन्त्रों का प्रयोग किया जाना चाहिये (तन्त्रा., १७.१०६स द-११अ ब)। वागीश्वरी के आवाहन के लिए स्वमन्त्र है "ओं ह्रीं वां वागीश्वर्यै नमः"। धरा के आवाहन पूजन व होम के लिए क्रमशः "ओं धरायां क्ष, हे धरे त्वाम् आवाहयामि", "धरां नमः", "धरायै स्वाहा", आदि मन्त्रों का प्रयोग किया

जाता है (तन्त्रा., ८. स द -१३)। (तत्त्वों अथवा देवताओं का आवाहन तो पूर्णाहंपरामर्श स्वभाव वाले स्वात्म में एकात्मरूप से अभिमुखी भाव मात्र है जिसे शाक्ती दशा कहा गया है, पूर्ण ऐकात्म्य की प्राप्ति शैवी दशा है)। नमस्कार पूर्णता को, अग्नीन्दुसंघट्टात्मक स्वाहा परम आप्यायता को एवं वौषट् इससे भी अधिक आप्यायकारित्व को प्रदान करने वाले होते हैं। इसलिए आवाहन, पूजन, होम आदि में इनका यथोचित प्रयोग होता है।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के अनुसार मायापर्यन्त अध्वा के शुद्ध हो जाने पर उस विद्या का उसमें संतर्पण करके शिष्य का अस्त्र से ताडन करना चाहिये (६.५७)। जबकि तन्त्रालोककार के अनुसार मायाशक्ति वागीश्वरी का आवाहन, पूजन, तर्पण आदि करने के पश्चात् शिष्य के उन-उन तत्त्व-सम्बन्धी स्थानों (शरीर के जिन अंगों में पहले विभिन्न तत्त्वों का न्यास किया जा चुका है) का अस्त्र से प्रताड़न किया जाता है। इसके पश्चात् गुरु शिवहस्त से शिष्य के हृदय पर स्पर्श करता है एवं मन्त्रनाड़ी प्रयोग के द्वारा शिष्य से एकत्व स्थापित करता है। गुरु स्वयं के दक्षिण मार्ग (नासाग्र) से बाहर निकल कर शिष्य के वाममार्ग से हृदय में प्रवेश करके, शिष्य की आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करके, उसे हृन्मन्त्र के माध्यम से ग्रहण करते हुए, संहार मुद्रा के द्वारा हंसरूप में संपुटित करते हुए, उसे अपने हृदय में स्थित करता है, इस स्थिति में शिष्य का अपनी देह से उसका रश्मिमात्र सम्बन्ध शेष रहता है एवं वह गुरु तेज से प्रकाशित रहता है (तन्त्रा., १७. ३१-३३)। शिष्य को स्वयं के हृदय में स्थापित करने से वह अपने बन्धन के स्थान (पूर्वदेह) से छूट कर स्वतन्त्र स्थान प्राप्त कर लेता है जिससे वह अपने कर्मफलों से स्वतन्त्र होकर कहीं भी उत्पत्ति के योग्य होता है। इसलिए अपने हृदय में आनीत उस पुर्यष्टक (पंचतन्मात्र, मन, बुद्धि व संस्कार) को पुद्गल स्वरूप बनाकर माया-शक्ति वागीश्वरी में योनिमुद्रा के द्वारा स्थापित करता है एवं उसके पृथ्वी-सम्बन्धी शरीरों की रचना करता है एवं शिष्य के गर्भाधान से प्रारम्भ करके पाशच्छेद-पर्यन्त किए जाने वाले संस्कारों को निम्नलिखित चार प्रमुख संस्कारों के अन्तर्गत किया जाता है जिनमें मन्त्रपंचदशक (पिन्यादि अष्टक, शस्त्रादिषट्क व परामन्त्र) अथवा केवल परामन्त्र को नियोजित किया जाता है (तन्त्रा., १७. ३४-६)।

१. गर्भनिष्पत्ति--

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, गर्भनिष्क्राम आदि सभी संस्कारों को एक साथ करने के लिए गुरु, अपरामन्त्र का प्रयोग करके अमुकात्मा मैं गर्भाधान करता हूँ, पुनः उसी मन्त्र का प्रयोग करते हुए अन्त में स्वाहापूर्वक तीन आहुतियाँ देता है।

२. भोगभोक्तृता--

इसके पश्चात् जनन एवं भोगभोक्तृत्व संस्कार के लिए परापरामन्त्र (द्र.पृ० २७८-७९) का प्रयोग करके अमुकात्मा मैं उत्पन्न हुए इस (शिष्य) का भोगभोक्तृत्व करता हूँ, पुनः परापरा मन्त्र का उच्चारण करके स्वाहापूर्वक तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिए।

३. लय---

भोगों में तन्मयता अथवा लयरूप संस्कार के लिए गुरु पिवनी मन्त्र का उच्चारण करके अमुकात्मा मैं इस

(शिष्य) का भोग में लय करता हूँ, पुनः उस मन्त्र का उच्चारण करके स्वाहासहित आज्य तिलादि की तीन आहुतियाँ दे (वमन्यादि पंचदशान्तक मन्त्रों के साथ भी यही विधि होती है)।

४. निष्कृति--

तत्त्वपाशों के विच्छेद के लिए किए जाने वाले संस्कार के अन्तर्गत पहले परामन्त्र का उच्चारण करके अमुकात्मा मै पाशच्छेद करता हूँ, इसके पश्चात् पुनः परामन्त्र का उच्चारण करके हुं, स्वाहा, फट् का उच्चारण करते हुए तीन आहुतियाँ देनी चाहिये।

इन चारों संस्कारों में जो मन्त्र कहे गए है उनमें कर्मपद से पहले धरातत्त्वपद को कहा जाता है, तदनन्तर धरातत्त्वपति को आमन्त्रित करके, यज्ञ करके व तर्पण करके, शिवाभिमान से युक्त गुरु इस प्रकार आज्ञा देता है- "हे तत्त्वेश्वर! इस पुत्रक की शिवाज्ञा से अनामय-पद के प्रति यात्रा में तुम्हें उपरोध उपस्थित नहीं करना चाहिये"। इसके पश्चात् यदि इच्छा हो तो धरातत्त्व के अन्तराल में स्थित भुवनादि अध्वपंचक का पृथक्तः शोधन करने के लिए मन्त्री पूर्ववत् अपरा मन्त्र से तीन-तीन आहुतियाँ दे सकता है। साथ ही उसे 'इस पुर का शोधन करता हूँ' यह ऊहा करनी चाहिये (तन्त्रा., १७.४०-५१ ; तुलनीय, मा० वि० त० ६. ६०-६५)। इसी प्रकार बुद्धिमान् गुरु कला, मन्त्र, पद, वर्णों में भी पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ तीन-तीन आहुतियाँ देता है। इसके पश्चात् गुरु के द्वारा वौषडन्त परामन्त्रपूर्वक पूर्णाहुति देकर, अपरा मन्त्र से शिष्य का उद्धार करके उसे अपने अर्थात् गुरु के हृदय में ले जाना चाहिये (तन्त्रा., १७.५२-३ एवं मा०वि०त०, ६, ६६.७)।

मतान्तर---

तत्त्वशुद्धि-- शिष्य का आत्महृद यानयन एवं दी जाने वाली आहुतियों के विषय में प्रचलित मतान्तरों का तन्त्रालोक में, नामोल्लेख के बिना, निरूपण किया गया है। इसके अनुसार षडध्वा में से एक अध्वा में ही सभी को अन्तर्भूत मान कर उसका चिन्तन करने से, एक अध्वा के माध्यम से समस्त अध्वाओं की शुद्धि हो जाती है, उनका पृथक्-पृथक् शोधन करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब पूर्णाहुति देकर, अणु (शिष्य) को उठा कर स्वयं से संयुक्त करना चाहिये। कुछ गुरुजनों का यह मानना है कि शिष्य को गुरु में स्थित करने के लिए कर्मपद अर्थात् "अमुकात्म शिष्य को मै आत्मस्थ करता हूँ" के साथ अपरामन्त्रपूर्वक तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। अन्य गुरुजनों का यह मानना है कि यह कार्य भावनामय होने से, दैशिक को बाह्याहुति देने की आवश्यकता नहीं है। यदि आहुति दी जाती है तो उससे कोई दोष उत्पन्न नहीं होता, वह भावना का उपाय बन जाती है। इस प्रकार गुरु पूर्वोक्त मन्त्रनाड़ीप्रयोग से शिष्य को अपने हृदय में स्थापित करता है। तब तक धरादि अध्वाओं की भी शुद्धि हो जाती है उस शुद्धि की दृढ़ता के लिए परामन्त्रपूर्वक पूर्णाहुति दी जाती है। उससे विपरीत अर्थात् आत्मा से धरापर्यन्त शुद्धि के लिए अस्त्ररूप महापाशुपत मन्त्र से वौषट् अन्त वाली आहुति देनी चाहिये। इसके पश्चात् पूर्णाहुति देकर, माया देवी वागीश्वरी की अर्चना करके उनका विसर्जन कर देना चाहिये (तन्त्रा., १७. ५४-६० एवं मा०वि०त०, ६. ६८-६)।

इस प्रकार शिष्य देह में क्रमशः (१) पाशसूत्रावलम्बन (२) षडध्वा का संधान (३) उसका होम (४) अध्वव्याप्ति का अवलोंकन (५) अध्वोपस्थापन (६) तत्पूजा (७) होम (८) तदन्तर्भूत पाशत्रयचिन्तन (९) कलाशक्ति समन्वित आधारशक्ति का न्यास (१०) वागीशीका सन्निधापन (११-१२) उसकी पूजा एवं होम (१३-१४) शिष्य का संप्रोक्षण व ताडन (१५) उसके चैतन्य का आकर्षण (१६) द्वादशान्त में उसकी स्थापना (१७) वहाँ से उसका ग्रहण (१८) अपने हृदय में योजन (१९) अपने द्वादशान्त में पहुँचाना (२०) वागीशी के गर्भ में स्थापित करना (२१) नानागर्भनिष्पत्ति होम। इन इक्कीस संस्कारों के द्वारा पुत्रक का जन्म नामक संस्कार किया जाता है (स्व० त०, ३.४,११८)।तदनन्तर शिष्य के पाशों का दहन करने के लिए जलतत्त्व के चिदात्मक आकाश में, अग्नि में आवाहन, तर्पणादि समस्त कर्म किए जाते हैं जब तक कि वह तेज से मिश्रित नहीं हो जाता। इस प्रकार क्रमशः कलातत्त्व की शुद्धि होने पर भुजाश्रित पाश का छेदन किया जाता है क्योंकि कला किंचित्कर्तृत्व का उन्मूलन करने वाली होती है। कार्म मल को सूचित करने वाली भुजा पर स्थित उस सूत्रग्रन्थि को स्रुक् में रख कर पूर्णाहुति के साथ मन्त्र तेज से युक्त अग्नि में जला दिया जाता है (तन्त्रा., १७.६४-६६, एवं मा० वि० त०, ९.७०)। "मायातत्त्वपर्यन्त शुद्धि हो जाने पर गले पर आश्रित सूत्रग्रन्थ को पूर्णाहुति के द्वारा, इसके समस्त शुभ, अशुभ, भूत, वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले कर्मों को जला रहा हूँ" इस प्रकार फट्त्रय व अन्त में वौषट्पूर्वक पूर्णाहुति देनी चाहिये एवं कण्ठपाश का हवन किया जाना चाहिये। "उस शिष्य के माया नामक भेदप्रथात्मक मल को जलाता हूँ" इस प्रकार फट्त्रयपूर्वक वौषडन्त पूर्णाहुति देनी चाहिये। यदि निर्बीज दीक्षा देनी हो तो दूसरी आहुति दी जाती है (अन्यथा नहीं)। यह समय-पाश नामक बीज को जला देने वाली निर्बीज दीक्षा होती है (तन्त्रा., १७. ६९-७२, एवं मा०वि०त०, ९.७१)।

मायातत्त्वपर्यन्त शुद्धि हो जाने पर जो पहले मायाशक्तिमयी वागीशी थी, वही अब विद्याशक्ति बन जाती है। उस शुद्ध विद्या का आवाहन करके विद्याशक्ति का नियोजन किया जाता है। इस प्रकार क्रमशः सदाशिवपद के भी शुद्ध हो जाने पर ग्रन्थियुक्त शिखा को काट कर उसके साथ आणव मल को भी जला दिया जाता है। सदाशिव पद में अधिकार व भोग नामक दो पाश होते हैं। शिखा के साथ आणव-मल के दग्ध हो जाने पर मायीय मल तो निशापर्यन्त ही रहता है। इसके पश्चात् प्रातः काल में शिष्य व दैशिक यथोचित स्नान आचमनादि करते हैं (तन्त्रा., १७.७४-७८ब)।

इस प्रकार पुत्रक दीक्षा के अन्तर्गत अध्वसंधान से लेकर वागीशी के विसर्जन-पर्यन्त क्रमशः अध्वसंधान, अध्वापस्थान, वागीशीगर्भयोजन, तद्गर्भयोजन, तदंगनिष्पत्ति, जन्म, अधिकार, भोग, लय, निष्कृति, विश्लेष, पाशच्छेदहोम, पाशहोम, पूर्णाहुतिपूर्वक होम, उद्धारहोम, तत्स्थीकरण, ब्रह्मतर्पण, पुर्यष्टकांशार्पण-होम आदि संस्कार अथवा तत्सम्बन्धी होम किए जाते हैं (स्व.त.उ., ४.१४०)।

गुरु, शिष्य के पाशों का दहन करने के पश्चात् पूर्वोक्त सम्पूर्ण प्रमेयों का चिन्तन करते हुए, शिष्य के देहादि

को अपने देह-प्राणादि से संयुक्त करते हुए अपने देह-प्राणादि में सम्पूर्ण विश्व का स्मरण करता है। इस प्रकार उक्त प्रक्रिया से एकाग्रचित्त होकर दृढ़ बुद्धि गुरु, देशाध्वा व कालाध्वा को प्राणों में स्थित करके व प्राणों को शक्ति में स्थित करते हुए, उस संविद् में स्थित शुद्ध शिवरूप-संवित् का मन्त्र, अग्नि आदि से अभिन्नरूप में ध्यान करते हुए शिष्यसंवित् से अभिन्नरूप में एवं सकल व निष्कल शिव का ध्यान करता है एवं पूर्ववत् प्रयोग से, प्रशान्तकरण से द्व्यात्मक (सकलनिष्कलरूप) अथवा पूर्णाहुति-क्षेप करना चाहिये (तन्त्रा., १७.७६-८२)।

श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया है कि स्रुक् को घी से भर कर, शिष्य को आत्मस्थ करके, मूलमन्त्र का स्मरण करते हुए शिव, शक्ति, स्वयं, शिष्य, घी तथा अग्नि का एकीकार करते हुए एकाग्रचित्त होकर, धीरे-धीरे द्वादशान्त में प्रवेश करना चाहिये, वहाँ कुम्भकपूर्वक रुककर सकल व निष्कल स्वरूप का ध्यान करते हुए तब तक अविचल रहना चाहिये जब तक आज्यक्षय नहीं होता (तन्त्रा., १७.८८-९०)। इस प्रकार बाह्य अग्नि में घी के होम एवं भीतर की बोधाग्नि में विकल्प संस्कारों के होम की प्रक्रिया एक साथ चलती है। इस प्रकार शिवस्वरूप गुरु के द्वारा परमतत्त्व में संयुक्त कर दिए जाने पर मायात्मक बन्धनों के नाश से पुनः पशुत्व-प्राप्ति नहीं होती है। यदि किन्हीं तत्त्वों के भोग की इच्छा शेष हो तो गुरु अनन्यचित्त होकर अन तत्त्वभूमियों में शिष्य का योजन आहुतिपूर्वक योजनिका विधि से कर देता है। इस प्रकार शिष्य को भोगदीक्षा अथवा सबीजदीक्षा दी जाती है (तन्त्रा., १७.९१-९३)।

श्रीमद्दीक्षोत्तरशास्त्र में कहा गया है कि षट्त्रिंशदंगुल प्राणचार में, तत्त्वों का, पैरों से लेकर सिरपर्यन्त भुवनों का क्रमशः त्याग करना चाहिये। 'जो निष्कल, देहरहित, अहंपरामर्शात्मक तुटिमात्र है उसे शक्ति के द्वारा वहाँ भेजता हूँ,' इस प्रकार ध्यान करते हुए दीक्षा दी जानी चाहिये (तन्त्रा., १७.९७-९८)।

सबीज-दीक्षा में समय पाशों का शोधन नहीं किया जाता। गुरु शिष्य के जीवनपर्यन्त शेषवृत्ति के लिए पूर्णाहुति के द्वारा शुद्धतत्त्वसृष्टि कर देता है। गुरु पूर्णाहुति प्रदान-काल में अभिन्न शिवबोधरूप सागर से एक साथ स्फुरित होकर प्रसृत होते हुए कान्तिमान तत्त्वजाल का ध्यान करता है। अन्य आचार्यों के मत में कुम्भाभिषेचन से विशुद्धतत्त्वसृष्टि करनी चाहिये अथवा ध्यानबल से अथवा पूर्णाभिषेक से ही शुद्धतत्त्वसृष्टि की जानी चाहिये (तन्त्रा., १७. १००-२)।

शुद्धतत्त्व सृष्टि

स्थिररूपा पृथ्वी की शिवरूप में भावना करने पर उस भावना को दृढ़ करती हुई उसकी शुद्धि हो जाती है। इस भावना से ही जल आप्यायनकारी एवं तेज कान्तिप्रदान करने वाला, वायु आनन्दस्पर्शकारी एवं आकाश विस्तार को धारण करने वाला होता है। इस प्रकार शुद्ध तन्मात्रवर्ग शिवतामय हो जाता है। इसी प्रकार अशेष मलों से रहित परानन्दमहाव्याप्ति से परिपूर्ण होकर कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ शिवस्वरूपता का अनुभव कराने लगती हैं, यही मन की भी शुद्धता है। षट्कंचुक भी अपना आवरणकारी स्वरूप त्याग कर शिवैक्यभाव को दृढ़ता प्रदान करने लगते हैं। पुरुषतत्त्व शुद्ध ही है व शिवभाव को प्राप्त करके विशुद्ध हो जाता है। विशेषादि तत्त्वों में

कोई अशुद्धता होती नहीं है। इस प्रकार शुद्धतत्त्वसृष्टि में शिष्य भी तन्मय हो जाता है(तन्त्रा. ,१७.१०३–११)।

जननादिरहिता संक्षिप्ता–दीक्षा

तीव्रशक्तिपात के भाजन शिष्यों की शिवतापत्ति के लिए प्रदान की जाने वाली संक्षिप्त दीक्षा का दीक्षोत्तर, कैरण, ब्रह्मयामल आदि शास्त्रों में विधान किया गया है। इस दीक्षा में अधिवास, निश्चित भूमिग्रहण करके मण्डलादि–निर्माण, जननादि संस्कारों की आवश्यकता नहीं है। तत्वज्ञानी गुरू किसी भी प्रदेश में शिव की पूजा करके मन से अध्वा का ध्यान करके दीक्षा दे देता है जिस अध्वा के द्वारा गुरू दीक्षा देता है, शिव–भावना से भावित होकर उसका एकतत्त्व पर्यन्त शोधन करना चाहिए। "इस (शिष्य) के इस तत्त्व का शोधन करता हूँ" तत्पश्चात् स्वाहा इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व की शुद्धि करनी चाहिये। समस्त तत्त्वों के शुद्ध हो जाने पर पूर्णाहुति देनी चाहिये। सम्पूर्ण तत्त्वों की एक साथ शुद्धि भी अन्य मन्त्रों से समस्त रूप में की जा सकती है। नाम (शिष्य अथवा देवता का) को परामन्त्र से संपुटित (आगे व पीछे दोनों ओर प्रयोग) करके , स्वाहान्त प्रथमान्तक एक सौ आठ अथवा शक्ति के अनुसार एक हजार आठ आहुतियाँ देनी चाहिए। तदनन्तर पूर्णाहुति दी जाती है। इस प्रकार शोध्यादि से रहित दीक्षा की यह उत्तम विधि महेश्वर ने किरणावली में बताई है(तन्त्रा.,१८.१–६)।

तत्त्वों का शोधन मातृकायुग्म वर्णो से किया जाय अथवा पिन्ड मन्त्रों से सभी मन्त्रों में पूर्वोक्त विधि का ही प्रयोग होगा। शिष्य के स्वभ्यस्तज्ञान के स्तर व तन्मयताप्राप्ति की योग्यता के अनुरूप ही गुरु को संक्षिप्त विधि करनी चाहिये (तन्त्रा., १८ .७–६)।

कुलयाग के अन्तर्गत दी जाने वाली पुत्रक–दीक्षा जो प्रस्तुत दीक्षा–विधि से भिन्न है, का रत्नमालाशास्त्र के अनुसार निरूपण इस प्रकार है––

पुत्रक दीक्षा के अन्तर्गत सर्वप्रथम शिष्य की देह में शिखापर्यन्त, ज्वलनशील कान्तिमान नादिफान्त मालिनी का न्यास किया जाना चाहिये। इसके द्वारा देह में रूद्र–शक्ति का आवेश होता है। इसके पश्चात् सामान्य पुत्रक–दीक्षा में निर्दिष्ट विधि से शिशु में शोध्य अध्वा का न्यास किया जाता है एवं उस निर्मल देह को गुरु स्वयं शक्तिमय होते हुए ध्यान के माध्यम से पैरों से सिर पर्यन्त पाशदाहिका, दीप्तिमय शक्ति से युक्त करता है।इसके पश्चात् गुरु शिष्य के शोधनीय अध्वा के अन्तर्गत प्रारम्भ से अन्त तक शोध्यों का शक्ति के द्वारा दाह किए जाते हुए चिन्तन करता है। इस प्रकार समस्त तत्त्वों का पूर्वनिरूपित विधि से शोधन हो जाने पर गुरु को पुत्रक की दृष्टि से शिव के निष्कलरूप में एवं साधक के लिए सकल रूप में शक्ति के लय का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार योगी के द्वारा शक्ति को मध्यधाम में नियोजित किए जाने से वह सजातीय चैतन्य का पोषण करती है एवं विजातीय मलादि का दहन करती है। इस प्रकार शोधन किए जाने पर रुद्रशक्ति शिशु के शरीर में आविष्ट होकर चैतन्य, आकाश, प्राण, अन्तर एवं बाह्य से सम्बन्धित क्रमशः आनन्द, उद्भव, कम्पन, निद्रा एवं घूर्णि आदि लक्षण देह में उत्पन्न करती है(तन्त्रा.,२६.२०१–८)।

वैदिक विधि में उपनयन संस्कार के द्वारा शिष्य का दूसरा जन्म माना गया है। इसी प्रकार पुत्रक दीक्षा के

द्वारा भी शिष्य को द्विजत्व-प्राप्ति होती है। वैदिक विधि की अपेक्षा तान्त्रिक विधि के आधार पर पुनर्जन्म का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। इसमें पितृतुल्य गुरु योनिमुद्रा के द्वारा शिष्य को वागीश्वरी देवी में स्थापित करता है, जो शिशु की माता मानी गई है।

पारोक्षीदीक्षा

शिष्य के स्वदेह से साक्षात् उपस्थित न होने पर भी, उस पर हुए शक्तिपात का ज्ञान होने पर गुरु द्वारा दी जाने वाली दीक्षा पारोक्षीदीक्षा होती है। शिष्य की अनुपस्थिति दो प्रकार से सम्भव है। शिष्य की मृत्यु हो जाने पर अथवा जीवित शिष्य अन्यत्र स्थित हो। जीवित एवं मृत के लिए विधि में थोड़ा-सा अन्तर होते हुए दोनों को ही परोक्षदीक्षा दी जाती है। मालिनीमत की उक्ति "भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति" में प्रति साम्मुख्य का वाचक है एवं यहाँ शिष्य साक्षात् सम्मुख नहीं है, तथापि इनमें विरोध नहीं है क्योंकि साम्मुख्य का तात्पर्य गुरु की कृपास्पदता है (तन्त्रा., २१. १-३)।

पारोक्षीदीक्षा के अधिकारी वे व्यक्ति होते हैं---

१. जो गुरु की सेवा करते-करते ही दीक्षा प्राप्त किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो गए,

२. मृत्युक्षण उपस्थित होने पर यदि सद्यः समुत्क्रान्तिदीक्षा न दी गई एवं मृत्यु हो गई हो,

३. अधर (वैदिकादि) तन्त्रों के अनुसर्ता, लिंगोद्धार व समयदीक्षा को प्राप्त कर लेने पर भी यदि परादीक्षा को प्राप्त किए बिना पंचत्व को प्राप्त हो गए हों एवं

४. डिम्बाहत, योगेशीभक्षित अथवा विषादि के द्वारा अथवा यन्त्र-तन्त्रादि के द्वारा मारे गए, स्वसमय से भ्रष्ट अथवा पुत्रकादि दीक्षा को प्राप्त शिष्यों के भी मरणोपरान्त, उसके सम्बन्धी, पत्नी, मित्र अथवा पुत्र के द्वारा अत्यधिक प्रार्थना किए जाने पर अथवा गुरु के मन में स्वयं उसके विषय में करुणा उत्पन्न होने पर, उस करुणा के माध्यम से उस (शिष्य) पर होने वाले शक्तिपात को जान कर गुरु शिवदायिनी मृतोद्धारी दीक्षा देता है (तन्त्रा., २१. ६-१०)।

श्रीमृत्युंजय एवं सिद्धाशास्त्रों के अनुसार अदीक्षित, राजादि, आलस्ययुक्त, पतित, बालक, रोगी, स्त्री, वृद्ध आदि के मर जाने पर मृतोद्धार दीक्षा दी जानी चाहिए (तन्त्रा., २१. १२)। तन्त्रालोक में प्रस्तुत दीक्षा विधि का निरूपण मालिनीतन्त्र के आधार पर किया गया है।

विधि

मृतोद्धारी दीक्षा के अन्तर्गत पूर्वोक्त विधि संक्षेप में की जानी चाहिए। इसमें गुरु की पूजा, अधिवास, चरुसिद्धि, शय्याकल्पन, मण्डलनिर्माण आदि विधियाँ नहीं की जाती हैं क्योंकि वे शिष्य के संस्कार एवं स्वप्नदर्शन के लिए होती हैं (और यहाँ शिष्य है ही नहीं)। मन्त्र-सन्निधि, मण्डल-कल्पन व देवार्चन इसमें परम्परया उपकारक होने के कारण किए जाते हैं (तन्त्रा., २१.१३-१५)।

मण्डलनिर्माण करके उसमें देवता की अर्चना करके, कुशों अथवा गोबर से द्वादशांगुल आकृति बनाकर शिष्य

के समान स्थापित करनी चाहिए। तदनन्तर उस आकृति में व्याप्ति-भावना से एक शोध्य अध्वा का प्रकृति-पर्यन्त न्यास करके पुनः इस विधि का आचरण करना चाहिए। इसके अन्तर्गत समस्त अध्वाओं के बीच में से महाजाल-प्रयोग के द्वारा उस (शिष्य) के चित्त को आकृष्ट कर के उस आकृति में स्थापित किया जाता है (तन्त्रा., २१.२२-२४)। यह विधि रागद्वेषरहित, अभ्यासवान् गुरु के द्वारा ही की जानी चाहिए।

महाजाल-प्रयोग---

आचार्य शिवाहंभावना-(मैं निष्कम्प, सकल, शान्त, सर्वव्यापी परमशिव, परमात्मा हूँ, मेरे द्वारा संपूर्ण जगत् व्याप्त है) पूर्वक स्वात्म में स्थित रहते हुए मूलाधार जन्मस्थान से उठकर रेचक तदनन्तर पूरक, फिर कुम्भक के पश्चात् सम्पूर्ण वायु को धीरे-धीरे छोड़ देता है, रेचक के पश्चात् पुनः प्राणशक्ति जो सम्पूर्ण देह में प्रसृत एवं व्यापक साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों में संचरण करती है (विस्तारार्थ द्रष्टव्य, कविराज गोपीनाथ, भा.सं. और सा. १, पृ० २६३ - ४ एवं ४६७ - ८.) को प्रबुद्ध करके, ऊर्ध्वाक्षर गमन करने वाले प्राणापान के स्पष्ट प्रवाहात्मक होने के कारण, जो उनका मार्गरूप दण्ड है उसमें स्थित तद्रूप प्राण को, शाक्त बल से, स्वयं के वश में करके, हृदयादि के उल्लंघनक्रम से नासारन्ध्र के अग्रभाग में पहुँचा कर, विक्षेप करते हुए बाहर सब ओर फैला देता है। विशेष का उपादान नहीं करने के कारण (वह प्राण) विश्व को व्याप्त करने में समर्थ होता है। गुरु, धुएँ के समान फैले हुए अपने (प्राण) रश्मिसमूह से सम्पूर्ण अध्वा को आच्छादित करके, अशुद्ध अध्वा के मध्य में स्थित अभीष्ट जीव को शीघ्र ही मत्स्य के समान ले आता है, अर्थात् प्राणकरण आदि के एकीकारपूर्वक आकर्षित करता है (तन्त्रा., २१.१५)। मायाबीज "ह्रीं" के आमर्श के द्वारा शिष्य को आकर्षित किया जाता है। गुरु,यह अमुक नाम वाला शिष्य है,जिसे संहारक्रम से पहले दण्ड अर्थात् रेफ को शाक्तपरिस्पन्दात्मक वीर्य हकार से आक्रमित करके, उसके पश्चात् नासास्थित ईकार को चारों ओर स्थित ज्योतिरूप शिखाजालस्वरूप बिन्दु के द्वारा आच्छादित करके अभीष्ट जीव को ले आता है (विवेक, २१.२५)। मछुए के द्वारा जाल में मछली पकड़ने के समान गुरु के द्वारा अभीष्ट जीव को आकर्षित कर लेने के कारण इसे महाजाल नामक प्रयोग कहा गया है।

इस प्रयोग के द्वारा आच्छादनीय अध्व-चक्र परवश होता हुआ आकर्षणकर्ता के सम्मुख पहुँच जाता है, तत्पश्चात् उसके मध्य से या तो सकल (सम्पूर्ण) जीव अथवा अभीष्ट एक जीव आकर्षित किया जाता है। इस योग का श्रीशम्भुनाथ ने आगम में आकर्षणीय मृतजन के आकर्षण व उद्धार के प्रसंग में उपदेश दिया था। इसमें पाशव प्राण गौरवशाली प्राणों से उसी प्रकार एकीकृत हो जाते हैं जिस प्रकार चिरकाल से विघटित सेनायुगलों के फिर मिलने पर घोड़े, हाथी व मनुष्य अपनी-अपनी जाति से मिल जाते हैं (तन्त्रा., २१.२६-२७)। उस देह में स्थित रहते हुए भी वह जीव जालबल से दर्भनिर्मित देह को चेतन न करता हुआ भी व्याप्त कर लेता है। जो भी सोया हुआ अथवा मृत जीव जाल से आकृष्ट किया जाता है वह उस दार्भ अथवा फलमय देह में पहुँच जाता है। जालक्रम के द्वारा आनीत जीव सुप्तवत् स्थित रहता है। मन सहित देहादि के नहीं होने से वह न कुछ जानता है, न बोलता है, न स्पन्दित होता है और न ही इच्छा करता है। गुरु उस देह में पूर्वोक्त सभी संस्कारों को, पहले के

समान करके, निर्बीजदीक्षायोग से योजनिका विधि को करके उसे पूर्णाहुति के साथ अग्नि में फेंक देता है। दाभदेह के पूर्णाहुति के साथ मन्त्राग्नि में अर्पित किए जाने पर जीव पाशों से मुक्त होकर पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करता हुआ, शिव को प्राप्त करता है (तन्त्रा., २१. ३३-४०)। विज्ञानशाली गुरु के द्वारा आकर्षित जीव मृत्यु के पश्चात् प्राप्त अपनी प्रेत, तिर्यक् आदि योनियों को भी तत्काल छोड़ देता है। किन्तु यदि वह मनुष्यदेह में स्थित हो तो वह तत्काल उसे नहीं छोड़ता है, देहान्त होने पर उसकी मुक्ति होती है। उस समय तो उस देह में ऊहा से, विज्ञान से अथवा आचार्य की सेवा से विशिष्ट प्रकार की परा शांकरी भक्ति उत्पन्न हो जाती है (तन्त्रा., २१.२८ एवं ३१-२)।

जीवित व्यक्ति की परोक्ष दीक्षा निर्बीज होती है। इसके अन्तर्गत दर्भ की आकृति में जालयोग से संकल्प-मात्र से जीव का आकर्षण किया जाता है (अन्यथा मृत्यु का भय रहता है)। उस आकृति के मन्त्राग्नि में विप्लोष को छोड़कर शेष विधि पहले के समान है (तन्त्रा., २१.४३-४)।

मतान्तर---

परोक्षदीक्षा की कर्मपद्धति के विषय में श्रीमान् धर्मशिव का कथन है कि परोक्षदीक्षा में पूर्णाहुति देते समय यदि अग्नि चिटिचिटा शब्द करती है और धुँए के साथ नीले बादल की - सी छाया को प्रकट करती है, क्षण भर जलती है, फिर शान्त हो जाती है, उसका विस्तार भयंकर है और अगर नीचे धरती की ओर गमन करती है, यदि कौए आदि के अशुभ शब्द सुनाई देते हैं, तो गुरु उस शिष्य को ब्रह्महत्या आदि पापों और तत्सम्बन्धी उपपातकों से युक्त जाने व उसकी दीक्षा प्रस्तुत विधि से उसका शोधन किए बिना नहीं करनी चाहिये।

फट् से संपुटित नवात्मा व पुनः पांच बार फट् से युक्त "अमुक शिष्य के पापों को जलाता हूँ, पुनः आठ फट् का उच्चारण करते हुए तिल-तण्डुल से हजार बार हवन करना चाहिये। अन्त में पूर्णाहुति देकर इस दीक्षा के द्वारा परतत्त्वयोजनपर्यन्त तत्त्वों का शोधन करना चाहिये (तन्त्रा., २१.५०-५५)। न केवल परोक्ष अपितु प्रत्यक्ष-दीक्षा विधि में भी जीव के पापी होने पर इसी विधि का आचरण किया जाना चाहिये। यदि दैशिक भलीभाँति दीप्त न हो तो पहले उसे प्रायश्चित्त, दान, प्राणायामादि से स्वयं का शोधन करना, तदनन्तर इस विधि का आचरण करना चाहिये (तन्त्रा., २१.५७-८)। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी गुरु तो इच्छा से ही पशुओं का उद्धार कर देता है।

मृतोद्धार दीक्षा का उल्लेख श्रौत-विधि में भी मिलता है। शतपथब्राह्मण (२.५.१.१३.१४) के अनुसार यदि आहिताग्नि प्रवास में मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसकी अस्थियाँ मंगवा कर काले मृगचर्म पर फैला देनी चाहिये और उन्हें मानवाकार में सजा देना चाहिये। इन्हें रुई एवं घृत एवं श्रौत अग्नियों तथा यज्ञ पात्रों के साथ जला डालना चाहिये। यदि अस्थियाँ न प्राप्त हो सकें तो स्मृतिकारों ने ऐतरेयब्राह्मण (३२.१) एवं प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि पलाश की तीन सौ साठ पत्तियों से काले मृगचर्म पर मानव-पुत्तल बनाना चाहिए और उसे उन के सूत्रों से बाँधना चाहिये, उस पर जल से मिश्रित जौ का आटा डाल

देना चाहिए और घृत डाल कर मृतक की अग्नियों एवं यज्ञपात्रों को जला डालना चाहिये (पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृ० ११३३.)।

इस प्रकार श्रौत एवं तान्त्रिक दोनों ही विधानों में व्यक्ति के साक्षात् उपस्थित न होने पर भी उसके उद्धार के लिए उपाय किया जाता है।

अन्त्येष्टि-दीक्षा--

वैष्णवादि अधर तन्त्रों के आश्रित एवं शैवशास्त्रों पर आश्रित वे व्यक्ति जिन पर समयभंग का दोष है अथवा जो मन्त्रादि के द्वारा मारित एवं नरक में पतित हैं, की मृतोद्धार दीक्षा के स्थान पर अन्त्येष्टि दीक्षा की जाती है। इस विषय में श्रीदीक्षोत्तरशासन प्रमाण है (तन्त्रा. २४. २-४)।

अन्त्येष्टि दीक्षा की विधि तन्त्रालोक में श्रीसिद्धातन्त्र, कुलगह्वरतन्त्र एवं श्रीमाधवकुल के आधार पर निरूपित है। इसमें मण्डलादि का निर्माण नहीं किया जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार श्मशान में मण्डल-निर्माण भी करना चाहिये एवं विभु की पूजा करके न्यासादि कार्यों को भी करना चाहिये।

विधि--

मृतोद्धार दीक्षा में जो क्रियाएँ कुशनिर्मित शरीर में की जाती हैं वे सब यहाँ शव शरीर में की जानी चाहिए। सिद्धातन्त्र में निरूपित विधि के अनुसार जिन मन्त्रवर्णादि का सामान्यतया अन्त में प्रयोग किया जाता है, उनका आरम्भ में एवं प्रयोज्य मन्त्रों का अन्त में विनियोग कर के संहार-क्रम से यजन किया जाना चाहिए, अर्थात् अन्त से प्रारम्भ करके अन्त तक इष्टि कार्य करना चाहिये। यह अन्त्येष्टि समयी एवं पुत्रक, जिनके पाशों का शोधन न किया गया हो, के लिए की जानी चाहिये। इसके द्वारा पिण्डपात होने पर शिष्य मुक्त हो जाता है अथवा खेचर हो जाता है। देहादि में अहं भाव से रहित तत्त्वज्ञानी आचार्य की अन्त्येष्टि इस प्रकार नहीं की जाती है (तन्त्रा., २४.६-६ब)।

कुलगह्वरशास्त्र के अनुसार आचार्य बिन्दु (प्राण) के द्वारा महाजालयोग से आकृष्ट पाशवतत्त्व (प्राण) को अपने हृदय में अभिन्न भाव से निरुद्ध करता है, इसके पश्चात् उसका मध्य-धाम में प्रवेश करवाते हुए वहाँ से ऊपर-ऊपर ले जाते हुए शक्ति बीज अमृत वर्ण से अनुविद्ध करता है एवं नादस्थान में रौद्रग्रन्थि के विभेदन-पूर्वक स्पन्द का ग्रहण करवाता है एवं वहाँ से त्रिशूलबीज से द्वारा ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त आस्फालित करता है। इसके पश्चात् परिपूर्ण चन्द्रमा के समानरूप को धारण करने वाले, समस्त अतीतावस्थाओं पर आश्रित विसर्ग के द्वारा, बार-बार सोलह कलाओं को अपने से अभिन्न रूप से आक्रान्त करते हैं जिससे उद्धरणीय पशु कम्पित होता है अथवा उसका बायाँ हाथ उठ जाता है। इसके पश्चात् विश्वास उत्पन्न करके उसका पूर्ण संविद्रूप परतत्त्व से योजन किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २४.१३-१५)।

दीक्षोत्तरशास्त्र में शिष्य के पुर्यष्टक-अर्पण की विधि इस प्रकार निरूपित है। चतुर्दल कमल के मध्य में सदाशिव को एवं ईश्वर, रुद्र, हरि एवं ब्रह्मा की क्रमशः पूर्व, दक्षिण, उत्तर एवं पश्चिम दिशाओं में पूजा करके

ब्रह्मा को श्रुति एवं स्पर्श का, हरि को रस एवं गन्ध, रुद्र को रूप एवं बुद्धि और ईश्वर को अहंकार एवं मन का अर्पण करना चाहिये। इस प्रकार इन चारों देवताओं को पुर्यष्टक-अर्पण किया जाता है। इन देवताओं को शतहोम के द्वारा तर्पण किया जाना चाहिये। पुर्यष्टक-अर्पण कर दिए जाने पर, उसके अभाव में स्वर्ग, नरक आदि के भोग नहीं रहते एवं कोई लौकिक कर्त्तव्य भी शेष नहीं रहता (तन्त्रा., २४. १८-२१)। इस प्रकार अन्त्येष्टि विधि करके निश्चित दिवसों पर अपने शास्त्र के अनुसार यथाशक्ति चक्रार्चन भी किया जाना चाहिये।

श्रौत विधान को मानने वाले आहिताग्नि की अन्त्येष्टि का वर्णन आश्वलायन श्रौतसूत्र (६.१०) में एवं सामान्यजन की अन्त्येष्टि आश्वलायन गृह्यसूत्रों अथवा गरुड़पुराण (२.४.४१) के अनुसार करते हैं। ये विधियाँ अत्यधिक विस्तृत हैं इसलिए इनकी प्रस्तुत तान्त्रिक विधि से तुलना सम्भव नहीं है।

सद्यःसमुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा

आसन्नमरणशील व्यक्ति के प्राणों के क्लेशरहित उत्क्रमण के लिए सद्यः समुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा दी जाती है जो साथ ही शिवसायुज्य प्रदान करती है। अभिनवगुप्त के शब्दों में यह दीक्षा मालिनीमत के अनुसार निरूपित है। इस दीक्षा की प्राप्ति से तत्क्षण अथवा कुछ काल तक भोग करके देहपात होने पर शिवताप्राप्ति हो जाती है (तन्त्रा., १६.१ ; मालिनीमत मालिनीवियोत्तरतन्त्र का सूचक माना गया है, किन्तु प्रस्तुत दीक्षा का वर्णन उसमें अप्राप्त है)। यह दीक्षा निम्नलिखित स्थितियों में दी जाती है (तन्त्रा., १६-२-८)--

१. जब देहपात समीप हो एवं शक्तिपात के लक्षण स्पष्ट हों,

२. आसन्नमरणशील व्यक्ति पर जब मन्द शक्तिपात हो, तब गुरु की सेवा करते हुए प्राणान्तकाल उपस्थित होने पर, (मरणासन्न, मन्दशक्तिपात का भागी गुरु की सेवा स्वयं करने में असमर्थ हो तो अपने सम्बन्धी या मित्रों से भी करवा सकता है),

३. मध्यशक्तिपात का भागी, समय दीक्षाप्राप्त जिसे अभी तक परादीक्षा प्राप्त नहीं हुई, का मरणकाल उपस्थित होने पर,

४. तीव्रशक्तिपात का भागी परादीक्षा को प्राप्त शिष्य भी जब प्राणों को क्लेश के बिना छोड़ना चाहे तब।

इस प्रकार गुरु शिष्य को बुढ़ापे में अथवा बीमारी से पीड़ित देखकर उसके प्राणों का उत्क्रमण करके, उसे परतत्त्व में नियोजित करता है, किन्तु जिनके मलों का परिपाक नहीं हुआ है अथवा जिनके कर्मों का भोग अभी बाकी है उसे उत्क्रामणी दीक्षा नहीं दी जानी चाहिये।

यह दीक्षा प्राणों के समान गोपनीय है। यह पुनः-पुनः प्राणचारामर्शरूप अभ्यास, महाजालप्रयोगस्वरूप युक्ति, परपुरप्रवेशरूप संक्रान्ति एवं मन्त्रादिवेध के द्वारा घट्टन अर्थात् प्राणविक्षेप अथवा रोध प्राणवायु के आवागमन को रोककर मध्यधाम में विश्रान्तिपूर्वक आहुति, कालराज्यादि मन्त्रसामर्थ्य के द्वारा पाशच्छेद-प्रयोग के माध्यम से दी जाती है (तन्त्रा., १३.२३४स-३५)।

प्रस्तुत दीक्षा की विधि तन्त्रालोक में श्रीमद्गह्वर, श्रीमालिनीमत, श्रीमद्दीक्षोत्तर, श्रीसिद्धयोगीश्वरीमत आदि शास्त्रों के आधार पर निरूपित है।

विधि--

गुरु समयशुद्धि से प्रारम्भ करके सूत्रक्लृप्ति, पाशदाह आदि समस्त पूर्वोक्त (समयी एवं पुत्रकदीक्षा के अन्तर्गत) विधि को करने के पश्चात् इस (शिष्य) का मर्मच्छेद करने वाली छुरी (क्षुरिका) का न्यास करता है। मालिनीमत में निरूपित विधि के अनुसार कालाग्नि के समान कान्ति वाले पूर्वोक्त न्यास को संहारक्रम से अर्थात् अन्त से प्रारम्भ तक करना चाहिये। इसके पश्चात् सृक्छिन्दियुगल अर्थात् मर्मच्छेद करने वाली कैंची के दोनों सिरों के द्वारा छेदन करना चाहिये। समस्त मर्मों को तप्त करने वाली आग्नेयी धारणा (द्र. मा0वि0त0, १३,. २१-३३) करके अंगूठे से मस्तकपर्यन्त देह को वायु से पूरित करना चाहिये। उसे अंगूठे से ऊपर तक उठाते हुए कालरात्रि क्षुरिका द्वारा मर्मों को काटना एवं उसका विसर्जन करना चाहिये (तन्त्रा., १६.१०-१३)। मालिनीमत के अनुसार कालरात्रि अध्यर्धार्णा क्षुरिका होती है जिसकी सौ बार आवृत्ति करने से सिर में कष्ट होने लगता है। इस प्रकार प्रत्यय को देख कर मृत्युजित् के ध्यान का आश्रय लेना चाहिये। यदि दीर्घ जीवन की इच्छा हो तो इसका उच्चारण नहीं किया जाना चाहिये (तन्त्रा., ३0. ५६-७)।

तन्त्रसद्भावशासन में क्षुरिका-

दण्ड-र, अग्नि-र, दो बार अर्थात् "र्ः" "र्ः", प्राण-ह, नभ-क्ष, शूल-ज अर्थात् "ह्क्ष्जः" , छेत्ता-क, अनल-र अर्थात् "क्रः", कूट-क्ष, अग्नि-र अर्थात् "क्ष्रः"-- इन पाँचों मन्त्रों को पाँचों व्योम-गुणरहित आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश अथवा भाव्यस्थान, जन्मस्थान, नाभि , हृदय, बिन्दु एवं नाद में नियोजित करना चाहिये। यह छेदिनी क्षुरिका होती है जिसके द्वारा जीव को परतत्त्व से संयुक्त किया जाता है (तन्त्रा., ३0.५८-६)। इस क्रमयोग से योजित किए जाने पर समयी आहुति के बिना भी इस दीक्षा को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १६.१४)।

षोडशाधार, षट्चक्र, लक्ष्यत्रय, खपंचक में से एक में अथवा अन्यत्र अर्थात् ग्रन्थिद्वादशक में, पूर्वोक्त पशुकर्म के समान, मूलस्थान जन्माधार में प्रवेश करके ऐक्य भावना से कन्दादि का छेदन करते हुए पूर्णाहुति प्रयोग द्वारा इष्टधाम में नियोजित करना चाहिये (तन्त्रा., १६.१५)। इस प्रयोग का विधान मालिनीमत में आहुति के बिना व अन्यत्र आहुतिपूर्वक है।

१. षोडशाधार-- जीव का आधार होने के फलस्वरूप ये आधार-समूह आधार-पद वाच्य हैं। पांव के अंगूठे से द्वादशान्त कमल तक इनका विस्तार है। उनके नाम हैं-- अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ्र, वायु, कन्द, नाड़ी, जठर, हृत्कमल, कूर्मनाड़ी, कण्ठाधार, तालुदेश, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त। --------कविराज, गोपीनाथ, ता0सा0 और सि0,पृ0 ४0.

२. षट्चक्र (कौल मतानुसार)-- (अ) जन्मस्थानस्थ नाड़ीचक्र। उसे आश्रय करके विशाल नाड़ी-समूह जाल की तरह फैला हुआ है--(ब) मायाचक्र नाभिदेश में अवस्थित है। (स) हृदय में योगचक्र। यह योग के प्रसार का

६. साहृवयान्त (तात्पर्य अस्पष्ट है) तुम तालु को प्राप्त करो, औडम्बर-घटिट्त (खुले हुए) महाद्वार को प्राप्त करके वामदेव पद को प्राप्त करो यह चतुर्दश-पदात्मक षष्ठ आर्यावाक्य है (वही, ७४स-७५ब)।

७. ग्रन्थीश्वर परमात्मा शान्त महातालुरन्ध्र को प्राप्त करके, उत्क्रमित होकर हे देहेश्वर! निरंजन शिव पद को शीघ्र प्राप्त करो, (अथवा निःश्वास शासन के पाठ भेदानुसार हे देहेश-प्रभंजनस्वरूप तुम शीघ्र प्रयाण करो) यह चतुर्दशपदात्मक सप्तम आर्यावाक्य है (वही, ३०.७६)।

८. हे नारायण! मध्यमार्ग में पहुँच कर, प्राण व अपान का समाहरण करके, धर्माधर्म का त्याग करके शान्तान्त को प्रयाण करो, यह आठवाँ आर्यावाक्य नौ पदों के द्वारा कथित है (वही, ३०, ७८)।

९. हे ब्रह्मा, हे विष्णु, हे रुद्र , हे शिव और वासुदेव तुम ही हो। हे महाकाश। अग्निषोमात्मक मृत्पिण्ड का त्याग करो। यह नवम आर्यावाक्य चतुर्दश पदों के द्वारा कथित है (वही, ७९स-८०ब)।

१०. निःश्वास, मुकुटोत्तरादि शास्त्रों के अनुसार हे महाकोश, अग्नीषोमसनात्म त्रिपिण्ड का त्याग करो- इस प्रकार पदत्रयपूर्वक दशम आर्यावाक्य है। किन्तु हे महासूक्ष्म अंगुष्ठमात्र! (जीव) अमल आवरण का त्याग करो- यह दशम आर्यावाक्य छः पदों के द्वारा कथित है (वही, ८२अ-ब)। किन्तु मुकुटोत्तर में अलं का पाठ दो बार एवं महासूक्ष्म के स्थान पर सूक्ष्म पाठ है।

११. तुम पुरुष-प्रकृतिमय बन्धनस्वरूप अहंकारतन्तु के द्वारा बंधे हुए हो। हे अभवाभव, नित्योदित परमात्मन्! रागयुक्त मार्ग का त्याग करो। यह त्रयोदशपदात्मक एकादश आर्यावाक्य है (वही, ३०.८३स-४ब)।

१२. देहान्त होने पर तुम शीघ्र ही "ह्रीं हूं" इस मन्त्र शरीर को प्राप्त करो, यह षट्पदात्मक द्वादश आर्यावाक्य है (वही, ८५)।

१३. इस सत्त्वादि गुण व पृथ्वी आदि महाभूतों के बने हुए अपने षट्कोशात्मक पिण्ड (देह) का त्याग करो। यह सात पदों के द्वारा कथित तेरहवाँ आर्याध है (वही, ८६ अ)।

१४. भूतमय देह को नहीं , अपितु शाश्वत महादेह को ग्रहण करो, यह सप्तपदात्मक चतुर्दश आर्यावाक्य है (वही, ८७अ ब)।

१५. निर्मल, अनन्त मण्डल त्रिधा स्थित हैं, इनका भेदन करके जाओ, यह आठ पदों के द्वारा पन्द्रहवाँ आर्यार्धवाक्य कथित है (वही, ८८अ ब)।

यह सम्पूर्ण ब्रहमविद्या पन्द्रह स्फुट वाक्यों के द्वारा कही गई है। इन वाक्यों के पूर्व एवं पश्चात् पंचाक्षरों का प्रयोग करने पर निष्कला ब्रह्मविद्या होती है। ये पंचाक्षर हैंः- तार अर्थात् ओं, मायाबीज ह्रीं, चतुष्कल-हूं, मातृतारः- फ्रें एवं नवात्मा ह् र् क्ष् य् ल् व् य् ऊं। इन पंचाक्षरों को, कथित व्याप्ति के अनुसार, बिन्दु, प्राण, अमृत, जल, वायु अथवा षष्ठ स्वर से संयुक्त करके प्रयोग किया जाता है। इस शक्ति -उच्चार में स्थित बीज के द्वारा पशु का आलम्भन किया जाता है। इसके द्वारा दीक्षा विधि करने पर ब्रहम हत्या के पाप से भी व्यक्ति की मुक्ति हो जाती है (तन्त्रा., ३०. ९०स-९२)।

आश्रयस्थान है। (द) तालुदेश में भेदन-चक्र (य) दीप्तिचक्र बिन्दुस्थान भ्रूमध्य में। (र) शान्तचक्र नादस्थान में अवस्थित।---वही, पृ० ४००.

सामान्यतः षट्चक्रों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, आज्ञा एवं सहस्रार चक्रों का परिगणन किया जाता है।

(3) लक्ष्य-त्रय

(अ)अन्तर्लक्ष्य-- तडित्-प्रभा जैसे अत्यन्त सूक्ष्म कुण्डिलिनी-स्थित आकाश का दर्शन अथवा मस्तक से ऊपर द्वादशांगुल तक ज्योति का दर्शन। यह बाह्य इन्द्रिय से अगोचर है। अन्तर्लक्ष्य के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। योगियों का अन्तर्लक्ष्य है सहस्रार में जल-ज्योति का दर्शन, वैष्णवों के मत से बुद्धि की गुहा में सर्वांग सुन्दर पुरुषरूप का दर्शन, शैवों के मत से शीर्षस्थ मण्डल में उमा-महेश्वर का दर्शन। दहर-उपासकों का अंगुष्ठ-मात्र पुरुषरूप का यह दर्शन है। (ब) मध्यलक्ष्य--नाना विचित्रवर्ण सूर्य, चन्द्र और अग्नि की शिखा के समान या उससे विहीन अन्तरिक्ष के समान। (स) बहिर्लक्ष्य-- अपनी नाक के सम्मुख भाग में अभ्यास के फलस्वरूप जरा दूर तक-योग।---वही, पृ० ४०१.

४. खपंचक या पंचव्योम-- इस व्योम-समूह की जन्मस्थान, नाभि, हृदय बिन्दु और नाद में भावना करनी होती है। इनमें से प्रथम व्योम अनन्त विश्व का आश्रय अनन्त शून्यरूप है। सुप्ति के आवेशकारक होने के नाते ये शून्य हेय हैं। पंच आकाश के नाम दूसरे-दूसरे स्थानों में दूसरे-दूसरे प्रकार के हैं, यथा-- गुणरहित आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश।

५. द्वादशग्रन्थि-- माया से शक्ति तक द्वादश ग्रन्थियों का स्थान जानना होगा। माया-ग्रन्थि देह की उत्पत्ति का कारण है। पाशवग्रन्थि पशुओं की संकुचित दृष्टि का कारण है। यह ग्रन्थि कन्द में है। हृदय से लेकर ललाट तक पाँच कारण-ग्रन्थियाँ हैं। ये पशुओं की सृष्टि की कारण हैं। इसलिए इनका निरोध आवश्यक है। निरोधनीय होने के कारण इन्हें ग्रन्थि कहते हैं। ब्रह्मग्रन्थि हृदय में, विष्णुग्रन्थि कण्ठ में, रुद्रग्रन्थि तालु-मूल में, ईश्वरग्रन्थि भ्रू-मध्य में, सदाशिव-ग्रन्थि ललाट में अवस्थित है। इससे भी ऊपर और भी कई ग्रन्थियाँ हैं-- ये नादशक्तिरूप हैं, इसलिए निरोधिका के ऊपर अवस्थित हैं। इनके नाम हैं-- इन्धिका, दीपिका, वैष्णव, नाद और शक्ति। यह भी परचित्प्रकाश में आवरणस्वरूप है (वही)।

इस विषय में गह्वरशास्त्र के अनुसार मतान्तर है कि गुरु को ज्ञानरूप परासंवित् जो उन आधारों को भेदने के कारण त्रिशूल-स्वरूप है, उस संदीप्त ज्ञानत्रिशूल का एवं दीप्तचक्रत्रय (जिसके अरा-त्रय के रूप में, परा, परापरा व अपरा देवियाँ हैं) का चिन्तन करना चाहिये एवं उस ज्ञानत्रिशूल के द्वारा शिष्य के वेदन, बोधन, भ्रम अर्थात् वामादिक्रम से आवर्तन, दीपन, ताडन, तोद अर्थात् प्रेरणा, चलन आदि संस्कारों को कन्दादिचक्रगामी होकर करना चाहिये। विशेषरूप से हृदयकमल में इन्हें करके, तदनन्तर द्वादशान्त में करके प्राणापान त्रोटरूप-बिन्दुयुग्म को प्राप्त हो जाने पर, लक्ष्यरहित अथवा परधाम में क्षेप कर देना चाहिये जिससे परमेश्वर से संयुक्त उस शिष्य का और कोई संस्कार शेष नहीं रहता है (तन्त्रा., १६. १७-१८)।

श्री मद्दीक्षोत्तरशास्त्र के अनुसार---

हंस-ह, वह्निबीज-र से संपुटित हो, उसके नीचे रुद्र-ऊ एवं बिन्दु से युक्त पुमान्-म हो, इस प्रकार इस पिण्डाक्षर का शिष्यदेह में नियोजन करके उद्वेगरहित होकर सौ बार जप करना चाहिये। तत्पश्चात् ऊर्ध्वनिमेष से उत्क्रमण करने पर शिष्य परतत्त्व को प्राप्त हो जाता है (तन्त्रा., १६. २१-२)। सिद्धयोगीश्वरीमत में भी यही विधि वर्णित है।

इस दीक्षा की यह विशेषता है कि यह यद्यपि योगी गुरु के द्वारा ही करणीय है तथापि योगाभ्यासरहित गुरु भी ज्ञान, मन्त्र, क्रिया, ध्यानादि की सामर्थ्य से इसे करने में समर्थ होता है। इसमें प्राणवियोजन की विशिष्ट क्रिया महत्त्वपूर्ण होने पर भी गुरु इसे भाविनी ब्रह्मविद्या के बल पर बिना प्रस्तुत क्रिया के भी कर सकता है। यदि गुरु प्राप्त न हो, तब भी समयी अथवा पुत्रक के द्वारा इस ब्रह्मविद्या का बार-बार पाठ किए जाने पर भी सद्यः उत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा की प्राप्ति हो जाती है। यह ब्रह्मविद्या कृतकृत्य ज्ञानी के द्वारा भी श्रवण की जाने पर प्राणोच्छेद से होने वाली व्यथा को तत्काल दूर कर देती है जिसे सुनकर महामोह से विवश व्यक्ति भी बोध को प्राप्त करके स्वतः वेगपूर्वक वक्ता के सम्मुख पहुँच जाता है (तन्त्रा., १६. २३-२८)। ब्रह्मविद्या के दो प्रकार हैं-- सकला ब्रह्मविद्या पन्द्रह आर्यावाक्यों के द्वारा कही जाती है एवं निष्कला ब्रह्मविद्या इन पन्द्रह वाक्यों के प्रारम्भ एवं अन्त में पंचाक्षर योगपूर्वक होती है।

सकला ब्रह्मविद्या- (तन्त्रा., ३0. ६६८-८६):

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पन्द्रह आर्यावाक्यों का शिष्य के सम्मुख पाठ किया जाता है---

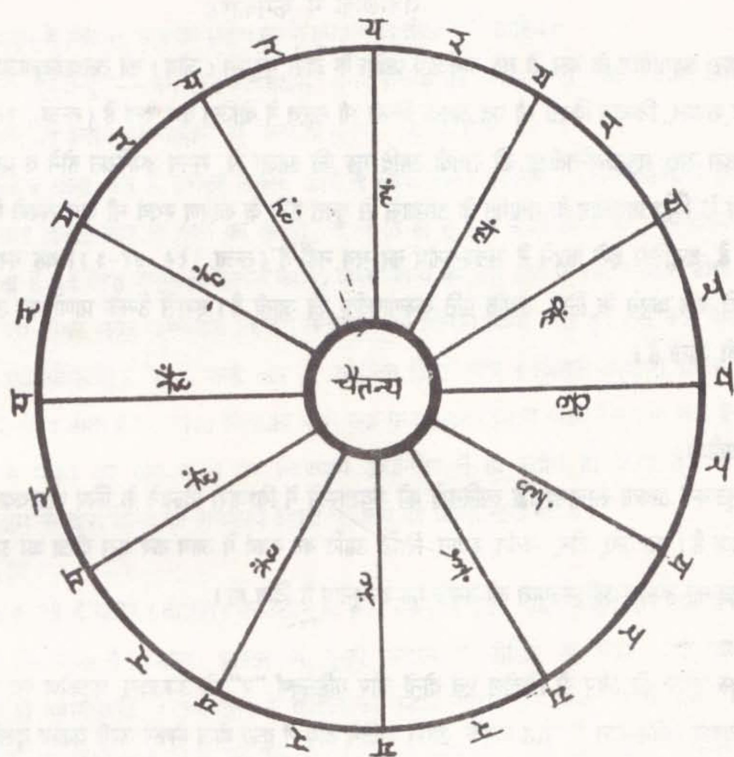
१. तुम देहान्त को छोड़ो व सनातन परमपद प्राप्त करो। पैरों के अंगूठे से प्रारम्भ करके सर्वव्यापी आत्मा-विभु का उग्र बन्धनस्वरूप यह प्रथम आर्यावाक्य चतुर्दश पदों का निबन्धन है (तन्त्रा., ३0. ६६स-७ब)।

२. तुम गुल्फान्त में, जानु में, जत्रु व मेढ्र में स्थित बन्धन को छोड़ो, उठकर मध्यधाम हृत्पद्मरूप पुर को प्राप्त करो इतने ही अर्थात् चौदह पदों का यह द्वितीय आर्यावाक्य है (वही, ६८)।

३. हंस, हयग्रीव, विभु, सदाशिव, पररूप तुम जीवनामक ही हो-- (वेदान्त के तत्त्वमसि महावाक्य के समान) सूर्य, चन्द्र व अग्नि के संघट्ट से उत्पन्न बिन्दुदेह से उत्क्रमित हो। यह तृतीय आर्यावाक्य पन्द्रह पदों में उक्त है (वही, ३0, ६९स-७0अ)।

४. तुम शुभाशुभ की अपेक्षा करने वाले, सनातन, हंस, महामन्त्रमय, मण्डल के मध्य में स्थित, शक्तिमहासेतु महार्थ के कारण, दोनों कमलों में निविष्ट देवतादेह, प्रबोध को प्राप्त करो यह एकादश पदों में कथित चतुर्थ आर्यावाक्य है (वही, ७१-२ब)।

५. निःश्वास में अप शब्द की व स्थान-प्रश्वास में उप ऐसी ध्वनि होती है- इस अज्ञान से तुम बन्धनयुक्त हो, प्रबुद्ध होकर देवताओं के स्तर तक उठो। यह सप्त पदों के द्वारा पंचम आर्यावाक्य कथित है (वही, ७३)।



चित्र सं: 2
सप्रत्यया दीक्षा में प्रयोज्य मंत्रचक्र

इस ब्रह्मविद्या के बल से गुरु कर्णजाप प्रयोग के द्वारा पुद्गल (जीव) को तत्त्वकंचुकजाल से निकाल कर अभीष्ट सकल, निष्कल किसी भी पद अथवा किसी भी तत्त्व में योजित कर देता है (तन्त्रा., १६. २६स-३१ब)।

इस सद्यःसमुत्क्रान्तिदीक्षा को समयी आदि गुरु की आज्ञा से, समय उपस्थित होने व प्राणों के क्लेशरहित उत्क्रमण के लिए प्राणचार के गमागम के अभ्यास से युक्त होने के कारण स्वयं भी कर सकते हैं। यह विधिनिषेध से परे है, इसलिए इसे करने में समय-लोप का भय नहीं है (तन्त्रा., १६. ५१-३)। यह मरणासन्न व्यक्ति के कष्ट को कम करने के लिए, उसके प्रति करुणापूर्वक की जाती है। इससे उसके प्राणों का उत्क्रमण सहज एवं सरल हो जाता है।

सप्रत्ययादीक्षा

मूढजनों अथवा सामान्यबुद्धि व्यक्तियों को शैवशास्त्रों में विश्वास दिलाने के लिए सप्रत्यया दीक्षा का विधान किया गया है। गुरु जप, होम, अर्चन, ध्यान, सिद्धि आदि को स्वयं में जान कर इस दीक्षा का आचरण करता है। इस दीक्षा का उपदेश अभिनवगुप्त को उनके गुरु शम्भुनाथ ने दिया था।

विधि--

गुरु ऊपर की ओर से त्रिकोण एवं दोनों ओर वह्निवर्ण "र" से उज्ज्वल, षट्कोण एवं यकार से लांछित जाज्वल्यमान अग्निसदन में प्रवेश करके, अपने दाहिने हाथ में कुछ बीज लेकर उसी प्रकार दूसरे हाथ में (उन्हें) जलाते हुए जपसहित चिन्तन करता है। अग्नि में जलाए हुए, फट्कार के घोरणी-दाह (तन्त्रालोक अथवा अन्यत्र इसका विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है) से पीड़ित बीज अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ होते हुए निर्बीजता को प्राप्त हो जाते हैं(तन्त्रा., २०. २-४)। जिस प्रकार ये बीज तप्त हो जाने से पुनः उत्पन्न होने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार मन्त्र; ध्यानादि क्रियाओं से मल , माया आदि कर्म दग्ध होकर अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं, यह निर्बीज प्रत्यय है। सुदीप्त गुरु के द्वारा इस प्रकार कृपापूर्वक की गई बीजों की योजना स्थावरों को भी मुक्त करने में समर्थ है (वही, २०. ५-७), फिर चेतन शिष्य की तो बात ही क्या है।

सप्रत्यया दीक्षा के अधिकारी की परीक्षा के लिए तुलाविधि का विधान श्रीतन्त्रसद्भाव एवं श्रीपूर्वशास्त्र में किया गया है जिसके अनुसार शक्तिपात के तारतम्य के आधार पर शिष्य में क्रमशः आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा, घूर्णि आदि लक्षण दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को शिष्य में देखने के पश्चात् गुरु दीक्षा में किए जाने वाले पूर्वोक्त समस्त कर्मों का आचरण करता है। यह मान्यता है कि इस दीक्षा विधि से शिष्य फूलों से भी हल्का हो जाता है। तुला-विधि से तात्पर्य यह है कि तुला के एक पलड़े में शिष्य को रखा जाता है एवं दूसरे में कुछ पुष्पों को एवं शिष्य वाला पलड़ा फूलों से भी ऊपर रहता है।

सप्रत्यया दीक्षा में प्रयोज्य मन्त्र--

बुद्धिमान् गुरु जब शिष्य की तुलाविधि से परीक्षा करके उसकी योग्यता से सन्तुष्ट हो तो उसे शम्भुनाथ के

द्वारा सद्भाव शासन में निर्दिष्ट मन्त्र का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत दीक्षा देनी चाहिये।

"स्त्र्यूँ, ड्द्म्र्यूँ: र्क्ष्क्ष्यूँ"-- इन तीन पिण्डाक्षरों में से प्रत्येक को स्तोभकारी कहा गया है इनमें से एक का भी न्यास करने पर शरीर शक्त्याविष्ट हो जाता है(तन्त्रा., २६. २११सद-१३)।

जो शक्तिबीज माना गया है उसका समस्त अंगों में न्यास करे। हृच्चक्र में सर्वमन्त्रसामान्य हकार षष्ठ स्वरों को छोड़ कर द्वादश स्वर से युक्त का अर्थात् "हं हां हिं हीं हुं हूं हें हैं हों हौं हं हः" का चक्राकाररूप में न्यास किया जाता है एवं जपा कुसुम के समान कान्ति वाले चैतन्य का उस चक्र के भीतर न्यास होता है अर्थात् दीक्ष्य के बाहर एवं भीतर सर्वत्र वाग्भवादि निखिल मन्त्रसमूह का चिन्तन किया जाता है। उस मन्त्र चक्र को पुनः वायुबीज यकार एवं अग्नि बीज 'र' से सभी ओर से आवेष्टित किया जाता है जिससे उद्दीप्त होकर वह स्तोभ को उद्भूत करने योग्य होता है। उपर्युक्त पिण्डत्रय में से एक मन्त्र लेकर उसका दीक्ष्य शिष्य के नाम के पूर्व और पश्चात् उच्चारण करते हुए जप करने पर निःसंशय अर्धनिमेष में ही स्तोभ हो जाता है (तन्त्रा., २६. २१४-१६)। स्तोभ के द्वारा शिष्य को समयीत्व अथवा पुत्रकत्व की प्राप्ति मानी गई है।

लिङ्गोद्धारदीक्षा

अन्य अधरतन्त्रों में पतित (दीक्षित) के उद्धार के लिए दी जाने वाली दीक्षा लिङ्गोद्धारदीक्षा है। यह दीक्षा शैव-शास्त्रों की विशिष्टता है। (अन्य शास्त्रों में, दूसरे शासन में दीक्षित के लिए कोई व्यवस्था नहीं है)। शिवतत्त्व से अधरतत्त्वों (मायादशा) में योजित का उद्धार सम्भव है। अन्य समस्त शास्त्रों में विवेचित वस्तुओं से विभिन्नता रखने वाले ऊर्ध्वाम्नाय शैव-शास्त्र की यह विशिष्टता है कि यह साक्षात् परमपद की प्राप्ति करवाता है जब कि अन्य दर्शनों के अनुयायियों को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच कर भी माया से मुक्ति नहीं मिलती। इसलिए परम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए प्रस्तुत दीक्षा का विधान है जो क्रमशः शक्तिपात, मल-हानि, गुरु के प्रति यियासा, दीक्षा, बोध, हेय मल कर्मादि की हानि, उपादेय में लय, भोग्यत्व आणवमल का त्याग, पतिकर्तृत्व का क्षय व स्वात्मस्थिति के द्वारा प्राप्त होता है (तन्त्रा., २२. ७-११)।

जब वैष्णव, बौद्धादि अधरतन्त्रों के अनुयायियों का हृदय-कमल शिवरूपी सूर्य की किरणों से विकसित होता है अर्थात् उन पर शक्तिपात होता है, तब पहले लिङ्गोद्धार करके तदनन्तर दीक्षा देने से, पूर्वतः दूसरे तन्त्र का अनुकर्ता भी शिवता को प्राप्त कर लेता है। यही नहीं, प्रमादवश अज्ञ गुरु का आश्रय लेकर उससे प्राप्त निर्वीर्यमन्त्र का जप करने वाले शिष्य को जब अपनी त्रुटि का भान हो तब उसके उद्धार के लिए भी योग्य गुरु के द्वारा लिङ्गोद्धारदीक्षा की व्यवस्था की गई है यद्यपि इसमें दुगुना संस्कार करना पड़ता है। जिस प्रकार दूषित वस्तु से युक्त कुम्भ को पहले उस वस्तु से रहित करके उसे पुष्पादि के द्वारा सुगन्धित किया जाता है किन्तु शुद्ध घट के लिए यह आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति को दी जाने वाली दीक्षा से पूर्व इन्हें (अधर शासन में स्थित) लिङ्गोद्धार दीक्षा दी जाती है।

तन्त्रालोक में लिंगोद्धार दीक्षा - विधि का निरूपण किन शास्त्रों के आधार पर है, इसका उल्लेख

अभिनवगुप्त ने नहीं किया है। लिगोद्धार की मान्यता से सम्बन्धित प्रसंगों में श्रीमालिनीतन्त्र, ईशानशिवदैशिक-पद्धति एवं देव्यायामलशास्त्र का उल्लेख मिलता है।

विधि--

इसके अन्तर्गत गुरु शिष्य को उपवास करवा कर दूसरे दिन साधारण मन्त्र (तन्त्रा., २२.२०) से स्थण्डिल पर ईश्वर की पूजा करके उसे यह वृत्त सुनाता है-- "यह पहले लिंगी था अब आपके द्वारा प्रेरित है, इस पर प्रसन्न होकर सम्यक् अनुग्रह कीजिए जिससे इसे पूर्वलिंग त्याग की शंका व उस से उत्पन्न प्रायश्चित्त न हो। शीघ्र ही त्वन्मय हो कर यह भोग व मोक्ष को प्राप्त कर ले।" "ऐसा ही हो" यह आज्ञा ईश्वर से प्राप्त करके, शिष्य के पूर्व व्रत को हटा कर, गुरु उसे जल में ले जाकर उस व्रत की दोष-निवृत्ति के लिए स्नान करवाता है। तदनन्तर स्नात शिष्य को अर्घपात्र के जल से प्रोक्षित करता है एवं उसे पंचगव्य एवं दन्तकाष्ठ देकर, नेत्र बाँध कर मण्डल में प्रवेश करवा कर दण्डवत् प्रणाम करवा देता है (तन्त्रा., २२. १४-१६)।

प्रणव, मातृका, व्योम, व्यापी, षडक्षर, बहुरूप व नेत्राख्य-ये सात साधारण मन्त्र हैं, गुरु इनमें से एक मन्त्र इस शिष्य को प्रदान करता है और वह भी दिन-रात थोड़ा खाकर अथवा बिना खाए हुए ही इसका जप करता है। मन्त्रसमर्पण के पश्चात् साधारविधि से संस्कृत उस शिष्य की व्रतशुद्धि, अग्नि में उस मन्त्र के तर्पण के पश्चात् की जाती है(तन्त्रा., २२. २०-२)।

व्रत-शुद्धि की विधि

पूजित मन्त्र के द्वारा शिष्य के नाम को संपुटित करके, प्रायश्चित्त का शोधन करता हूँ, फट् स्वाहा, इस ऊहापूर्वक सौ अथवा हजार बार आहुति देकर, पुनः वौषडन्त पूर्णाहुति देकर व्रतेश्वर का आवाहन एवं "ओं व्रतेश्वराय नमः" इस प्रकार उसकी अर्चना करनी चाहिये। गुरु व्रतेश्वर से यह निवेदन करता है कि शिवाज्ञा से परमपद को जाते हुए तुम्हें इसका अवरोध नहीं करना है। तदनन्तर व्रतेश्वर का स्वाहापूर्वक तर्पण करना चाहिये और वह क्षमा प्रदान करके विसर्जित हो। तदनन्तर अग्नि का भी विसजर्न किया जाता है। (देवता के लिए "क्षमस्व" यह कहना ही विसर्जन स्वरूप है, तन्त्रा., २२. २३-६)।

दीक्षाकर्म--

उपवास एवं लिंगोद्धार के पश्चात् तीसरे दिन अधिवास से लेकर इच्छित दीक्षाकर्मपर्यन्त सम्पूर्ण विधि की जानी चाहिये।

केवल अधरतन्त्रस्थ को ही लिङ्गोद्धारदीक्षा नहीं दी जाती, अपितु शैवशास्त्र के अनुसर्ता को भी अज्ञ गुरु का आश्रय लेने पर एवं उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान से आश्वस्त न होने पर भी योग्य गुरु के द्वारा इस विधि का आचरण किया जाना चाहिये क्योंकि अज्ञानी गुरु के मुख से प्राप्त मन्त्र निर्वीर्य होता है जिसका शिष्य ने जप किया, उसके लिए गुरु अधिकारी ही नहीं था। इस दोष की पहले शुद्धि करके फिर दीक्षाकर्म किया जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्रस्थ अथवा अधरतन्त्रस्थ अनधिकारी गुरु के द्वारा दीक्षित शिष्य तीव्रशक्तिपात होने पर जब सद्गुरु

के समीप जाए तब भी शिष्य को उसकी योग्यता की परीक्षा बिना बोले अथवा विपरीत बोल कर करनी चाहिये, यदि वह वस्तुतः अज्ञ हो, तो पुनः उसका त्याग करके सद्गुरु के समीप जाना चाहिये। जो शिष्य हृदयस्थित महेश्वर की प्रेरणा से विस्तृत शास्त्रज्ञान की इच्छा रखता है उसे अनेक गुरुओं का आश्रय लेना एवं उनसे अभिषेकसहित दीक्षा भी ग्रहण करनी चाहिये। इसमें तिरोभाव (गुरुर्हि कुपितो यस्य तिरोहित स उच्यते- तन्त्रा., २३. ६३अब.) की शंका नहीं करनी चाहिये। श्रीमतशास्त्र में कहा गया है--

"आमोदार्थी यथा भृंगः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत् ।।

विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं त्रिति।" -तन्त्रा., २२. ४५स-४६ब.

श्रेष्ठ दीक्षा अनुत्तर मानी गई है जो क्रमशः दस एवं अष्टादश भेद वाले सिद्धान्त तन्त्र में, तदनन्तर चतु:षष्टि भैरवागमों वाले त्रिक सम्प्रदाय, तत्पश्चात् सिद्धवीरावलीसार में, भैरवीय तन्त्र में व तदनन्तर कुल सम्प्रदाय में इस प्रकार पाँच दीक्षाओं के क्रम से प्राप्त होती है। (तन्त्रा, २२. ४०-२)।

स्मार्तविधि में यद्यपि अन्य जातियों के व्यक्तियों को अपनी जाति में सम्मिलित करने से सम्बन्धित कोई विधि उपलब्ध नहीं होती है किन्तु जिन हिन्दुओं को बलपूर्वक अथवा अन्य किसी कारण से दूसरा धर्म स्वीकार करना पड़ा, उनके पुनरुद्धार की व्यवस्था मिलती है। देवल एवं अन्य स्मृतिकारों ने उन हिन्दुओं, जो मुसलमानों या यवनों के सम्पर्क में कुछ समय रहे हैं एवं जिन्होंनि अकरणीय कार्य किये हैं, के लिए उनके प्रवास के समय एवं कृत अकार्यों के आधार पर चान्द्रायण एवं पराक व्रत का प्रायश्चित्त बताया है। पंचदशी तृप्तिदीप (२३५) के अनुसार म्लेच्छों द्वारा पकड़ा गया ब्राह्मण प्रायश्चित्त के उपरान्त म्लेच्छ नहीं रह जाता।

वेधदीक्षा-

कुल-याग के पश्चात् अधिकारी शिष्य को उसकी योग्यता के अनुसार, समयी, पुत्रक, सप्रत्यया आदि दीक्षाएँ दी जाती हैं। ये दीक्षाएँ विधि की दृष्टि से पूर्वनिरुपित दीक्षाओं से किंचित् भिन्न हैं। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने वेध-दीक्षा का निरुपण किया है जो विशिष्ट योग-प्रक्रिया द्वारा अभ्यस्त गुरु प्रदान करता है। अन्यत्र दीक्षा के प्रसंग में इसका विवरण अथवा उल्लेख नहीं होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कुल याग को कर लेने वाला साधक ही इस दीक्षा को प्राप्त करने योग्य होता है। जयरथ द्वारा प्रस्तुत एक उद्धरण के अनुसार अन्य दीक्षाओं से पूर्व वेध दीक्षा अनिवार्य है अन्यथा दीक्षा देने वाला एवं इसे प्राप्त करने वाला दोनों नरक के भागी होते हैं--

"वेधदीक्षा विना दीक्षां यो यस्य कुरुते प्रिये।

द्वावेतौ नरकं यात इति शाक्तस्य निश्चयः ।।" विवेक, २६. २०१

यह दीक्षा तत्काल सिद्धि प्रदान करती है इसलिए योग के द्वारा सिद्धिप्राप्त स्वभ्यस्तज्ञानवान् गुरु ही इसे तत्काल भोग अथवा सिद्धि के इच्छुक शिष्यों को प्रदान करता है (तन्त्रा., २६.२३६)।

श्रीमालाशास्त्र में वेधदीक्षा के प्रकार - वर्णन के साथ ही बताया गया है कि अभ्यासवान् गुरु को

ऊर्ध्वोर्ध्वप्रवेशपूर्वक वेधदीक्षा करनी चाहिये जिससे शिष्य को चक्रसम्भेदप्रत्यय एवं अणिमादि सिद्धि की प्राप्ति होती है अर्थात् इसमें क्रमशः ऊर्ध्वोर्ध्वस्थित चक्रों का भेद होता है। यदि ऊर्ध्वचक्रावस्थित को अधःस्थित किया जाता है तो वह दीक्षा पिशाचावेश-स्वरूपा होती है(तन्त्रा, २६.२३७-३६ब)।

श्रीगह्वरशास्त्र के अनुसार-मन्त्र, नाद, बिन्दु, शक्ति, भुजंग, परा आदि के भेद से छः प्रकार की वेधदीक्षा होती है (तन्त्रा., २. ३६स-४०ब)।

षोढा वेधदीक्षा-

मन्त्रवेध- स्वशास्त्रोक्त विधि से ज्वालाओं से दीप्त अष्टार-चक्र अथवा द्वादशारचक्र का ध्यान करके उससे इस (शिष्य) के हृच्चक्र का वेध करने पर मन्त्र-वेध दीक्षा होती है (तन्त्रा., २६. २४०द-४१ब)।

नादवेध- श्रीदीक्षोत्तरशास्त्र के अनुसार नादवेध के लिए देह-रन्ध्रभेद से नवधा आकार का न्यास करके उसमें संक्रमित होकर न्यासयोग से नवधा दीप्यमान विशाल ज्वालाओं से शिष्य के पाशस्तोभ के पश्चात् परतत्त्व से योजन किया जाता है। दीर्घआत्मनादबीजरूप नादोच्चार से नादाख्य सृष्टिक्रम "नादिफान्त" के नियोजनपूर्वक, अनच्क कलात्मक नाद के द्वारा चित्त का वेध नादवेध कहा गया है (तन्त्रा., २६. २४१स-४४ब)। विवेककार के उद्धरण के अनुसार दीर्घनाद का उच्चारण करते हुए नाद को नादस्थान पर आक्रमित करना चाहिये एवं नादिफान्त का उच्चारण करते हुए वर्णाध्वा का शोधन एवं इस प्रकार नाद के द्वारा वेध करना चाहिये।

बिन्दुवेध- भौंहों के मध्य में स्थित बिन्दुस्थान को प्राप्त चित्त की हृदय में ज्वालाओं से व्याप्त कान्ति वाले बिन्दु की भावना करके उससे साध्य को संबोधित करना अर्थात् शिष्य के चित्त का वेध करना, बिन्दुवेध कहा गया है (तन्त्रा., २६. २४४स-४५)।

शाक्त-वेध- शक्तिमान् शाक्त उच्चार के द्वारा एवं कुटिल अनच्क "ह" के अनुच्चार के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का वेध शाक्तवेध होता है। गुरु मत्तगन्ध के निष्पीडनादि के द्वारा ऊर्ध्वचार से मध्यशक्ति के द्वादशान्त में अवस्थित होते हुए, शिवात्मक शक्तिमान् में सामरस्य को प्राप्त करने पर, जन्माधार में सतत उदित रहने के कारण शृंगाटक आसन पर स्थित, प्राणशक्ति से अभिन्न होने के कारण कुण्डलाकृति कुटिल अनच्क "ह" का अनुच्चार के द्वारा उच्चारण करके समस्त जगत् का वेध करता है। स्वयं उच्चरित होते रहने के कारण "ह" का उच्चारण प्रयत्न-निरपेक्ष माना गया है। स्व एवं पर के अनुच्चार अर्थात् स्वतः उच्चारण का अनुसन्धान करके, उसके द्वारा वेध किया जाता है। प्राण शक्ति की गति शरीर में विभिन्न स्थानों, चक्रों पर कुटिल हो जाती है। इन स्थानों से प्राण का गमन "ह" आकृति के रूप में कुण्डलित होते हुए एवं हानादपूर्वक होता है। इस प्रकार उन स्थानों पर प्राणशक्ति के कुटिल आकार एवं ह के स्वतः उच्चार के द्वारा होने वाला वेध शाक्त-वेध कहलाता है।

भुजंगवेध- अभिनवगुप्त ने भुजंगवेध का निरूपण भैरवागम के आधार पर किया है। वही आनन्द का विकास करने वाली परमा शक्ति जन्मस्थान से ऊपर द्वादशान्त तक फणपंचकाभूषित रूप में गमन करती है। शान्त्यतीतादि पाँच

कलाएँ, पृथिव्यादि तत्त्व, नन्दादि तिथियाँ, जन्म, नाभि, हृदय, बिन्दु एवं द्वादशान्त व्योमस्थान, महाकाल, कौल, अकुल, कुलाकुलादि कुल, ब्रह्मा, विष्णु रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव - ये कारणवर्ग, बुद्धि आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ- इस प्रकार वह भुजंगरूपिणी शक्ति पंचात्मिका है (पंचात्मिका से तात्पर्य अस्पष्ट है। कला, तत्त्व, तिथि, व्योम-स्थान, कुल, कारणवर्ग, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ - इन सभी के पाँच - पाँच होने के कारण इसे पंचात्मिका कहा जा सकता है। तिथियाँ अनिर्दिष्ट हैं। पाँच के द्वारा पाँच का भेदन भी अस्पष्ट है)।

इस प्रकार पंचप्रकारा वह (शक्ति) जन्माधार से निकल कर द्वादशान्त में प्रवेश करती हुई प्रकाशमय होकर अवस्थित रहती है, प्रवेश करने पर चक्राधारादिरूप कायात्मा का भेदन करती है(तन्त्रा., २६.२४६-५१)। विवेककार के उद्धरण के अनुसार नाभि के नीचे सर्प के समान कुटिल आकृति में स्थित (कुण्डलिनी) शक्ति प्रबुद्ध होने पर फणपंचक से आभूषित रूप में सर्प के समान गमन करती है एवं पाँच के द्वारा पाँचों का भेदन करती है यही भुजंगवेध है।

परवेध- तब तक चित्त की भावना करनी चाहिये, जब तक कि उसका क्षय नहीं हो जाता, चित्त के क्षीण हो जाने पर परानन्द उदित होता है। इस स्थिति में कुछ भी शेष नहीं रहता, न इन्द्रियाँ, न प्राण, न अन्तःकरण, न मन, न मन्तव्य, न मन्ता या मननक्रिया ही शेष रहती है। समस्त भावों से क्षीण होने के कारण यह वेध परवेध कहा गया है (तन्त्रा., २६. २५२-५४ब)।

इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में वेध दीक्षा के मनु, शक्ति, भुवन, रूप, ज्ञा, पिण्ड, स्थान, नाड़ी एवं पर आदि नौ भेद बताए गए हैं (तन्त्रा., २६. २५४स-५५ब)।

श्रीमद्वीरावलिकुल में वेधदीक्षा के प्रसंग में कहा गया है कि योगी गुरु ही वेध-दीक्षा प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है क्योंकि ज्ञेय सर्वथा अभेद्य है और जो मध्यप्राणशक्ति के तत्तत् चक्रादिभेद से निरर्गल प्रवाह का अनुभव करके प्राणापान के प्रवाह में निमग्न नहीं होता है और मध्यशक्ति के पश्चात् कहे गए मन्त्राद्यात्मक विभागक्रम में दृढ़ता से अनुभव प्राप्त कर लेता है। वह तात्त्विक अर्थ का उपदेष्टा गुरु ही पशुओं को मुक्त कराने में समर्थ होता है (तन्त्रा., २६. २७२-७३ अब)। वह गुरु अपने सम्मुख स्थित शिष्य की मध्यशक्ति में स्वयं की मध्यशक्ति, उसके रूप एवं ग्राहक इन्द्रियशक्ति में स्वयं के रूप व चक्षुरिन्द्रिय व इस प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी अपनी अन्य इन्द्रियों का वेध करता है अर्थात् उन्हें इस प्रकार प्रयुक्त करता है कि विषयी बनाए जाते हुए उनसे वह शिष्य समरस हो जाता है (तन्त्रा., २६. ७३स-७४ब)। चित्त के समरस हो जाने पर दोनों की औन्मनसी स्थिति होती है। दोनों की उन्मनोगति से शिष्य तत्काल दीक्षित हो जाता है। मध्यधाम में सोम सूर्य का संयोग होने पर जीव तन्मयता को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., २६. २७४स-७५)।

. इस दीक्षा के अन्तर्गत ब्रह्मादि देवता भी मुक्ति की इच्छा रखने पर मोक्ष के लिए मन आदि स्वरश्मिचक्र का निरोध करके भोग व मोक्ष दोनों का ग्रहण करते हैं तो यह जीवन्मुक्तिदायिनी पारमेश्वरी दीक्षा कही जाती है। यही सभी प्राणियों का निःस्पन्द सभी दशाओं में अविचलित स्वरूप वाला मोक्ष है। इससे दीक्षित का

प्रमाणप्रमेयमय, प्राणापानात्मक, अग्निषोम की कलाओं के पुनः-पुनः आघातरूप स्वरूप लुप्त हो जाता है एवं वह प्रमातृमात्ररूप में विश्रान्त हो जाता है अर्थात् बहिर्मुखता का शमन हो जाता है (तन्त्रा., २६ २६-७८ब)।

प्राणापान की बाह्यगति का निरोध करके उसे ब्रह्मादि के द्वारा अधिष्ठित स्थानों में निरुद्ध करना चाहिये। वहीं पर एकाग्र चित्त होकर ऊर्ध्वगति योग से ग्रन्थिपंचक का भेदन करना चाहिये एवं समरसी-भूत प्राणापान का मध्य-धाम में चिन्तन करना चाहिये। वहीं पर परिमितात्मा का, शून्य का, बाह्य नीलादि रूपों में प्रतिबिम्ब, धारणा, गुप्तभाषिणी बुद्धिरूप मन्त्र एवं देह का अनुसन्धान करना चाहिये अर्थात् इन सबका आत्मा में साक्षात् अनुभव करना चाहिये। इससे शिवस्वरूप की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., २६. २७८स-८१)।

अभिषेक-

दीक्षा के अनन्तर अभिषेक किया जाता है जिसके द्वारा दीक्षित को ज्ञानदानादि कर्मों में अधिकार प्राप्त होता है। अध्ययन-अध्यापनादि का अधिकार दीक्षा के उपरान्त किए जाने वाले अभिषेक से ही प्राप्त होता है, इसलिए अभिषेक से पूर्व विशेषरूप से शिष्य की परीक्षा ली जानी चाहिये उसके पश्चात् ही उसे अधिकार दिए जाने चाहिये (तन्त्रा., २३. ३)।

तन्त्रालोक में अभिषेक विधि का निरूपण ज्ञानोत्तरशास्त्र, सिद्धातन्त्र एवं देव्यायामलशास्त्र के आधार पर किया गया है।

दीक्षा के अन्तर्गत उपदिष्ट विधि से पूजन, हवनादि करके (शिष्य अथवा देवता को) इच्छित (मन्त्र, प्रार्थनादि) सुनाने के पश्चात् गुरु उस शिष्य को चौसठ कलशों से स्नान करवाता है। इसके पश्चात् वैभव के कारण विस्तृत पूर्वोक्त विधि से गुरु उसे मन्त्र-परिपूरित जल से एक बार स्नान करवाता है। तदनन्तर शिष्य को शास्त्रों के रहस्यरूप में अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यसार का उपदेश देता है (तन्त्रा., २३. १७स-१६)।

दीक्षाकाल में परीक्षा न करने पर भी ज्ञान- प्रदानकाल में शिष्य की भलीभाँति परीक्षा लेने के पश्चात् ही गुरु शिष्य को उसके कर्त्तव्यों का उपदेश देता है। इसके अन्तर्गत प्रमुखरूप से ज्ञान-प्राप्त शिष्य को गुरुरूप में अन्य प्राणियों पर अनुग्रह करने का उपदेश दिया गया है। "तुम्हें शिव के शक्तिपात से प्रेरित शिष्यों पर सदैव अनुग्रह करना चाहिये।" साथ ही गुरु को सप्तसत्री का प्रवर्तन करना चाहिये, जिसके अन्तर्गत दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिवैकता एवं अन्नादिदान-ये सात कृत्य किए जाते हैं। इस सप्तसत्रक के विषय में जयरथ का कहना है कि यह भ्रमवश लिखा गया है, अतः उपेक्षणीय है - "अयं च श्लोकः क्वचित् "पालयेत्सप्तसत्रकम्" इत्यनन्तरं भ्रमात् लेखकैर्लिखित इति तदुपेक्ष्यम्"(विवेक, २३.२६.)।

विधि-

अभिषेक के अन्तर्गत ही दीक्षा प्रदान करने की क्रिया में प्रयुक्त समस्त उपकरण करणी, कर्तरी, खटिका, स्रुक् स्रुवा, दर्भपुस्तक, अक्षसूत्रादि किसी विद्वान् व्यक्ति को प्रदान कर दिए जाते हैं। शिष्य अभिषेक के पश्चात् गुरु को दक्षिणा आदि प्रदान करके उनकी पूजा करता है (तन्त्रा., २३. २३स-२४)।

अभिषेक विधि के अन्तर्गत ज्ञानहीन क्रियावान् गुरु अपने अधिकारों को अभिषिक्त को प्रदान कर देता है। इसके पश्चात् वह अभिषिक्त की आज्ञा के बिना दीक्षा आदि प्रदान करने का अधिकार भी नहीं रखता। यह सब सुनकर, दीक्षित भी नमस्कार करके गुरु का अभिनन्दन करता है। यदि अभिषेक करने वाला गुरु स्वभ्यत-ज्ञानी है तो वह अपनी इच्छा से अधिकारों का त्याग करके दीक्षादि के नियमों से मुक्त होकर स्वेच्छापूर्वक विचरण कर सकता है और यदि वह चाहे तो इच्छानुसार दीक्षा भी प्रदान कर सकता है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपक को प्रज्वलित करने से, पहले दीपक के प्रकाश में कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानी गुरु के अधिकार समाप्त नहीं होते और यदि वह उनका प्रयोग न करे तो भी दोष नहीं लगता (तन्त्रा., २३. २५-२८ब)।

सिद्धातन्त्र के अनुसार यथार्थ उपदेश करने वाला गुरु ही आचार्य कहलाता है। उसे शिष्य का संसार से उद्धार करने में अवज्ञा नहीं करनी चाहिये और न ही गर्वपूर्वक शिष्य को दीक्षा देनी चाहिये, यदि वह ऐसा करता है तो उसे इस लोक में व्याधि एवं परलोक में नरक भोगना पड़ता है (तन्त्रा., २३. २८स-३०)।

अभिषेक हो जाने के पश्चात् अभिषिक्त गुरु के समकक्ष हो जाता है, उस अभिषिक्त को तन्त्रों में उपदिष्ट सम्पूर्ण मन्त्रपद्धति जिसके अन्तर्गत देवीत्रय, भैरवचतुष्टय एवं अघोराष्टक के मन्त्र हैं, का छः माह पर्यन्त ध्यान एवं तन्मयीभाव की प्राप्ति होने तक जप करना चाहिये। जब तन्मयीभाव हो जाए तो वीर्ययुक्त होकर पाशों को काट देना चाहिये एवं निरन्तर तन्मयता में स्थित रहने के लिए प्रयत्न करना चाहिये (तन्त्रा., २३. ३१-२)।

मन्त्रपद्धति का निरन्तर जप करने पर चन्द्रमा की कला के समान सूक्ष्म एवं स्फटिक के समान उज्ज्वल, लेखाकारिणी, नादरूपिणी प्राणशक्ति हृदयचक्र से उठकर, चक्रपंक्तियों से होती हुई, सुषुम्ना, पिंगलादि नाड़ियों के मिलनस्थल त्रिपथरूप द्वादशान्त में आरूढ़ होती है। साधक को वहाँ पर हृच्चक्र को आपूरित करके ज्वलनशील, प्रभावान्, नेत्रादि के रन्ध्रों से जिसकी ज्वालाएँ निकल रही हों, ऐसे वडवाग्नि के समान मन्त्र का तब तक जप करना चाहिये जब तक कि द्वादशान्त में व्याप्त समस्त वृत्तियों के क्षीण हो जाने के कारण सम्पूर्ण आज्य को विलुप्त करने वाले उस (मन्त्र) की आज्यधारा से हृच्चक्र सन्तृप्त नहीं हो जाता । इसी प्रकार दीप्त, प्रतिबुद्ध निर्मल मन्त्र मोक्षदायी होते हैं (तन्त्रा., २३. ३३-३६)।

श्रीदेव्यायामलशास्त्र में प्राणशक्ति से एकरूप मन्त्र के जप के लिए निश्चित स्थान बताए गए हैं जहाँ पर जप करने से मन्त्र अपने महान् वीर्य को प्राप्त करता है। मूलाधार, कन्द (जन्मस्थान), नभ (शून्य), नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, अर्धेन्दु, रोधिका, नाद, नादान्त और वहाँ पर व्याप्त समना, उन्मना आदि शक्तियाँ एवं शुद्धात्मरूप परचक्र, इन स्थानों में मन्त्र का एक साथ या अलग-अलग जप करने पर वह मन्त्र महामन्त्ररूप होता है। मन्त्रवीर्य की सिद्धि के लिए निरूपित यह विद्याव्रत है। इसी से मन्त्रतादात्म्य एवं मन्त्रों के माध्यम से कार्यसिद्धि प्राप्त होती है (तन्त्रा., २३. ३७-३९)। इस विद्याव्रत को करने के पश्चात् ही अभिषिक्त को सप्तसत्र करने का अधिकार मिलता है।

तन्त्रालोक में कुलयाग के अन्तर्गत समयी, पुत्रक, सप्रत्यया एवं वेधदीक्षा के उपरान्त बुभुक्षु साधक एवं

आचार्य की अभिषेक विधि का निरूपण किया गया है।

बुभुक्षु साधक के अभिषेक के अन्तर्गत देवता का वैभवानुसार यजन करके, स्वर्णनिर्मित अक्षत, लाल बत्तियों एवं घी से परिपूर्ण आठ दीपक जलाए जाने चाहिये। कुलाष्टक के द्वारा उसकी पूजा करनी चाहिये एवं आनन्दामृत से परिपूर्ण महाशंख में कुलेश्वर एवं कुलेश्वरी की पूजा करनी चाहिये। शिवहस्त विधि के माध्यम से उस साधक का अभिषेक करके मन्त्रसाधन करना चाहिये (तन्त्रा., २८. २२५-२७)। साधक एवं आचार्य इस प्रकार अभिषेक प्राप्त कर लेने पर सभी योगिगणों द्वारा ज्ञात हो जाते हैं एवं गुरु मोक्ष प्रदान करने योग्य हो जाता है।

आन्तर अभिषेक

श्रीवीरावलिभैरवशास्त्र के अनुसार पर-अभिषेक का भी निरूपण तन्त्रालोक (२८.२३३-३५) में किया गया है जिसमें बाह्य कलशादि की आवश्यकता नहीं रहती। गुरु अभिषेच्य की समस्त वृत्तियों को स्वात्म में स्थित करते हुए, अपनी इन्द्रिय प्रणालियों से उसकी इन्द्रियों में संक्रमित होकर उनसे ऐक्य प्राप्त करता है और इस प्रकार स्वयं के संविद्रस से शिष्य को आपूरित करता है। यह बाह्य कलशों के बिना किया जाने वाला आन्तर पर-अभिषेक होता है।

तान्त्रिक अभिषेक विधि श्रौत विधि में किए जाने वाले अवभृथ स्नान से तुलनीय है। प्रत्येक यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान अनिवार्यतः किया जाता है जिसके अन्तर्गत जल से यह निवेदन किया जाता है कि वे दीक्षा एवं तप को दूर करें। इसके द्वारा व्यक्ति यज्ञ-सम्बन्धी नियमों के पालन से मुक्त हो जाता है। तान्त्रिक अभिषेक की यह विशेषता है कि यह अभिषिक्त को दीक्षादि के नियमों से मुक्ति प्रदान नहीं करवाता अपितु सप्तसत्रक, ज्ञान दीक्षादि-प्रदान एवं विद्याव्रत आदि अन्य नियमों के बन्धन में बाँधता है। इस दृष्टि से यह राज्याभिषेक के तुल्य है जिसमें अभिषिक्त को निश्चित नियम एवं मर्यादाओं का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।



चतुर्थ परिच्छेद
विविध कर्म

हिन्दू धार्मिक विधानों में तीन प्रकार के कर्म स्वीकार किए गए हैं--नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्य कर्म वे हैं जिन्हें करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता किन्तु न करने पर दोष लगता है जैसे-सन्ध्यानुष्ठानादि। नैमित्तिक कर्म वे होते हैं जो विशिष्ट अवसरों पर किए जाते हैं यथा-श्राद्ध, पितृ-पूजा आदि। काम्य कर्म किसी विशिष्ट कामना-पूर्ति की दृष्टि से किए जाते हैं जैसे स्वर्ग -प्राप्ति की कामना से ज्योतिष्टोम यज्ञ किया जाता है।

तन्त्रालोक में गुरु एवं साधक के लिए नित्यादि कर्मों को करने का विधान किया गया है: "नित्यादित्रितयं कुर्याद् गुरुः साधक एव च "(विवेक, २८.४)। नित्यकर्मों के अन्तर्गत सन्ध्यानुष्ठान, देवता-पूजन, गुरु-अग्नि-शास्त्रादि के पूजनपूर्वक स्थण्डिल-याग आदि सम्मिलित हैं। नैमित्तिक कर्मों में समस्त पर्वों पर पूजा, जप एवं विशेषरूप से पवित्रक विधि को करने का विधान है (तन्त्रा., २६. ११-१३)। तन्त्रालोककार ने काम्य कर्मों का विधान नहीं किया है क्योंकि वे चित्र-विचित्र हैं एवं उनके उपाय भी विचित्र होते हैं। साथ ही ये नित्यादि कर्म गुरु एवं साधक की दृष्टि से उपदिष्ट हैं; जिनकी कोई कामना शेष न रहने से उनके लिए काम्यादि कर्मों की कोई उपयोगिता नही है।

नित्य कर्म

नित्यकर्म के अन्तर्गत करणीय स्थण्डिल याग के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने उसके आधारस्वरूप शास्त्रों का उल्लेख नहीं किया है। जयरथ भी इस विषय में मौन हैं। मतान्तर एवं दृष्टान्त के प्रसंग में अवश्य निर्मर्यादशास्त्र, श्रीमन्मतमहाशास्त्र का उल्लेख किया गया है। अतः यह विधि किन शास्त्रों पर आधारित है, कहना कठिन है।

स्थण्डिलयाग में गुरु सर्वप्रथम शिष्य को उसकी योग्यता के अनुसार मन्त्र प्रदान करता है, तदनन्तर देवियों के आमन्त्रणपूर्वक शिष्य को नित्य-विधि का उपदेश देता है जिसे दीक्षित शिष्य आह्निक कृत्यों के अन्तर्गत सम्पादित करता है। नित्य विधि के अन्तर्गत शिष्य स्नानादि से शुद्ध होकर, मुद्रा, ध्यान, जपादिपूर्वक सन्ध्यानुष्ठान करता है। इसके पश्चात् याग के अन्तर्गत अर्घपात्रकल्पन, देवताओं का आवाहन, तर्पण, विसर्जनादि किया जाता है।

नित्यकर्मों के अन्तर्गत लिंगपूजा का भी विधान है, जिसके अन्तर्गत लिंग का निर्माण एवं स्थापना करके उसका पूजनादि किया जाता है। इसके साथ ही तूर विधि, अर्घपात्र का निर्माण;;दि एवं अक्षसूत्र का कल्पन एवं अन्य पूजोपकरणों का निर्माण भी नित्य-विधि में ही परिगणित है।

स्मार्त -विधि में सन्ध्या, स्नान, जप, होम, देवपूजन, वैश्वदेव एवं आतिथेय यज्ञ आदि नित्य-कर्म माने गए हैं---

"सन्ध्या स्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्।
वैश्वदेवातिथेयश्च षट् कर्माणि दिनेदिने"।।-- प.स्मृति

स्थण्डिलयाग

गुरु मुख्य मन्त्र अथवा अन्य मन्त्रों के वीर्य एवं व्याप्ति को ग्रहण करने से सम्बद्ध शिष्य की योग्यता को देखकर ही उसे मूल मन्त्र प्रदान करता है (तन्त्रा., २६. १५-१६) जिसका शिष्य आजीवन सेवन करता है।

मन्त्र-प्रदान एवं अन्य समस्त क्रियाओं में गोपनीयता की इस प्रकार रक्षा की जानी चाहिये कि एक शिष्य के अनुष्ठान को दूसरा शिष्य न जान सके। गोपनीयता के भंग हो जाने से दोष होता है। गुरु अपरा, परापरा एवं परा इस देवी-त्रय को अकेले अथवा यामलरूप में क्रमशः रतिशेखर, नवात्मदेव एवं भैरव-सद्भाव सहित अथवा एक देवी को अकेले अथवा यामलरूप में आमन्त्रित करता है। इस प्रसंग में गुरुमुख से मन्त्र का उपांशु जप (स्व.त., २.१४६ सद.) निर्दिष्ट है, अर्थात् अनुष्ठानकाल के प्रारम्भ से ही मन ही मन उस मन्त्र का अभ्यास करना चाहिये। साथ ही देह एवं अन्तःशोधन की पूर्वोक्त प्रक्रिया न्यास, ध्यान, जप, मुद्रादि को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये (तन्त्रा., २६. २५स-२६ब)।

विधि---

शिष्य प्रातःकाल उठकर अपने इष्ट देवता का स्मरण करके, अपने आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर, शुद्ध होकर घर जाए। वहाँ उत्तर दिशा में मुख करके स्थान, देह एवं अन्तःकरण की शुद्धि करके मन्त्रों का यथास्थान निवेश किया जाना चाहिये। मुद्रा-प्रदर्शन करते हुए स्वयं के शिव से भिन्न एवं अभिन्न स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। देह, प्राण, बुद्धि, आकाश व पृथ्वी की मन ही मन अर्चना करनी चाहिये। यथाशक्ति जप करके देवता को निवेदन करना चाहिये। तन्मयीभाव की सिद्धि के लिए प्रत्येक सन्ध्या में इस प्रकार अनुष्ठान करने का विधान है। कालाधिकार में उपदिष्ट चतुष्टयी सन्ध्या का मन ही मन ध्यान करके चतुष्टय-सान्ध्यविधि का अथवा इनमें से एक विधि का आचरण करना चाहिये एवं साथ ही गुरु के समिधाहरणादि कार्यों को करते हुए स्वाध्यायादि भी करना चाहिये। अन्य तान्त्रिक पहले उत्तर एवं तदनन्तर दसों दिशाओं में सन्ध्या-चतुष्टय का कथन करते हैं, किन्तु वह अभिनवगुप्त को अभीष्ट नहीं है (तन्त्रा., २६. २८स-३६ब)।

शिशु, सन्ध्या ध्यानादि से उदित तन्मयीभावयुक्ति एवं उसके संस्कार से तन्मय हो जाता है एवं समय आने पर वैभव के अनुरूप पुष्पादि के द्वारा स्थण्डिल-याग करता है। स्नानादि के द्वारा शुद्ध होकर जपपर्यन्त समस्त विधि करके पूर्व (याग प्रसंग में कल्पित) की भांति अर्धपात्र कल्पित करके अपने इष्टमन्त्र के योग से स्थण्डिल-पुष्पादि समस्त यागकारकों का प्रोक्षण करना चाहिये। वहीं पर द्वार, (द्वारस्थदेवता) आसन व गुरुक्रम की संकल्पना करके उनकी एवं अपने देह की अर्चनापूर्वक शिवाविष्ट भाव से पूजा की जाती है। देवतागणों के आवाहन के अन्तर्गत निर्मल आकाश की भाँति निर्मल स्फटिक निर्मित स्थण्डिल (विवेक, २. ४३) को बोध से परिपूर्ण दृष्टि से देखते हुए, वहाँ अपने देवतागणों को प्रतिबिम्बस्वरूप में देखे जिनका बिम्ब बोध में स्थित होता है। सर्वव्यापी देवतागणों का यह आवाहन उसी प्रकार है जिस प्रकार सर्वव्यापी वायु को पंखे से एक स्थान पर घनीभूत किया जाता है। निर्मर्यादशास्त्र में आवाहन के विषय में कहा गया है कि सर्वव्यापी, असीम शिव का

आवाहन-विसर्जन सम्भव नहीं है। वस्तुतः साधक की वासना का ही आवाहन-विसर्जन होता है न कि देवता का (तन्त्रा., २६. ३६स-४६)।

मन्त्रगणों का आवाहन करके श्रद्धा, भक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार पुष्पासव का निवेदन एवं धूपादि के द्वारा तर्पण करना चाहिये। दीप्त शक्ति, नादादि मन्त्रों का पहले सुरा, मांस, रक्त से तर्पण करके तदनन्तर पुष्प, धूपादि के द्वारा तर्पण करना चाहिये। आगत मन्त्र का तर्पण न करने पर वह अर्ध शरीर का हरण कर लेता है (तन्त्रा., २०. ५१स-५४ब)। कार्य अथवा फल में विशेषता की दृष्टि से तर्पण-द्रव्यों में भी वैशिष्ट्य होता है जिस प्रकार रक्त-कपास की इच्छा रखने वाले को तत्सम्बन्धी विशिष्ट बीज ही बोना होता है। इसलिए संवित् को विकास प्रदान करने वाले द्रव्यों से ही पूजा तर्पणादि करना चाहिये।

अभिनवगुप्त ने तर्पण का पारमार्थिक स्वरूप अपने आह्निक-पूजा के स्तोत्रों में अनेकत्र निरूपित किया है। तदनुसार पारमार्थिक भाव-प्रसार का आश्रय लेकर जो परमामृत दृष्टि उल्लसित होती है, रहस्यवेत्ता उसी के द्वारा तुम्हारी अर्चना करते हैं। चमत्काररूप रस की बूंदों के प्रोक्षण से आधारभूमि को निर्मल कर के मन से प्राप्त अपने आनन्द का सन्दोहन करने वाले स्वभावपुष्पों के द्वारा, आनन्दामृत में निमग्न हृदय वाले तुम्हारी, देवी के साथ देहरूपी देवतासदन में मैं दिन-रात अर्चना करता हूँ। अनेक प्रकार के आस्वाद एवं रस वाले इस त्रिलोक को हृच्चक्ररूपीमन्त्र को अर्पित करके, ऊर्ध्वस्थित बोध के गौरव से दबाने पर जो मृत्यु, वृद्धावस्था आदि को दूर करने वाला संविद्रूपी परम-अमृत निकलता है, उस परम हवि से मैं तुम्हारा दिन-रात तर्पण करता हूँ (तन्त्रा., २६. ६२-५)। तर्पण के पश्चात् मन से योगपूर्वक, वाणी से मन्त्रपूर्वक अथवा शरीर की विशिष्ट आकृति (आसन) से मुद्राप्रदर्शन करना चाहिये। तदनन्तर जप करके सब कुछ देवताओं को समर्पित करना चाहिये।

तदनन्तर बोधैकात्म्य प्रयोगपूर्व का विसर्जन करना चाहिये अथवा उक्त विधान से वहिर्गत मन्त्र की तृप्ति करके द्वारस्थ, पीठस्थ देवताओं एवं गुरुवृन्द को अर्घ्य निवेदन करके, बची हुई सामग्री को स्वयं खाना चाहिये और शेष को गहरे जल में फेंक देना चाहिये (तन्त्रा., २६. ६७-७०) जिसे जलीय प्राणी खा लेते हैं।

अदीक्षित प्राणी को शिवोपभुक्त हवि के भोग का अधिकार नहीं है किन्तु जलीय प्राणी पूर्व में मीननाथ के रूप में अवतरित शम्भु के द्वारा दीक्षित हैं इसलिए उनके हविभक्षण में दोष नहीं है (तन्त्रा., २६. ७१)।

श्रौत विधि में भी यज्ञ से बची हुई सामग्री के उपभोग को विशेष पुण्यकारी माना गया है--

"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"।।-गीता, ३. १३.

यही नहीं, देवता, गुरु आदि को निवेदन किए बिना अकेले खा लेने वाला व्यक्ति पाप का भागी होता है-केवलाघो भवति केवलादी (ऋग्वेद, १०.११७.६)।

यागादि के अन्तर्गत देश, काल, अनुसन्धान, गुण, द्रव्य, क्रियादि से सम्बन्धित उपर्युक्त विधान बुभुक्षु साधकों के लिए ही है। मुमुक्षु के निः श्रेयस्- प्राप्ति के मार्ग में करणीय-अकरणीय का कोई विधान नहीं

है (तन्त्रा,. २६. ५८-६)।

लिङ्ग-पूजा

नित्यविधि के अन्तर्गत कल्पन एवं पूजन का भी विधान है। लिङ्ग-पूजा तन्त्रालोक में मालिनीमत (१८ वें अधिकार) के अनुसार निरूपित है। पुत्रक एवं साधक के लिए तन्मयीभाव की सिद्धि अथवा अभीष्ट फल की प्राप्ति पर्यन्त व्यक्त अथवा अव्यक्त लिङ्गपूजन का विधान किया गया है (तन्त्रा., २७. ६)।

लिङ्ग की स्थापना गुरु के द्वारा की जाती है। यद्यपि साधक स्वयं भी लिङ्ग-स्थापन के योग्य माना गया है फिर भी वह चाहे या उसके असमर्थ होने पर, उसके एवं पुत्रक के द्वारा प्रार्थना करने पर गुरु-लिङ्ग-स्थापना के अन्तर्गत विभु परमेश्वर से निरोधनात्मक काल में यह निवेदन करता है - "इसके जीवन-पर्यन्त अथवा फल-प्राप्ति-पर्यन्त आप इसमें स्थित रहें।" लिङ्ग बाण-लिङ्ग अथवा रत्ननिर्मित, मोतियों से, पुष्पों से अन्न के द्वारा अथवा वस्त्र पर अथवा गन्धद्रव्य के द्वारा निर्मित हो सकता है, किन्तु शिल्पी के द्वारा पत्थर पर बनाए गए लिंग को कल्पित नहीं करना चाहिये। धातुओं में केवल सुवर्ण-निर्मित लिङ्ग ही स्वीकार्य है। लिङ्ग के लिए कोई निश्चित माप विहित नहीं है। उदार, वीर्ययुक्त मन्त्रों के द्वारा आभासित कोई भी लिङ्ग फलदायी होता है (तन्त्रा., २६. १०-१४)।

लिङ्ग की शुद्धि स्थण्डिल-याग में निरूपित विधि के द्वारा की जानी चाहिये। मन्त्रार्पण एवं अग्नि में तर्पण भी उसी प्रकार करना चाहिये। इस प्रसंग में गुरु को विशेषरूप से अधिक दक्षिणा देनी चाहिये। समस्त अव्यक्त लिङ्गों में अकल्पित लिङ्ग प्रधान होता है। परमेश्वर द्वारा बताए गए लिंग के लक्षणों में कहा भी गया है कि सूत्र, पात्र, ध्वज, वस्त्र, स्वयम्भु, बाणपूजित, नदी के प्रवाह से उत्थित (पत्थर की आकृति-विशेष) आदि लिङ्गों में आह्वान अथवा कल्पना की आवश्यकता नहीं होती और न ही पीठ, प्रसाद, मन्त्र, अंश, वेलादि के नियमों की आवश्यकता होती है, जबकि चित्र-पुस्तकादि पर निर्मित अथवा देवदारु या सुवर्णनिर्मित लिङ्ग के लिए होती है। यदि गुरु, दीक्षित श्रेष्ठ शिल्पी द्वारा निर्मित लिङ्ग की स्थापना करता है तो लक्षणों से युक्त सिर एवं उसकी भुजा (कर्प) पर आश्रित पंक्ति, चक्रक, शूल, पद्मादि की विधिपूर्वक तूर का आश्रय लेना चाहिये। तूर विधि का योग सदैव प्रशंसनीय, सिद्धिदायी एवं दोषरहित माना गया है (तन्त्रा., २७. १५-२१)।

प्राच्य गुरुओं के अनुसार तूर विधि काम्य कर्मों के अन्तर्गत की जानी चाहिये, किन्तु अभिनवगुप्त के गुरु के अनुसार काम्य कर्मों में प्रयत्नपूर्वक दोषों का त्याग किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २७. २३स-२४)।

तन्त्रालोक में सिद्धातन्त्र के अनुसार तूर का लक्षण निरूपित है जिसे विवेककार ने उद्दृत किया है। तदनुसार सर्वप्रथम श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त कपाल की परीक्षा कर लेनी चाहिये। एक खण्ड, द्विखण्ड, त्रिखण्ड, चतुष्खण्ड, गोमुख के समान अथवा पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्तिमान् अथवा कमल, जल, मोती, प्रवाल, इन्द्रनीलमणि अथवा शुद्धफंटिक के समान आभायुक्त, विद्या (तीन) रेखाओं से युक्त, एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच रन्धों वाले, शुभ लक्षणों वाले कपाल में तूर-निर्माण करना चाहिये। रूखे, जर्जर, कठोर, टेढ़े-मेढ़े, लम्बे खड्डों वाले,

नीचे-ऊँचे कपाल में क्रिया नहीं करनी चाहिये। समस्त इच्छित लक्षणों से युक्त कपाल को लेकर उसके ऊर्ध्वपुट में मन में स्थित देवीगणों से युक्त प्रतिमा का समस्त अवयवों सहित तीक्ष्ण वज्रसूची से निर्माण करना चाहिये (तन्त्रा., २७. २५-७)।

इसी प्रकार अर्घपात्र भी कल्पित करना चाहिये। श्रीब्रह्मयामल में भी कहा गया है कि गोमुख, हाथी अथवा कछुए के समान तल वाला एवं कुम्भ के समान गोलाकार गुह्य आकृति वाला पात्र अर्घपात्र के लिए उत्तम होता है (तन्त्रा., २७. २८स-२६) अथवा नारियल, बिल्वपत्र, सुवर्ण एवं रजत के अर्घपात्र जो क्रमशः श्रेष्ठतर हैं, कल्पित किए जाने चाहिये (तन्त्रा., २७. ४०)।

इसके पश्चात् अक्षसूत्र-कल्पन का विधान है। अक्षसूत्र, महाशंख, पद्माक्ष, मोती, रत्न, अथवा सुर्वण निर्मित होने पर क्रमशः उत्कृष्ट होता है। रुद्राक्ष का अक्षसूत्र श्रेष्ठ माना गया है। एक सौ पन्द्रह अथवा एक सौ आठ अथवा चौपन अथवा सत्ताइस की गणना वाले अक्षसूत्र का कल्पन करना चाहिये (तन्त्रा., २७. ३०-३२ब)।

अक्षसूत्र कल्पन के पश्चात् उसका भी स्थण्डिल याग की भाँति पूजन करना चाहिये। तत्पश्चात् उसके द्वारा सावधान होकर जप करना चाहिये। अक्षसूत्र कल्पन एवं जप की विधि मालिनी-विजयोत्तर (१६वें अधिकार) में निरूपित है। अक्षसूत्र को चक्र के समान घुमाते हुए साधक जो कुछ भी कहता है वह जप-स्वरूप होता है एवं जो कुछ भी देखता है वह हवन-स्वरूप होता है क्योंकि वह (साधक) बोधरूपी अग्नि में प्रवेश कर चुका है (तन्त्रा., २७. ३७स-३६)।

इस प्रकार तान्त्रिक कर्मकाण्ड में बाह्य कर्मों की अपेक्षा ज्ञान एवं भावना की प्रधानता सर्वत्र लक्षित होती है। बाह्य क्रिया-विशेष के स्थूल अथवा सूक्ष्म विधान के बिना भी आवश्यक मानसिक भावना से की गई क्रिया उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति करवाने में समर्थ होती है।

कुछ अन्य शास्त्रों में उल्लिखित अन्य पूजाधार अथवा पूजा के काम में आने वाली सामग्रियाँ ये हैं- श्रीमत्कालीमुख के अनुसार खंग, कृपाण, कैंची, दर्पण आदि का भी कल्पन किया जाना चाहिये। श्रीभैरवकुल के अनुसार कुल एवं पर्वपूजन में स्थण्डिल, अग्नि, वस्त्र, लिङ्ग, पात्र, कमल, मण्डल, मूर्ति , घट, अस्त्रसमूह , सूत्र आदि में अपने लिए निर्मित विधि से पूजा की जानी चाहिये। शान्ति के लिए मन्त्रों की जल में पूजा की जाती है एवं अन्य प्रयोजन के लिए अस्त्रादि में पूजा की जाती है, इसलिए विधान के अनुसार ही पूजा करनी चाहिये। निष्काम दृष्टि से की गई पूजा पाशच्छेद एवं तत्त्वों में आप्यायकारिता को देने वाली होती है (तन्त्रा., २७. ४४-४८)।

इस प्रकार पुत्रक व साधक के तन्मयी - भाव की सिद्धि हो जाने पर वे लिङ्गादि किसी दूसरे (पुत्रक अथवा साधक) को समर्पित कर दिए जाते हैं। उनके न होने पर लिङ्गादि का क्षमाप्रार्थनापूर्वक विसर्जन करके, उन्हें अगाध जल में फेंक दिया जाता है (तन्त्रा., २७. ५३-४)।

नैमित्तिक कर्म

जो कुछ नियत है वह नित्य माना जाए तो सभी के सर्वदा तन्मयी-भावत्व की आपत्ति होगी। स्नानादि में प्रवृत्त व्यक्तियों की भी नियत होने के कारण कभी निवृत्ति नहीं होगी। इसलिए कुछ भी नित्य नहीं है, सब कुछ नैमित्तिक है (विवेक, २८.२)। अभिनवगुप्त के अनुसार दिनादि के विभाग की दृष्टि से एवं कभी - कभी होने पर भी जिसकी सत्ता निश्चित है एवं प्रत्यवाय की जिहासा से आवश्यक भी है और जिसका प्रमाता (कर्ता) नियत नहीं है, वह नैमित्तिक कहलाता है (तन्त्रा., २८. ४.)।

संविद् -विकास अथवा आत्मस्वरूप - लाभ की दृष्टि से किए जाने वाले यागादि, संवित्प्ररोह से सम्बद्ध दिवसों में विशेष प्रभावकारी होते हैं। इस दृष्टि से नैमित्तिक यागों को करने के लिए विविध पर्व बताए गए हैं।

पर्व

पर्व शब्द √पृ पालनपूरणयोः धातु से वनि प्रत्यय होकर निष्पन्न है। पूरणात् पर्व इस निर्वचन की दृष्टि से भी पर्व संवित् की पूर्णता-लाभ का अवसर है। "स्वसंवित्पूर्णतालाभसमयः पर्व भण्यते"--(तन्त्रा., २८. १६.) अथवा विवेककार के अनुसार स्वरूपलाभ का अवसर पर्व है---

"यो यस्मिंस्तिथौ संभूतः तत्तस्य कुलपर्वेति भावः।"

अथवा मोक्ष का साक्षात् उपाय आत्मज्ञान की प्राप्ति जिस दिन हो वह मुख्य पर्व कहा गया है (तन्त्रा., २८. १६२) —

"यदा हि बोधस्योद्रेकस्तदा पर्वाह पूरणात्।
जन्मैक्यदिवसो तेन पर्वणी बोधसिद्धितः।।" --तन्त्रा.,२५.१२

जब बोध का उद्रेक हो, वह समय संवित् को पूर्णतालाभ कराने के कारण पर्व कहलाता है। इस दृष्टि से जन्म एवं मृत्युदिवस पर्व होते हैं।

शैवशास्त्रों में दो प्रकार के पर्वों को स्वीकार किया गया है-- कुलपर्व एवं अकुल -पर्व। विवेककार के अनुसार कुलपर्व कुल अथवा व्यक्ति के जन्म से सम्बन्धित है। जो व्यक्ति जिस दिन उत्पन्न हुआ वही उसके लिए कुल पर्व है। तन्त्रालोक में निरुपित कुलपर्वों के आधार पर उनका स्वरूप यह माना जा सकता है। जो तिथियाँ किसी देवता से अथवा नक्षत्र से सम्बन्धित होने के कारण वैशिष्ट्य रखती हों, वे कुलपर्व के अन्तर्गत आती हैं। अभिनवगुप्त ने कुल पर्वों का निरुपण भैरवकुल, हैडर, त्रिकसद्भाव, त्रिक, कालीकुलादि शास्त्रों के आधार पर किया है।

कुलाष्टककृत श्रीयोगसंचारशास्त्र में कुलपर्वों का निरुपण निम्नप्रकार से किया गया है---

चतुर्दशी एवं सप्तमी माहेशी की, प्रतिपदा, पंचदशी ब्राह्मी की, षष्ठी एवं तृतीया कौमारी की, चतुर्थी व द्वादशी वैष्णवी की, पंचमी व त्रयोदशी इन्द्राणी की, नवमी व एकादशी वाराही की, अष्टमी एवं द्वितीया चण्डी की,

अष्टमी व दशमी योगेशी की ---इस प्रकार सभी देवियों की दो-दो तिथियाँ होती हैं।

अकुल पर्व--

कुल पर्व से वैपरीत्य की दृष्टि से अकुलपर्व कहे गए हैं अथवा अकुल, अशरीर अथवा शक्ति में होने की दृष्टि से इन्हें अकुल पर्व कहा गया है। इस आधार पर साधक की संवित् में वैशिष्ट्य का आधान करने वाले पर्वों को अकुल पर्व कहा जा सकता है।

इस विभाजन के अतिरिक्त अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित पर्वों का दो प्रकारों से विभाजन किया जा सकता है--

१. ज्योतिष की दृष्टि से तिथि-नक्षत्रादि से सम्बन्धित वैशिष्ट्य वाले दिवस।

२. साधक की संवित् को उत्कर्ष प्रदान करने वाले दिवस।

नक्षत्रादि की दृष्टि से वैशिष्ट्य रखने वाले पर्वों का अनेक प्रकार से निरूपण किया गया है--

१. सामान्य एवं विशेष की दृष्टि से षड्विध पर्व बताए गए हैं (तन्त्रा., २८, ३१-३५)---

१. सामान्य २.सामान्यसामान्य ३. सामान्यविशेष ४. विशेष ५. विशेष सामान्य ६. विशेष-विशेष

१. मास का प्रथम एवं पंचम दिवस उत्कृष्ट पर्वदिवस होने के कारण श्रीदिन कहलाता है।

२. दोनों पक्षों की चतुर्थी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी एवं पंचदशी सामान्यसामान्य पर्व कही गई है।

३. उपर्युक्त दिवस जब भग्रह से युक्त हो तो सामान्यविशेष पर्व होते है।

४. आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की नवमी भग्रहात्मक होने से विशेष पर्व होती है।

५. मास के दोनों पक्षों की चतुर्थी, अष्टमी,नवमी, चतुर्दशी एवं पंचदशी भग्रह से युक्त होने पर विशेषसामान्य पर्व कहलाती है।

६. मार्गशीर्ष की नवमी भग्रह से युक्त होने पर विशेषविशेष पर्व कही गई है अथवा फाल्गुन मास की शुक्ला द्वादशी त्रयोदशी से युक्त होने पर विशेष-विशेष पर्व कही गई है।

द्वादश पर्व--

सम्पूर्ण वर्ष में नक्षत्र एवं तिथि की दृष्टि से विशिष्टता रखने वाले बारह पर्व बताए गए हैं। मार्गशीर्ष मास के कृष्णपक्ष की नवमी की रात्रि के प्रारम्भ में आदित्य के उत्तर फल्गु नक्षत्र से युक्त पूर्वार्ध के दो प्रहर प्रथम पर्व एवं पौष मास के कृष्ण पक्ष की नवमी में अर्धरात्रि में चित्रा एवं चन्द्रमा का योग होने पर द्वितीय पर्व होता है। माघ मास की पूर्णिमा को अर्धरात्रि के समय मघ से बृहस्पति का योग होने के समय तृतीय पर्व होता है। फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को दो-पहर के समय तिष्य व चन्द्रमा के योग का काल चतुर्थ पर्व, वैशाख-कृष्णा-अष्टमी मध्याह्न में बुधश्रवण-संगम काल षष्ठ पर्व, ज्येष्ठ-कृष्णा-नवमी दिन में मध्य में चन्द्र व वरुण का योग-काल सप्तम पर्व, आषाढ़-शुक्ला-प्रतिपदा सूर्य के मध्याह्न में होने पर मूल एवं भास्कर का योग-काल अष्टम पर्व, श्रावण-कृष्णा-एकादशी का प्रभातकाल में रोहिणी व शुक्र का योग होने पर नवम पर्व, आश्विन-शुक्ला-नवमी में,

ग्रहनक्षत्र वेलाकाल नहीं गिनाजाता है, यह महोदया कुलसिद्धि को देने वाला एकादश पर्व है। कार्तिक-शुक्ला-नवमी में रात्रि प्रारम्भ में श्रवण एवं चन्द्रमा की समापत्ति (मिलन) होने पर द्वादश पर्व होता है (विवेक २८. ३६)।

आश्विन मास में कोई भी समय भग्रह से युक्त नहीं होता इसलिए उसे छोड़कर एकादश मासों में भग्रह - कलना की गई है (तन्त्रा., २८. ४२स-४३ब)।

पर्वरूप से अभिमत दिवस अथवा रात्रि के तीन भाग-प्रथम, मध्यम व अपर-कर के उनमें से अभिमत पूजा काल को पुनः तीन भागों में विभाजित करके प्रथम, मध्यम अथवा पर जो मुख्यतम पूजा-काल है, वहीं पर निर्दिष्ट कन्या अन्त्यजादि को चक्रपूजन होता है एवं उसी समय यदि भग्रहादि भी संघटित हो तो उसी क्षण में किया जाने वाला याग आदियाग प्रधानयजन होता है इसी कारण पर्वकाल में याग, ज्ञानादि के बिना भी पूजा से ही इष्टसिद्धि होती है। उन (पर्व) में भी दिन, वेला, भग्रह कलनादि के द्वारा सौम्यत्व एवं रौद्रत्व को जान कर ही साधक को तदनुकूल शान्त्युच्चाटनादि कार्यों को करना चाहिये (तन्त्रा., २८. ४५-४७अब)। दिन, वेलादि के आधार पर जो काल सौम्य हो, उसमें शान्तिप्रधान कर्म एवं रौद्र काल में उच्चाटनादि कर्म किए जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि अन्य तन्त्रशास्त्रों में पाए जाने वाले षट्कर्म-मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, शान्ति, स्तम्भन आदि कुल व क्रम शाखा में भी स्वीकृत एवं प्रचलित थे।

जो अर्चाकाल बताया गया है उसका उल्लंघन, यदि भग्रहतिथि हो तो उस (तिथि) को छोड़ कर विशेष वेलायोग को प्रधानता देते हुए करना चाहिये, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, किन्तु अभिनवगुप्त के गुरु के अनुसार तो तिथि ही विशिष्ट है, वेला नहीं। जब प्रमाणात्मक सूर्य के किरणसमूह से प्रमेयात्मक चन्द्रमा का एक-एक कलारूप-भाग, लगभग साठ घटिकात्मक काल में, सामने का भाग अथवा पीछे का भाग पूर्ण शुक्लता को प्राप्त हो जाता है तो वह तिथि पूर्णिमा अथवा अमावस्या भग्रह से विशिष्ट होती है (तन्त्रा., विवेक, २८. ४७स-४६)।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार प्रमुख पर्व हैं--

कृष्णपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा, संक्रान्तिकाल पाँच पर्व हैं, इनके अतिरिक्त गुरु का जन्मदिन, उनके गुरु का जन्मदिन व प्रगुरु के गुरु का जन्मदिवस, स्वयं का जन्म-दिवस, सम्पत्ति-लाभ, तप, दीक्षा व्रत, उत्सव, पीठोपगमन, वीरपीठ में, स्वजन का दर्शन होने पर, दैशिक के आगमन पर पुण्य तीर्थ दर्शन एवं देवतादर्शन होने पर विशेष पूजा करनी चाहिये (कु.त., १०. ७-१)।

संविदुत्कर्ष की दृष्टि से नैमित्तिक दिवस-

तन्त्रसार के आधार पर संवित्प्ररोह की दृष्टि से विशेष अर्चना के लिए तेबीस नैमित्तिक दिवस निरुपित है (तन्त्रा., २८. ६-६)-

१. ज्ञान-प्राप्ति २. शास्त्र-प्राप्ति ३. गुरु-प्राप्ति ४. भ्रातृ-प्राप्ति ५. सम्बन्धी-प्राप्ति ६. जन्मदिवस ७. संस्कार

(गुरु के द्वारा अभिषेक दिवस) ८. अभेद - (मृत्यु) दिवस ९. लौकिक उत्सव १०. श्राद्ध ११. सत्संगति १२. विपत्ति (शक्ति के अपहरण) का प्रतीकार १३. प्रमोद (हृतशक्ति का पुनर्लाभ) १४. अद्भुत विश्वक्षोभादि का दर्शन १५. योगिनीमेलक १६. स्वांशसन्तान अर्थात् स्वमठिका सब्रह्चारी से मिलन १७. शास्त्र-व्याख्या का प्रारम्भ १८. शास्त्र-व्याख्या का मध्य १९. शास्त्र-व्याख्या का अन्त २०. चक्र-क्रम से उदय होने पर २१ स्वप्न में देवता-दर्शन २२. अपने अभिषेक का दिन २३. प्रायश्चित्ताचरण।

भोग अपवर्गादि की हेतुभूत देह के जन्मदिवस को विज्ञानोपाय कहा गया है। देह के बिना आत्मज्ञान की सिद्धि सम्भव न होने के कारण इसका जन्मदिवस नैमित्तक दिवस है। दीक्षा संस्कार के बिना देह के रहते हुए भी ज्ञान-प्राप्ति असम्भव होने के कारण दीक्षा दिवस एवं गुरु के बिना दीक्षा सम्भव न होने के कारण गुरु का जन्मदिन भी मुख्य नैमित्तिक दिवस है। मृत्यु-दिवस भी शिव से ऐकात्म्य प्रदान कराने वाला होने के कारण विशिष्ट नैमित्तिक दिवस है (अन्य व्यक्ति के मृत्यु-दिवस पर ही नैमित्तिक कर्म किया जाना सम्भव है तन्त्रा., २८. २१३-१६)।

केवल मरणदिवस ही पर्व नहीं होता अपितु जो भी लौकिक उत्सव स्वात्म विश्रान्ति प्रदान करते हुए संवित्सागर में तरंग उत्पन्न करता है वह भी पर्व के समान है। इससे विपत्तिनाश, प्रमाद (हारित शक्ति का पुनर्लाभ) आदि में पर्वत्व बताया गया है। उनमें विशेषरुप से देवतार्चन करना चाहिये। पुरक्षोभादि में स्वातन्त्र्य एवं स्वसंवित् की दृढ़ता के लिए उनकी प्राप्ति के दिन विशेष अर्चना करनी चाहिये (तन्त्रा., २८. ३६८-७०)।

पर्व-महत्त्व-

इस प्रकार संवित् में वैशिष्ट्य का आधान करने वाले दिवस पर्व होते हैं। इन अवसरों पर संवित् पूर्णता को प्राप्त करती हुई कामधेनु के समान इच्छित फल को तत्काल प्रदान करती है (विवेक, २८. २३)। इसलिए पर्व दिवसों पर पूजा का विशेष निर्देश मिलता है। इन पर्व दिवसों पर गुरु व देवताओं का तर्पण प्रमादवश नहीं करने वाले जन दुराचारी, दुष्ट एवं पशुतुल्य हैं। नित्यपूजा नहीं करने पर भी इन दिवसों पर ज्ञानशक्ति आदि की प्राप्ति के लिए पूजा अवश्य करनी चाहिये। वशीकरण, आकर्षण एवं मारणयुक्त जो शक्तियाग बताया गया है वह सब पर्वदिवस पर बिना प्रयत्न के ही सिद्ध हो जाता है (तन्त्रा., २८. २७स-३०)।

"पर्वसु विनापि योगं ज्ञानं वा पूजयैव काम्यं सिद्ध्येत्" (-विवेक, २८. ४७)

ग्रह नक्षत्रादि की विशिष्ट स्थिति का मानव-जीवन पर प्रभाव ज्योतिष शास्त्र के द्वारा विवेचित है। प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के समय ग्रहों की जो स्थिति होती है, उसका उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। कालान्तर में उससे सम्बन्धित ग्रहों की विशिष्ट स्थिति उसके कार्यों की सफलता, असफलता एवं उसकी चेतना को भी प्रभावित करती है। ग्रह नक्षत्रों की विशिष्ट स्थिति अथवा चेतनालाभ कराने वाले काल में संविदुत्कर्ष अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म करने पर अल्प-प्रयास से ही सफलता प्राप्त होना उचित ही है। पर्व दिवसों में प्रमुखरूप से अनुयाग

किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २८. ४०स द)। गुप्तागुप्त विधानयुक्त चर्याक्रम से पूर्ण होने वाला आदि - याग इस (अनु) याग का अंगभूत ही है। समस्त कर्मों में अनुयाग का ही विनियोग होने के कारण उसी का अनुष्ठान करना चाहिये (तन्त्रा., २८. ४१, ४२ ब)।

अनुयाग चक्र में कन्या, अन्त्यजा, वेश्या, रागवती, तत्त्ववेदिनी, दूती आदि की व्यस्त (एक-एक करके) व समस्त (एक साथ) रूप से पूजा करनी चाहिये (तन्त्रा., २८. ३९स ४०ब)।

नैमिति क विधि-

नैमित्तिक विधि के अन्तर्गत प्रमुखरूप से देव की अर्चना एवं चक्रयाग करना चाहिये। इसके अन्तर्गत ही जो कुछ भी इच्छित भोग अथवा मोक्ष के उपकारक हों, उन सबका एवं उसके उपायों यथा मूर्ति, कुलपर्वादि काल, स्नानध्यानादि क्रियाओं का भी पूजन तन्मयता-प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २८. १८७-८६)।

चक्रचार में निष्णात पूर्णसंविद् अथवा उनके मेलक से युक्त व्यक्ति चक्र अथवा पूर्णसंवित् की पूजा में सदा निरत रहते हैं। जो चक्रचार से अनभिज्ञ अथ वा अनिष्णात हैं वे भी उस काल में स्वक्रमार्चन से एवं योगिनीसिद्धसंघमिलन से तन्मयीभाव को प्राप्त हो जाते हैं (तन्त्रा., २८. १८स -२०ब)। पर्वादि में पूर्ण संविद् कामधेनु के समान होती है जिसकी पूजा करने से तत्काल फल मिलता है (विवेक, २८. २०)।

जिस प्रकार (नाटक) दृश्य आदि में देर से प्रवेश करने पर भी किसी द्रष्टा को तुरन्त उसका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार योगाभ्यास के क्रम से प्राप्त होने वाली पूर्णसंवित् को व्यक्ति संविदैक्यापन्न चक्र में प्रवेश करने से तत्काल प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., २८. २०स- २२ब)।

जिस प्रकार चिरकाल से धनवान् व्यक्ति आदरपूर्वक उत्सव करते समय, तत्काल उस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले व्यक्ति पर भी अनुग्रह करता है उसी प्रकार योगिनीसिद्ध नायक सुफलसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होने पर भी तत्क्षण अभिज्ञात नवागन्तुक को भी अनुगृहीत करते हैं (२३स-२५ब)। दैशिक की आज्ञा से जिसके हृदय में जो मन्त्र, योग और क्रम रहता है वह पूजन से सिद्धिदायी होता है। सिद्धि एवं मुक्ति के लिए उसकी कुलाचार से पूजा की जानी चाहिये (तन्त्रा., २८. २६-२७ब)।

योगिनीमेलक- दो प्रकार का होता है - हठमेलाप एव प्रियमेलाप।

हठमेलाप-- तार-ओं, शूामरय का पिण्ड एवं नमस्कार अर्थात् श्म्र्यूँ नमः यह चतुर्वर्ण मन्त्र शाकिनी (तन्त्रा., १५. ५३२) स्तोभन करने वाला मर्म कहलाता है एवं षष्ठस्वर-ऊ, प्राण-ह, त्रिकूट-क्ष, ऊर्ध्वबाहु-झ, शूल-औ, बिन्दु-अनुस्वार, अनच्क-नाद एवं अर्धचन्द्र से निर्मित-ह्क्ष्झ्रौं यह मन्त्र सर्वसंहारक भैरव नामक हृदयमन्त्र कहा गया है। अग्निमण्डल में स्थित होकर भैरवानल (भैरव नामक हृदयमन्त्र) से तप्त करने पर शक्तियाँ वश में आ जाती हैं अर्थात् हठपूर्वक मेलाप करती हैं। हठमेलाप के पश्चात् तुरन्त उनका विसर्जन कर देना चाहिये अन्यथा वे दोष उत्पन्न करती हैं (तन्त्रा., ३०. ६३स-६७ब)। हठमेलाप में विशेषरूप से छिद्ररक्षण का विधान किया गया है (तन्त्रा., २८. ३७१)।

प्रियमेलाप-

षष्ठ स्वरों से युक्त ह्री क्लीं व्लें क्लें इन वर्णों से हृदय (पूर्वोक्त हृक्षर्ह्रौं) को संपुटित कर के जप करना चाहिये। प्रत्येक वर्ण से अथवा दो वर्णों से अथवा सभी वर्णों से एक साथ संपुटित करने पर प्रियमेलाप होता है (तन्त्रा., ३०. ६७स-६८) जिसमें इच्छानुसार आचरण का विधान किया गया है (तन्त्रा., २८. ३७१)।

योगिनीमेलक से अवश्य ज्ञानप्राप्ति होती है इसलिए वह पर्व होता हे। अपनी सन्तानादि से मिलन भी पर्वदिवस होता है (तन्त्रा., २८. ३७२स ७३ब)।

जो संवित् सर्वव्यापिनी होने पर भी देहभेद से संकुचित प्रतीत होती है वही मेलक में दूसरी संवित् से प्रतिबिम्बित होने के कारण संकोच त्याग कर पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करती है। इन्द्रियरश्मियों के माध्यम से बाहर की ओर उच्छलित संवित् अनेक दर्पणस्वरूप योगिनीसम्बन्धी संविदो में प्रतिबिम्बित होती हुई सभी में विकास को प्राप्त करती हुई सर्वाकारता को प्राप्त करती है - (तन्त्रा., विवेक, २८. ३७३स ७५ब)।

अनेक सभाओं में गाए हुए गीतादि में सभी के तन्मयीभाव में जो प्रसन्नता होती है वह किसी एक की नहीं होती। संवित् स्वतः ही आनन्दनिर्भर होती है, वह नृत्यादि विषयों से उस प्रकार की एकता को प्राप्त करके पूर्णानन्द प्राप्त करती है (तन्त्रा., २८. ३७५स-७७ब)। यहाँ (नृत्यादि विषयों में) संकोच के कारण ईर्ष्या, असूया आदि के कारणों का अभाव होने से वह संवित् निर्मल स्वच्छ आनन्द से युक्त होती है। इसलिए चक्रार्चनादि में अतन्मय विजातीय को, उसके संवित्-संकोच के कारण प्रवेश नहीं देना चाहिये। अपने अभिन्न अंगों की भाँति जितने शरीर एक संवित् पर आश्रित हो सकें, उनकी ही चक्र में पूजा करनी चाहिये। इतने पर भी कोई प्रमादवश चक्र में प्रवेश कर जाए तो उससे संकोच न करके अपने निश्चित आचरण को उसके साथ करना चाहिये जिससे वह अनुग्रह शक्ति से युक्त होकर तन्मयी हो जाए अन्यथा उसकी निन्दा करने के पश्चात् उसे समाप्त कर देना चाहिये। समयोल्लंघन करने वालों के लिए शास्त्रों में यही विधान है--

"समयप्रतिभेत्तृंस्तदनाचारांश्च घातयेत्।"

श्रीमत्पिचुशास्त्र में भी यही कहा गया है कि प्रारम्भ में प्रवेश को यत्नपूर्वक नियमित करना चाहिये किन्तु यदि कोई प्रवेश कर लेता है तो उसके विषय में विचार नहीं करना चाहिये (तन्त्रा., २८. ३७६स-८४ब) अथवा लोकाचार-स्थिति की दृष्टि से अतन्मय में प्रवेश करने पर चक्रार्चनरत व्यक्ति को उस काल में चक्रपूजा आदि नहीं करनी चाहिये। उस व्यक्ति के चले जाने पर अथवा दूसरे दिन उस पूजा को करना चाहिये (तन्त्रा., २८. ८४स-८५ब)। कुलार्णवतंत्र के अनुसार भी पशु की सन्निधि में मत्स्य, मांस, आसव के द्वारा अर्चना नहीं करनी चाहिये (११, १२अब)।

पवित्रक विधि

श्रीरत्नमाला, त्रिशिरस्, श्रीसिद्धाटनसद्भाव, मालिनीसारशासन आदि शास्त्रों के आधार पर तन्त्रालोक में पवित्रक विधि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पवित्रक विधि प्रमुखरूप से रत्नमाला शास्त्र पर आधारित है (तन्त्रा., २८. ११२-३)।

वासुकि के बड़े भाई नागराज पवित्र क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न विष के कारण मूर्च्छित हो जाने से अपने लोक में वर्षा-काल में निवास करने में असमर्थ थे। उन्होंने भैरव की आराधना सहस्र वर्ष तक केवल वायुभक्षण करके की एवं उनके सन्तुष्ट होने पर निवेदन किया-- "हे नाथ! वर्षाकाल में मैं अपने पाताल में निवास करने में समर्थ नहीं हूँ।" परमेश्वर ने भी उन्हें अपनी जटाओं में धारण कर लिया' इस प्रकार समस्त देवताओं के सिर पर धारित हुए।

महान् व्यक्तियों के द्वारा सम्मानित व्यक्ति की सभी को पूजा करनी चाहिये। इसलिए पवित्रक विधि विशिष्ट दिवसों में करणीय है, वैसे भी पवित्रक विधि के बिना दीक्षा, ज्ञान, गुरु की आराधना आदि सब कुछ व्यर्थ है क्योंकि नाग इन सबका शिवाज्ञा से हरण कर लेता है। स्वयं महेश्वर के द्वारा सिर पर धारण किए हुए और इसी के द्वारा समस्त देवताओं के एवं स्वयं शिरोभूत नागराज पवित्र की कुलज्ञानियों द्वारा यागपूर्वक पवित्रक विधि से पूजा की जानी चाहिये (तन्त्रा., २८. ११८-२१ब)।

करणीयकाल-

आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में जब सूर्य मिथुन कर्क अथवा सिंहादि में स्थित हो, तब से प्रारम्भ करके कार्तिक मासके अन्तिम दिन तुलपूर्णिमा पर्यन्त अविच्छिन्नरूप से पवित्रक विधि को करना चाहिये। नित्यातन्त्र को मानने वाले कार्तिक के कृष्णपक्ष के अन्तिम दिवस अर्थात् दीपावली पर्यन्त करणीय काल को मानते हैं (तन्त्रा., २८. १२१स-२४६ब)। अन्य विद्वान् माघ मास के शुक्ल पक्ष के पूर्णचन्द्रदिवस-पूर्णिमा को कुल पर्व मानते हैं क्योंकि दक्षिणायन काल कुल एवं उत्तरायण का काल अकुल रूप में कहा गया है। इसलिए माघ मास की पूर्णिमा कुलशब्दवाच्य दक्षिणायन का अन्तिम दिवस होने से कुलपर्व कहलाती है। इस प्रकार दक्षिणायन के छः मास पर्यन्त पवित्रक विधि करने से जिनका समय लोप हो गया है उनके भी प्रकाशत्व की सिद्धि होती है (तन्त्रा., २८, १२४स-२७ब)। यह विधि सदैव शक्त्यात्मक शुक्ल पक्ष में ही की जानी चाहिये।

विधि-

पवित्रक-सूत्र के लिए एक, दो, तीन, चार, पाँच अथवा छः तार वाले एक बड़े मुक्तापवित्रक सुवर्ण सूत्र को, जिसमें सुवर्ण रत्नों के द्वारा गांठें पड़ी हुई हों, कल्पित किया जाता है। सूत्र में डाली जाने वाली गांठों की संख्या में गुर्वादि की दृष्टि से अन्तर होता है। गुरु के लिए तिगुने सूत्र में एक सौ एक गांठे डाली जाँए, परम गुरु के तीन गाठें अधिक हों एवं परमेष्ठी के लिए चार अधिक हों। पूर्वसिद्ध आचार्य व योगेश्वर के लिए छः गाठें अधिक डालने का विधान है। शिव के लिए ग्रन्थिस्थान में विचित्र रत्नों की योगपूर्वक आठ गांठें अधिक कही गई हैं। विद्यापीठ एवं अक्षसूत्र आदि में भी गुरु के समान एवं शिव के समान विधि की जाती है। बटुक (ब्राह्मण) के पास स्वर्ण का अभाव होने पर चाँदी का व चाँदी का भी न होने पर पाट्टसूत्र व उसके भी न होने पर रेशम अथवा कपास के तीन सूत्रों को तिगुना इस प्रकार नवगुण सूत्र से त्रिगुणादि के क्रम से बारह गुना होने पर्यन्त कल्पन करना चाहिये। उससे भी तिगुना अर्थात् छत्तीस गुना, जिसमें अठारह - अठारह तन्तु अधम एवं मध्यम होते हैं,

का भी पुनः तिगुना करने पर एक सौ आठ एवं उसका भी तिगुना तीन सौ चौबीस गुना श्रेष्ठ माना गया है। सूत्र में अध्वा, कला, भुवनादि के आधार पर ग्रन्थियाँ डाली जाती हैं। षडध्व-कलना के अनुरुप पंच कलाओं की पाँच ग्रन्थियाँ समस्तरुप में एवं व्यस्तरुप में भुवनों की एक सौ अठारह ग्रन्थियाँ अथवा तत्वों की छत्तीस ग्रन्थियाँ, कुंकुम के द्वारा रंग एव गन्ध से पूरित करके बनानी चाहिये। उन्हें विशेष विधि से पूजित करके, पवित्रक को समस्त अध्वाओं में पूर्णता की भावनापूर्वक गुरु एवं स्वयं के जानु नाभि, कण्ठ एवं सिर के अन्त तक अर्पित करे। तदनन्तर गुरुपूजापूर्वक महोत्सव करना चाहिये। शासनगामी (शासन के अन्तर्गत आने वाले) सभी को दक्षिणा, वस्त्र, भोजनादि के द्वारा तृप्त करना चाहिये। चार मास, सात दिन अथवा तीन दिन तक गीत-नृत्यादि से परिपूर्ण महान् महोत्सव करना चाहिये। अन्त में क्षमा-प्रार्थना करके देवता, मण्डलादि का विसर्जन करना चाहिये (तन्त्र., २८. १३०-४१)।

त्रिशिरस्-शास्त्रोक्त पवित्रक विधि

करणीय-काल- श्रावण से लेकर कार्तिक पर्यन्त शुभदायी शुक्लपक्ष में पवित्रक विधि करनी चाहिये। प्रस्तुत शास्त्र में निम्नलिखित अकार्यों के लिए प्रायश्चित्त के रुप में पवित्रक विधि का विधान है-

जो व्यक्ति समय-भ्रष्ट हो अथवा गुरु, शास्त्र आदि को दूषित करने वाले हों, नित्य नैमित्तिक के अतिरिक्त पर्व सन्धि न करने वाले हों, कामनापूर्वक या कामना के बिना भी छोटा-सा भी पाप जिसने किया हो उसकी शान्ति एवं शुद्धि के लिए पवित्रक विधि की जानी चाहिये (तन्त्रा., २८. १४८-५०)

विधि- समयी, पुत्रक, साधक, आचार्य - चारों आश्रमस्थों के लिए क्रमशः पाट्टसूत्र, कौशेय, कपास और क्षौम का सूत्र जो सुन्दर स्त्री के द्वारा काता गया एवं प्रोक्षित हो, को तीन प्रकार से तिगुना करके एक सौ आठ, उसके आधे चौपन अथवा उसके आधे सत्ताइस तन्तुओं वाला सूत्र कल्पित करे अथवा पूर्वसंख्या एक सौ आठ में से क्रमशः दस-दस को घटाते हुए अट्ठानवे अथवा अठहत्तर, अथवा नौ अथवा पाँच संख्याओं को घटाते हुए विभिन्न संख्याओं वाले तन्तु को करना चाहिये। इनमें से जितनी संख्या वाला भी तन्तु हो उतनी ही ग्रन्थियाँ उस सूत्र में बनानी चाहिये। उन्हें चारों ओर से कुंकुम से लिप्त करना चाहिये। व्यक्त एवं अव्यक्त लिंग में पीठावसानक सूत्र जानुतटपर्यन्त कल्पित किया जाना चाहिये। समस्त पूजा कार्यों में त्रितत्त्व-आत्मा, विद्या एवं शिव-का परिकल्पन करने के कारण सूत्र मूर्धा पर शोभनीय होता है (तन्त्रा., २८. १५१-५५)

पवित्रक का कल्पन अनेक स्थानों पर किया जाता है। विद्यापीठ, चललिंग, स्थण्डिल, गुरुगण, घण्टा, स्रुकस्रुव, लिंगीशिष्य, तोरणद्वार, स्वदेह एवं अग्निपीठ पर शोभानुसार पवित्रक बनाया जाता है। याग-गृह एवं प्रसाद में विशेषरुप से वर्णों से चित्रित पवित्रक का कल्पन किया जाता है। इन स्थानों पर पवित्रकों में निम्लिखित संख्याओं में ग्रन्थियाँ डाली जाती हैं। विद्यापीठ में पचास, प्रतिमा, लिंग एवं पीठ में अड़तालीस, घण्टा में पच्चीस, स्रुवा में अठारह, स्रुक में चौबीस, प्रसाद में छत्तीस, मण्डप में बारह, स्नानगृह में सोलह, ध्यानगृह में चौबीस, गुरु के पवित्रक में सात एवं साधक के पाँच, पुत्रक के लिए सात एवं समयी के लिए चार तथा अन्य शास्त्रों में स्थित

शिष्य के लिये पाँच ग्रन्थियों का विधान किया गया है। लिंगी के लिए केवल (एक) ग्रन्थि एवं तोरण में दस, द्वारों में आठ ग्रन्थियों वाले पवित्रक का निर्माण किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २८. १५६स-६२ब)।

उपर्युक्त स्थानों में निर्दिष्ट संख्या की ग्रन्थियों के साथ पवित्रक का कल्पन करके, मन्त्रजाल के साथ पूजा करते हुए उनमें स्थिरता को प्राप्त करना चाहिये। पवित्रकों का सम्पादन करके संपात संस्कार करना चाहिए, साथ ही आह्निक कृत्य भी करने चाहिए। इसके पश्चात् छिद्रसाक्षी संवत्सर-भैरव का ध्यान करना चाहिये एवं पूर्णाहुति प्रदान करके मन्त्र भैरव से प्रणामपूर्वक निवेदन करना चाहिये-"हे मातृनन्दन! जो कुछ विधान मैं नहीं कर पाया हूँ या गलत किया है, उससे होने वाले दोष आपकी कृपा से नष्ट हो जाएँ। हे रश्मिचक्रेश! आपको नमस्कार। मुझ पर प्रसन्न हों।" इस प्रकार देवता को निमन्त्रण-पवित्रक प्रदान करना चाहिये। इसके पश्चात् गुरु, योगिनियों, क्षेत्रपालों एवं मातृदेवियों को बलि प्रदान करता है और शिष्यों को पंचगव्य, चरु एवं दन्तकाष्ठ प्रदान करता है। इसके पश्चात् आचार्य (रात्रि को सोने के पश्चात्) सुबह उठ कर आह्निककृत्यों को करके, विधिपूर्वक गणेशादि की पूजा करके पवित्रकों को एकत्रित करता है एवं उन्हें भैरव के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं ऊर्ध्वस्थित पाँचो मुखों में निविष्ट करता है। दन्तकाष्ठ का नियोजन पूर्ववक्त्र में, मृत्तिकायुक्त धात्री का दक्षिण में, आमलकयुक्त मृत्तिका का पश्चिम में एवं आमलक-युक्त जल को चारों के साथ नियोजित किया जाता है। लकड़ी, मिट्टी आदि से युक्त भस्म ऊर्ध्वमुख में एवं उत्तर - मुख में उत्तम चुम्बक का निवेश किया जाता है। इन पाँचों पवित्रों को ईशानकोण में स्थापित किया जाता है। कुशा, समिधा एवं पंचगव्य को शर्व (शिव) के आगे रखा जाता है। इसके पश्चात् वामामृतादि से युक्त त्रिविध नैवेद्य, मद्य एवं विविध पान-सामग्री प्रदान की जाती है। इसके पश्चात् तिलों के साथ बकरे के मांस को अथवा घृतयुक्त तिलों को अथवा शक्कर से युक्त धान्य अथवा तण्डुल को पंचामृत से आप्लावित करके होम करना चाहिये (तन्त्रा., २८. १६५-७३)।

परादि तीनों शक्तियों का एक हजार आठ बार मूल मन्त्र अथवा अंगवक्त्र - सहित मन्त्र का जप करना चाहिये। अग्नि के लिए एक सौ आठ बार उच्चारण करके पूर्णाहुति-क्षेप करना चाहिये। इसके पश्चात् अंजलि में पवित्रक का ग्रहण करके यह पाठ करना चाहिये- "हे विभु! अनजाने में अथवा जानबूझ कर जो विधान मैनें नहीं किया हो, उसके दोष से मेरी पवित्रक विधि आपकी आज्ञा से मुक्त हो।" इसके पश्चात् मूलमन्त्र को पूरित करना चाहिये एवं वौषडन्त पवित्रक को बिन्दु की समाप्ति पर्यन्त प्रदान करना चाहिये। इस प्रकार नादान्त, समना के अन्त एवं उन्मना के अन्त तक पवित्रक करना चाहिये। गृहस्थी इसे अनुलोम क्रम से एवं नैष्ठिक विलोमक्रम से अर्थात् उन्मना से बिन्दुपर्यन्त पवित्रक-चतुष्टक को करता है। साथ ही विविध वस्त्र, छत्र, आभूषण, दीपमाला, सोने के तिलों से भरा बर्तन, वस्त्रों का जोड़ा आदि प्रदान करते हुए शिवभक्तों को यथाशक्ति भोजन कराना चाहिये एवं उनका पूजन करना चाहिये। सामर्थ्य के अनुसार चार, तीन अथवा दो महीनों अथवा एक दिन भी महोत्सव करना चाहिये। वहाँ से दूसरे स्थान पर नहीं जाना चाहिये। तदनन्तर दैशिक की पूजा करके उसे स्वस्थ, दूध देने वाली, सुवर्ण, रत्न, रुपए, वस्त्र, आभूषण आदि से युक्त गाय दी जानी चाहिये। गुरु भी कहता है

कि तुम्हारी विधि सम्पूर्ण हो। देवता को पुनरागमन के लिए निवेदन-पूर्वक विसर्जित करना चाहिए। गुरु गुप्त आभूषण नैवेद्य आदि लेकर इसके पश्चात् किए जाने वाले याग में उन्हें नियोजित करता है एवं शेष वस्तुओं को गहरे जल में डाल देना चाहिये। यह पवित्रक विधि समयी, पुत्रक, साधक, आचार्य सभी के द्वारा समानरूप से की जानी चाहिये (तन्त्रा., २८. १७४-८६ब)।

पवित्रक विधि का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि नित्यपूजा में पूर्णता पर्वपूजा करने पर आती है एवं पवित्रक-पर्वपूजन को भी सम्पूर्णता प्रदान करता है। पवित्रकविधि का लोप होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध होकर पुनः पवित्रक विधि करनी चाहिये (तन्त्रा., २८. १४४स-४६ब)। धन नहीं होने पर कुशयुक्त काश के द्वारा भी पवित्रक-पूजा करनी चाहिये, किन्तु धन होने पर जानबूझ कर कंजूसी करने से रोग या नरक की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., २८. १४३स-४४ब)।

श्राद्ध - विधि--

किसी विशेष निमित्त से निश्चित दिवसों पर की जाने के कारण श्राद्ध विधि भी नैमित्तिक कर्मों के अन्तर्गत निरूपणीय है। तन्त्रालोक में श्राद्ध - विधि का निरूपण सिद्धान्ततन्त्र, श्रीमद्भरुणतन्त्र, श्रीमन्मतंग आदि शास्त्रों के आधार पर किया गया है। समस्त मृत जीव जिन्हें अन्त्येष्टि दीक्षा दी गई हो अथवा न भी दी गई हो, तब भी उनके लिए श्राद्ध विधि का आचरण किया जाता है।

करणीय काल-- मृत्यु के पश्चात् तीसरे दिन, चौथे दिन, दसवें दिन, प्रथम वर्ष के समस्त महीनों में मृत्यु की तिथि को एवं इसके पश्चात् प्रत्येक वर्ष मृत्यु की तिथि पर इस विधि को किया जाता है (तन्त्रा., २५, ३)। स्मृतिकारों ने भी इन्हीं दिवसों पर मृतक का श्राद्ध करने का विधान किया है।

श्राद्ध विधि में भी अन्य विधियों की भाँति देवता का यजन एवं अग्नि में हवन किया जाता है। इसके पश्चात् श्राद्ध में विशेषरूप से करणीय विधि के अन्तर्गत गुरु हाथ में नैवेद्य का ग्रहण करके वीर्यरूपिणी, वृद्धिकारिणी, अन्नमयी शक्ति का ध्यान करता है एवं उस शक्ति के द्वारा समाविष्ट रूप में साध्य का चिन्तन करता है एवं उसमें जो भोग्यरूप पाशव अंश है, उसका अर्पण कर देता है। इस प्रकार शिष्य भोक्ता से ऐकात्म्यपूर्वक शिवरूपता को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., २५.४स-६)।

श्रीमद्भरुणतन्त्र के अनुसार पुत्रक गुरु अथवा साधक को उपकार करने की दृष्टि से माता, पिता, गुरु एवं उनकी पत्नी की शक्ति के बांई एवं दांई ओर के मध्य स्थित अन्तराल में बहने वाली नाड़ी को प्रवाहित करते हुए देवता को अर्पित करना चाहिये। विषुवाध्वासर (?) के प्रातः एवं सायंकाल में दक्ष एवं वाम नाड़ी प्रवाहित होती है। उनके वहनकाल की अपेक्षा से अथवा योगी के द्वारा निजेच्छा से प्रवाहित नाड़ी के लिए इस विधि का आचरण किया जाना चाहिये, जिसे प्रवाहित करना हो उस नाड़ी की भावना करनी चाहिये, भावना के द्वारा तन्मयी भाव प्राप्त हो जाने पर वह नाड़ी स्पष्ट ही प्रवाहित हो जाती है अथवा जिसे प्रवाहित करवाना हो, उसके अंग को हाथ से दबा कर पेट को झुकाने से भी नाड़ी क्षण-भर में प्रवाहित हो जाती है (तन्त्रा., २५. १४-२१ब)।

यद्यपि दीक्षा, अन्त्येष्टि आदि में से किसी एक भी विधि के करने से लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है तथापि मुमुक्षु के तन्मयीभाव की सिद्धि के लिए समस्त विधियों का आचरण किया जाना चाहिये। बुभुक्षु के लिए तो अनेक फलों को प्राप्त करने की दृष्टि से अनेक क्रियाएँ करनी होती हैं, इसलिए उसके लिए भी मृतोद्धार श्राद्ध आदि विधियों को करना चाहिये (तन्त्रा., २५. ८-९)। इस प्रकार श्राद्ध के द्वारा भी भोग एवं मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है।

प्रायश्चित्त---

निर्विकल्प बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए यद्यपि प्रायश्चित्त का कोई अर्थ नहीं है किन्तु अतत्त्व-ज्ञानियों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से उनके लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि वे संसार के द्वारा अनुकरण किए जाने की दृष्टि से कर्म करते रहते हैं--"यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।"-(३,२३)

उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को भी प्रायश्चित्त करते हुए देख कर मूढ़ व्यक्ति उनका अनुसरण करेंगे एवं अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करेंगे। श्रीमतिपिचुशास्त्र में भी देवी के द्वारा यह पूछे जाने पर कि मन्त्रमात्र ही पापनाशी होता है फिर प्रायश्चित्त-विधि की क्या आवश्यकता है? महेश्वर ने उत्तर दिया-- यह सत्य है कि एक बार भी जप करने पर मन्त्र ज्ञानी को समस्त कर्मजाल से मुक्त कर देता है तथापि मर्यादा की रक्षा के लिए प्रायश्चित्तविधि का निरूपण किया गया है (तन्त्रा., २८.४०८-११)।

अतत्वज्ञानी जो केवल चर्या में लगे रहते हैं उनका चित्त चंचल हो जाने से ज्ञान की हानि हो जाती है एवं निर्विकल्प ज्ञानी भी यदि गुप्तिपरक शास्त्रीय नियन्त्रणाओं का पालन कर रहा है तो उसे अतत्त्वज्ञानी के साथ आचरण (संकर) नहीं करना चाहिये और यदि वह ऐसा करता है तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये जिससे उन (अतत्त्वज्ञानी) की बुद्धि शास्त्र के अर्थ में द्विविधाग्रस्त नहीं होगी (तन्त्रा., २८.४१५-४)।

समय-नियमों का पालन न करने से उत्पन्न पातकों के निवारण के लिए विभिन्न शास्त्रों में विविध प्रायश्चित्त विहित हैं (तन्त्रा., २८.४१५-१६ब)।

श्रीरत्नमालाशास्त्र के अनुसार शिवहस्त विधि के अन्तर्गत वर्णित अस्त्रमन्त्र का सौ बार जप करने से स्त्रीवध के अतिरिक्त अन्य समस्त पापों से मुक्ति हो जाती है। स्त्री-वध तो साक्षात् शक्तिनाश-स्वरूप है जिसका प्रायश्चित्त के द्वारा निराकरण नहीं किया जा सकता। उससे तो महादोष एवं शाश्वत नरक की प्राप्ति होती है। कुलोत्पन्न के द्वारा समयोल्लंघन करने पर दुष्टकर्तरी निष्कृति जिसके अन्तर्गत एक सौ आठ अघोर मन्त्रों के जप का विधान है, के द्वारा प्रायश्चित्त किया जाता है। अज्ञानवश समय-नियमों का उल्लंघन करने पर महास्त्र का सौ बार जप करने से प्रायश्चित्त हो जाता है। श्रीपूर्वशास्त्र के अनुसार समयी के शोधन के लिए मर्यादा के उल्लंघन के स्तर के अनुरूप मातृका एवं मालिनी मन्त्रों का तीन लाख संख्यापर्यन्त जप करना चाहिये।

श्रीब्रह्मयामल के अनुसार अनधिकारी (अदीक्षित) के द्वारा तुरादि का दर्शन कर लेने पर भी प्रायश्चित्त

किया जाना चाहिये। ब्रह्मघाती, गुरुशय्या का सेवन करने वाले, वीरद्रव्य के अपहर्ता, देव-द्रव्य का अपहरण करने वाले, मूर्ति पर प्रहार करने वाले, लिंगभेदक, नित्यविधि का लोप कर, अपने व्रतोचित अक्षसूत्र योगदण्डादि--मात्रा परिच्छेदों को भ्रष्ट करने वाले, शक्ति को प्रकट करने वाले को क्रमशः लक्ष से दुगुना जप करना चाहिये। अर्थात् ब्रह्मघाती लक्ष, गुरुशय्यागामी दो लाख, वीरद्रव्यहर्ता चार लाख, देवद्रव्यहर्ता आठ लाख इस प्रकार प्रायश्चित्त किया जाएगा (तन्त्रा., २८. ४१६स-२१)। किसी व्रत में स्थित अल्पभोगी, ब्रह्मचर्यपरायण, दूतीपरिग्रह के अन्तर्गत काममोहित होकर संगमन करने वाले को एक लाख जप करना चाहिये (तन्त्रा., २८. ४२२-२३ब)।

प्रायश्चित्त एवं इसी अर्थ में प्रायश्चित्ति शब्द का वेदों में भी अनेकत्र प्रयोग मिलता है। वहाँ पाप के निराकरण का प्रश्न नहीं है अपितु यज्ञ में अचानक घटी कोई घटना अथवा अनिष्ट के मार्जन के लिए इसे किया जाता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र (३.१०) में भी कहा है-- "विध्यपराधे प्रायश्चित्तिः"। इसकी व्याख्या में कहा गया है-- विहितस्याकरणेऽन्यथाकरणे च प्रायश्चित्तिः कर्तव्या।" कालान्तर में पापक्षय के लिए प्रायश्चित्त का प्रयोग होने लगा है। यद्यपि इस विषय में मतभेद है कि प्राश्चित्त से ज्ञानकृत पापों का भी नाश हो जाता है या केवल अज्ञानकृत। मिताक्षरा (३.२२०) के अनुसार-- "प्रायश्चित्त-शब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः।"

इस प्रकार श्रौत एवं स्मार्त विधि की ही भाँति तान्त्रिक विधि-विधान में भी नित्यनैमित्तिकादि कर्मों का अपना स्थान एवं महत्त्व है। श्रौत एवं स्मार्तविधि में भी निश्चित नियमों को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही नित्यादि कर्मों को करने का अधिकारी होता है एवं तान्त्रिक विधि में भी दीक्षित के लिए ही इन कर्मों को करने का विधान है।



पञ्चम परिच्छेद

याग

सामान्य स्वरूप ;

तान्त्रिक कर्मकाण्ड में ज्ञान और क्रिया का समान महत्त्व है। इस कर्मकाण्ड की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसके कर्ता में ज्ञान का एक निश्चित स्तर एवं योग साधना में प्रवीणता अनिवार्य है। इस योग्यता के निश्चय के लिए ही शिवशासन में अधिकार से पूर्व दीक्षा का विधान है। दीक्षा के अन्तर्गत याग एक प्रमुख कृत्य है। स्नान, स्थानकल्पना, न्यास, तर्पण, अर्घपात्र-विधि, कुण्डनिर्माण एवं उसका संस्कार, चरु संसिद्धि आदि याग के अन्तर्गत किए जाने वाले प्रमुख कृत्य हैं।

दीक्षा, याग आदि समस्त उपायों का अन्तिम साध्य शिवावेश है। यदि कर्मकाण्ड के बिना भी सामान्य व्यक्ति में साध्य प्राप्त करने की योग्यता है तो कर्मकाण्ड अकिंचित्कर हो जाता है। प्रातिभज्ञानवान् के अतिरिक्त अन्य मुमुक्षुओं का परसंवित्-समावेश इन साधनों से ही सम्भव है। इसलिए इन क्रियाओं की उपयोगिता असन्दिग्ध है। यही कारण है कि शास्त्रों में एक ओर कर्मकाण्ड के उपयोगी और सहायक होने के अनेक उद्धरण मिलते हैं तो दूसरी ओर (स्वभ्यस्त-ज्ञानियों के लिए) उनके निरुपयोगी होने के भी प्रमाण उपलब्ध हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक धार्मिक समुदाय किसी न किसी कर्मप्रक्रिया को अपनाता रहा है जो साधारण साधकों को अपना अनुयायी बनाने में उपयोगी होती थी। वह प्रकिया विशिष्ट मानसिकता एवं परिवेश के निर्माण में सहायक होती थी और उनसे प्रभावित भी। इसी कारण तान्त्रिक कर्मकाण्ड के दो प्रकार मिलते हैं एक सामान्य साधक के लिए एवं दूसरा वीर साधक के लिए, जिन्हें क्रमशः दक्षिणाचार एवं वामाचार कहा जाता है।

प्रत्येक कर्मकाण्ड में किसी देवता-विशेष को लक्ष्य करके मन्त्रविशेष का प्रयोग किया जाता है जो इस क्रिया को मन्त्र-चैतन्य से प्रदीप्त करता है। लौकिक स्नानादि से धार्मिक-विधि सम्मत स्नान-क्रिया में यही (मन्त्र-प्रयोगादि) प्रमुख अन्तर है। अन्यथा दैनन्दिन स्नान करने वाले को भी कर्मकाण्डीय स्नानकर्ता के समान फल प्राप्त होना चाहिये। तान्त्रिक कर्मकाण्ड की एक और प्रमुख विशेष्ता यह है कि पूजन, अर्चन, यागादि एक ओर तो बाह्य आधारों में किए जाते हैं तो दूसरी ओर देह में, प्राण-शक्ति की परिकल्पना अथवा योगविधिपूर्वक पूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ पीठ स्थान बाह्य भी हैं एवं देह के भीतर भी। बाह्य-याग, जो आन्तर-याग से समन्वितरूप में किया जाता है, इस परिकल्पना का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अन्तर्गत बाह्य देवताओं के अर्चन तर्पण के साथ ही देह में स्थित देवता, प्राण में स्थित देवता एवं संविन्मात्र में स्थित देवताओं का भी विभिन्न यौगिक विधियों से अर्चन-तर्पण किया जाता है।

सामान्तया याग में जो उपादान काम में आते हैं, एवं उनका जो प्रयोजन है, उनका एक साथ निरूपण, व्याकरणसम्मत कारकों से समन्वय स्थापित करते हुए, इस रूप में किया गया है--

यष्टा	-	कर्ता
पुष्पादिद्रव्य	-	कर्म
जल	-	करण
देवता	-	सम्प्रदान
अर्घपात्र	-	अपादान
यागवेश्म	-	अधिकरण --(विवेक, १५. १५६)

कारक वह है जिसका क्रिया से अन्वय (सम्बन्ध) हो। इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट सभी कारक हैं। इनमें प्रधान कारक कर्ता या यष्टा है क्योंकि क्रिया को करने में उसी का वास्तविक स्वातन्त्र्य है। शेष का कर्तृत्व गौण एवं उपचरित है। अतः उनका क्रिया से साक्षात् संबध न होकर कर्ता के द्वारा उनका कारकत्व निष्पन्न होता है।

प्रायः सभी यागों में स्नान, स्थानकल्पना, विविध प्रकार के न्यास, तर्पण, अर्घपात्रपूरण, कुण्ड-निर्माण एवं संस्कार, चरुसंसिद्धि आदि कृत्य किए जाते हैं।

विधि-

याग के प्रारम्भ में सर्वप्रथम स्थानशुद्धि, देहशुद्धि आदि के लिए स्नानादि का विधान किया गया है। स्नान-न्यासादि उपाय, यागयोग्य वस्तुओं एवं यजमान में शुद्धता का आधान करते हैं। यद्यपि आनन्दशास्त्र के प्रामाण्य से बुद्धिमान् के लिए कुछ भी अशुद्ध नहीं है तथापि स्नान, सद्वस्त्रादि सन्तुष्टि प्रदान करने वाले होते हैं। स्नानादि बाह्य देह को निर्मल करते हुए प्रमाता को निर्मल बनाने में सहायक होते हैं (तन्त्रा., १५. ४५-६) एवं न्यासादि क्रियाओं को करने की योग्यता प्रदान करते हैं--

"युक्तं स्नानं यतो न्यासकर्मादौ योग्यतावहम्।" -तन्त्रा. १५. ७६अब.

स्नानादि समस्त विधियाँ मन्त्र से प्रदीप्त रूप में की जाती हैं। यही सामान्यतः दैनन्दिन जीवन में किए जाने वाले स्नानादि क्रियाकर्मों से तान्त्रिक यज्ञविधि में किए जाने वाली क्रियाओं का अन्तर है। यज्ञ चाहे वैदिक हो अथवा तान्त्रिक-- "देवो भूत्वा देवं यजेत्" की मान्यता सर्वत्र स्वीकृत है जिसके लिए ही सर्वप्रथम न्यासादि विधियों का विधान किया गया है। इसके बाह्य एवं आन्तर दो प्रकार हैं। बाह्य विधि कर्मकाण्डरूप है एवं आन्तर योगरूप। प्रत्येक विधि के अन्त में प्रायः फलश्रुति अथवा उसका माहात्म्य भी वर्णित है जो भोगेच्छु लोकधर्मी साधक एवं मुमुक्षु शिवधर्मी साधक के लिए भिन्न-भिन्न है।

स्नान : प्रकार --

स्नान के आठ प्रकार देवदेव शिव की आठ मूर्तियों से सम्बन्धित हैं। अष्टमूर्ति शिव की कल्पना पुरानी है। कालिदास ने शाकुन्तल की नान्दी में अष्टमूर्ति शिव का स्तवन किया है। प्राचीन स्थापत्य में अष्टमूर्ति शिव की प्रतिमाएँ मिलती हैं। तान्त्रिक स्नान-विधि में शिव के भैरव आदि अनेक रूपों में से उनके अष्टमूर्तिरूप का उल्लेख किया गया है। उनकी आठ मूर्तियों के आधार पर स्नान के आठ प्रकारों का विधान अभिनवगुप्त ने किया है। ये

आठ मूर्तियाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सोम, सूर्य, अग्नि-हैं जिन पर आश्रित स्नानाष्टक के बाह्य विधि एवं आन्तर विधि के आधार पर दो प्रकार होते हैं----

बाह्य स्नानाष्टक

पार्थिव स्नान--- इसके अन्तर्गत अभीप्सित मन्त्र का हृदय में अनुसन्धान करते हुए गोरज के भीतर तीन कदम जाकर एवं पुनः आकर स्नान करना चाहिये। यह पार्थिव स्नान धारणा शक्ति प्रदान करने वाला होता है (तन्त्रा.; १५. ४८)।

जल-स्नान-- अस्त्रमन्त्र "फट्" से सात बार मन्त्रित मिट्टी को संहार क्रम से शरीर में लगा कर, मन्त्रित जल से सिर से प्रारम्भ कर- मुख, हृदय, गुह्याङ्ग व पैरों इन-पञ्चाङ्गों को क्रमशः प्रक्षालित करना चाहिये। तदनन्तर तन्मयताप्राप्ति-पर्यन्त साङ्गमूला मालिनी का जप करना चाहिये। फिर उठकर विश्व का तर्पण करने वाले सम्पूर्ण देवताओं को प्रकाश प्रदान करने वाले सूर्य का मालिनीमन्त्रपूर्वक जल से तर्पण किया जाना चाहिये। देवता, पितर, मुनि, यक्ष, राक्षस एवं अन्य भूतगणादि सभी का तर्पण सूर्य-तर्पण के माध्यम से स्वतः हो जाता है। तर्पण के पश्चात् पुनः पहले की भाँति तन्मयताप्राप्ति-पर्यन्त एकाक्षरा परा मालिनी का उच्चार-योग से जप किया जाता है। यह जल-स्नान की विधि है (तन्त्रा., १५. ४६-५३ब)।

तैजस्-स्नान--- अग्नि के पश्चात् बची हुई भस्म (राख) को शस्त्र मन्त्र का सात बार जप करके मन्त्रित करना चाहिये। सिर, मुख, हृदय, गुह्याङ्ग व पैरों-इन पञ्चाङ्गों पर मन्त्रित भस्म मल कर, मुट्ठी भर भस्म साङ्गमूलामालिनी से जपित करके सिर पर प्रक्षिप्त करनी चाहिये। तदनन्तर हाथ-पैर को जल से धोकर आचमन, तर्पण, जपादि किए जाते है। मन्त्रित भस्म से किया जाने वाला यह स्नान तैजस् स्नान है (तन्त्रा., १५. ५४-५५)।

वायव्य-स्नान-- गोरज से युक्त, ऊपर न उठने वाली, आह्लाददायी वायु में महास्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए ध्यानयुक्त होकर सात कदम चलना एवं उसी समय परापरा मन्त्र का स्मरण करते हुए पुनः आ जाना चाहिये, इस प्रकार वायव्य स्नान होता है (तन्त्रा., १५. ५६)।

नाभस स्नान-- इसके अन्तर्गत निर्मल आकाश में दृष्टि को एकाग्र करके मन्त्र का स्मरण करते हुए बैठकर अथवा निर्मल आकाश से गिरते हुए वर्षा के जल का, मन्त्र जप से युक्त शरीर से स्पर्श करवाया जाता है। यह नाभस स्नान की विधि है (तन्त्रा., १५. ५७-८)।

त्रिविधदेवस्नान-- सोम, सूर्य एवं अग्निदेव में शिवस्वरूप की भावना के साथ निमग्न होने से सम्पूर्ण मलिनता दूर हो जाती है एवं न्यास, यागादि सम्पूर्ण कर्मों को करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है (तन्त्रा., १५. ५६)।

आन्तर स्नानाष्टक

आन्तरस्नानाष्टक द्वादशान्त-स्थित चन्द्रमा से अमृत परिप्लाप्वन-स्वरूप होता है क्योंकि शिव की आठों मूर्तियों की ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर द्वादशान्तपर्यन्त डेढ़ अङ्गुल की व्याप्तिपूर्वक स्थिति मानी गई है।

द्वादशान्तस्थित चन्द्रमा से इन आठों मूर्तियों पर स्रवित अमृत के द्वारा ही आठ प्रकार का स्नान माना गया है (तन्त्रा., १५. ७५-८)।

यह आन्तर स्नानाष्टक उत्तरोत्तर शुद्धता एवं क्रमशः धृति, आप्यायन, मलदाह, वीर्य, व्याप्ति, स्वच्छता, स्थिति एवं अभेद को प्रदान करने वाला माना गया है (तन्त्रा., १५.६१-२)।

स्नान के विषय में मतान्तर--

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में षड्विधस्नान--- भस्मस्नान, मलस्नान, अभिषेक, जलस्नान, मन्त्रस्नान व वायव्यस्नान बताए गए हैं (तन्त्रा., ८. ४-१२)।

२. श्रीनिर्मर्यादशास्त्र में वीरसाधक के लिए धरादिस्नान में विशिष्टता बताई है। पार्थिवस्नान रणक्षेत्र की धूलि से, जलीय वीरजल-शिवाम्बु से, तैजस्-स्नान श्मशान की अग्नि से बची भस्म से, वायव्य स्नान श्मशान की रजोयुक्त वायु से, नाभस्नान जंगल के आकाश से होता है। ये पाँचों एवं आकाश से उपहित चन्द्रमा, सूर्य एवं सम्पूर्ण विकल्पों के आतंक से मुक्त, सुस्थित आत्मा- वीरों के लिए ये आठ विग्रहाष्टक उपास्य हैं (तन्त्रा., १५. ६६-८)।

३. श्रीमत्त्रैशिरशास्त्र में वीर साधकों के लिए नवम-स्नान मद्यस्नान भी बताया गया है। मार्द्वीक, मधु, इक्षुरस से निर्मित शीधु एवं विभीतककृत सुरा के द्वारा प्रसन्न एवं सुगन्धित कन्दलादिगत (?) शरीर से भीतर एवं बाहर संस्कारपंचक निरीक्षण, प्रोक्षण , ताडन, आप्यायन व गुण्ठन को करना चाहिये। उन संस्कारपञ्चक के बीच में मन्त्रचक्र की पूजा एवं बूंदों से तर्पण एवं तदनन्तर कलशमुद्रा (विवेक, १५.७३) के द्वारा अभिषेक तथा देह एवं प्राण दोनों पर आश्रित देवताओं का तर्पण करना चाहिये। इस मद्यस्नान के द्वारा समस्त तीर्थों, तपस्या, यज्ञ, दानादि पुण्य कार्यों का फल मिल जाता है। लोकधर्मी साधक मद्यस्नान के द्वारा इन्द्रपद एवं मुमुक्षु कैवल्यपद को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १५. ६८-७३ब)।

श्रौत एवं स्मार्त विधियों के अनुसार स्नान के दो प्रकार हैं-- मुख्य एवं गौण स्नान। मुख्य स्नान के अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक, काम्य क्रियाङ्ग, अभ्यङ्ग एवं क्रियास्नान आते हैं एवं गौण स्नान में मन्त्र, भौम, आग्नेय , वायव्य, दिव्य एवं मानस स्नान किए जाते हैं (काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३६५-६)। मुख्य-स्नानों में जल का प्रयोग अनिवार्य है जबकि गौण-स्नान तान्त्रिक स्नानों से समानता रखते हैं।

स्थान-कल्पना

याग जिस विशिष्ट स्थान पर किया जाए, उसे पीठ-स्थान कहा गया है। नैशसंचारशास्त्र में दो प्रकार के पीठ स्थानों का निर्देश है-- आन्तर एवं बाह्य। ये पीठस्थान सिद्धि प्रदान करने वाले माने गए हैं, मुक्ति नहीं, क्योंकि मुक्ति स्थानजनित नहीं होती। इसीलिए मुमुक्षु के लिए स्थानविशेष को सर्पकंचुक की भाँति त्याग देने का निर्देश भी किया गया है, तथापि जिस प्रकार पापियों के साथ रहने पर निष्कपट व्यक्ति के मन में भी पापयुक्त भावों का संचार हो जाता है उसी प्रकार पीठ-स्थान में ज्ञान-योगादि से रहित व्यक्ति भी ज्ञानादि की योग्यता को

प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १६. १०४स-६)। इसलिए जहाँ-जहाँ हृदयकमल विकसित होता है, उसी बाह्य अथवा आन्तर धाम में याग देवता का निवास होता है। अभिनवगुप्त के गुरु के अनुसार भी मुक्ति अथवा सिद्धि किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निर्मल बुद्धि आवश्यक है जो मनोरम याग-स्थान में सरलता से हो जाती है (तन्त्रा., १६. १०७स-१०ब)।

निशासंचरशास्त्र में निरूपित बाह्य एवं आन्तर दोनों प्रकार के स्थानों का पीठ, उपपीठ, सन्दोहक, क्षेत्र, उपक्षेत्र एवं उपसन्दोहक-- इन प्रकारों में विभाजन किया गया है।

बाह्यपीठादि--

अन्तःस्थित ज्ञानयोगादि में विशारद देवियाँ स्वभावतः जिस बाह्य स्थान पर उत्पन्न होती हैं उसे बाह्यपीठ कहा जाता है (तन्त्रा., १५. ६७स-६८ब)। इन पीठ-स्थानों पर जाने मात्र से व्यक्ति पीठ की अधिष्ठात्री देवियों की कृपा से ज्ञानयोगादि की पात्रता को प्राप्त कर लेता है। पीठ, उपपीठादि निम्नलिखित हैं (तन्त्रा., १५. ८४-६२)--

पीठ	--	कामरूप, पूर्णगिरि, उड्डीयान
उपपीठ	--	देवीकोट्ट, उज्जयिनी, कुलगिरि
सन्दोहक	--	पुण्ड्रवर्धन, वारेन्द्र, एकाम्र
क्षेत्र	--	प्रयाग, वरणा, अट्टहास, जयन्तिका, वाराणसी, कलिंग, कुलूता, लाहुला
उपक्षेत्र	--	विरज, एरुडिका, हाला, एलापू, क्षीरिका, राजापुरी, मायापुरी, मरुदेश
उपसन्दोहक	--	जालन्धर, नेपाल, काश्मीर, गार्गिका, हर, म्लेच्छदिग्वारवृत्ति, कुरुक्षेत्र, खेटक।

आन्तरपीठादि

मानव-देह में कुछ विशिष्ट स्थल हैं जहाँ योग-प्रक्रिया के सहारे प्राण को पहुँचाने पर वे पीठ-उपपीठ आदि कहलाते हैं। इन पीठादि स्थानों में प्राण का योग होने पर साधक विशेष प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। ये आन्तरपीठादि निम्नलिखित हैं--

पीठ	--	इच्छा, नाद, बिन्दु।
उपपीठ	--	शक्ति, बिन्दु, व्यापिनी।
सन्दोहक	--	ललना, बैन्दव, व्याप्ति।
क्षेत्र	--	हृदयकमल के अष्टदल अष्ट क्षेत्र हैं।
उपक्षेत्र	--	हृदयकमल के आठ दलाग्र आठ उपक्षेत्र हैं।
उपसन्दोहक	--	हृत्पद्म के दलों के आठ सन्धिस्थान आठ उपसन्दोहक हैं।

इनके अतिरिक्त देह के भीतर द्विपथ, त्रिपथादि (तन्त्रा., १५. ६३-६५) भी माने गए हैं---

द्विपथ -- वाम एवं दक्षिण नाड़ी जहाँ मिलती हैं।

त्रिपथ -- उपर्युक्त दोनों नाड़ियाँ जब मध्यशक्ति से मिलती हैं।

चतुष्पथ ---- त्रिपथ में आत्मा का लय हो जाने पर वह स्थान चतुष्पथ होता है।

इनके अतिरिक्त देह के कुछ विशिष्ट स्थान शाम्भव, आणव और कौलिक भी माने गए हैं--नासान्त, तालु एवं ब्रह्म-रन्ध्रान्त--ये शाम्भव स्थान माने गए हैं। भ्रूमध्य, कण्ठ एवं हृदयस्थित त्रिपथादि मध्यम आणव कहे गए हैं। नाभि, कन्द, महानन्दधाम ये तीनों कौलिक स्थान कहे गए हैं।

जयरथ के उद्धरण के अनुसार प्रयाग नाभि में, वरणा हृदय में, कुलाद्रि कण्ठ में, भीमनाद तालु में, जयन्ती बिन्दु में, चरित्र नाद में एवं एकाम्र शक्ति मध्य में तथा कोटिवर्ष गुरुमुख में स्थित होता है। इस प्रकार देहस्थित स्थान ही पर्वताग्र, नदीतीर एवं एकलिङ्ग स्वरूप है। संवित् के सर्वप्रथम प्राणरूप में परिणत होने एवं देह में ही पीठादि के अवस्थित होने के कारण सर्वप्रथम देहायतन में प्रवेश करना चाहिये। इस प्रकार के अन्तःस्थित योग-मार्ग में विशारद देवियाँ अनुग्रहार्थ स्वभावतः स्वयं को जिन स्थानों पर प्रकट करती हैं वे बाह्य पीठ कहलाते हैं। इन स्थानों पर साधना करने से देवियों के अनुग्रह के कारण साधक को शीघ्र सिद्धिलाभ होता है।

श्रीवीरावलिहृदय में सात विशिष्ट स्थान बताए गए हैं--१. शक्ति का उदय स्थान जन्माधार, २. कमलयुग अर्थात् द्विपथ, ३. सुरपथ अर्थात् त्रिपथ, ४. चतुष्पथ, ५. श्मशान, ६. एकान्त व ७. शून्यवृक्ष। शून्यवृक्ष का जयरथ ने निर्वचन के आधार पर यह अर्थ किया है--- "विबोध एव अनुग्राह्याणां वरणात् पाशानां च क्षपणात् वृक्ष उक्तः", "एकवृक्षः शिवः प्रोक्तः।"

इस प्रकार सिद्धिप्राप्ति अथवा मुक्ति किसी भी लक्ष्य के लिए किए जाने वाले पूजा, जप, याग, समाधि आदि उपायों के लिए वही स्थान उपयुक्त है जहाँ हृदय विश्रान्ति एवं निर्मलता को प्राप्त करता है। ऐसे याग-स्थान पर ही शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक साधक को बाह्य-याग की सिद्धि के लिए न्यासादि क्रियाएँ करनी चाहिये (तन्त्रा., १५. ११४स-१६ब)।

न्यास : स्वरूप एवं प्रकार

भौतिक देह को चिन्मय बनाने की प्रकिया न्यास है। इसके अन्तर्गत चित्त, जो कि चित् से स्फूर्जित है, को एकाग्र करके, ध्यान एवं वर्णोच्चार आदि के माध्यम से सम्पूर्ण देह को चिन्मय बनाया जाता है। जिस प्रकार किसी विद्युत् उपकरण में विद्युत् तरंगों को प्रवाहित कर देने से वह विद्युत् ऊर्जा के द्वारा विशिष्ट कार्य को करने में सक्षम होता है, उसी प्रकार साधक की देह चैतन्य से अनुप्राणित देवता से अधिष्ठित होने पर ही यागादि कार्यों के निष्पादन में समर्थ होती है।

"न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधा।
न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा देवं यजेत्"।। पदार्थादर्श(शा. ति.)४, पृ० १४०

न्यास के माध्यम से न केवल यष्टा में अपितु याग के अन्य समस्त उपकरणों में भी देवत्व का आधान किया जाता है।

देह में न्यस्त किए जाने वाले देवतादि के आधार पर न्यास के निम्नलिखित प्रकार होते हैं---

१. मातृका न्यास
२. मालिनी न्यास
३. षडध्वा-न्यास

विधि अथवा देहविभाजन की दृष्टि से देह में न्यास दो प्रकार से किया जाता है--

१. देह के विभिन्न अङ्गों में,
२. देह के निश्चित अङ्गुलमान में विभिन्न अङ्गुल के विभाजनपूर्वक।

१. मातृकान्यास

मातृका स्वरूप

सम्पूर्ण वर्णमाला मातृका कहलाती है। कभी-कभी पृथक्-पृथक् वर्णो को भी मातृका कहा जाता है। पूर्ण प्रकाशात्मक शब्दराशि भैरव की अन्तर्मुख अर्थात् प्रमाता से ऐकात्म्य को प्राप्त जो शक्ति है वही वर्णस्वरूप भेदों में विद्यमान रहने के कारण एवं मातृतुल्या होने के कारण मातृका कही जाती है (तन्त्रा., १५. १३०स-३१ब)। अ से प्रारम्भ एवं क्ष पर समाप्त होने के कारण इसे अक्षमाला भी कहा जाता है। शिवसूत्र में मातृका को ज्ञान की अधिष्ठान-भूता बताया गया है "ज्ञानाधिष्ठानं मातृका" (१.४)। मातृका को महेश्वर की क्रियाशक्तिस्वरूपिणी कहा गया है (मा० वि० त० ३. ८-६ एवं पा०टि० ३)।

मातृका के दो भेद हैं-स्फोटादि ध्वन्यात्मक एवं लिप्यात्मक (ने० त०, २१,३८)।

स्फोटादि ध्वनि पुनः आठ प्रकार की है--१. घोष, २. राव, ३. स्वन, ४. शब्द, ५. स्फोट, ६. ध्वनि, ७. झांकार, ८. ध्वङ्कृति।

लिप्यात्मक अष्ट वर्ग हैं-- १. अवर्ग २. कवर्ग ३. चवर्ग ४. टवर्ग ५. तवर्ग ६. पवर्ग ७. यवर्ग ८. शवर्ग। इन वर्गों की देवता क्रमशः वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी, कोलिनी मानी गई है (वा० म०, १. ६० - ६२)। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार इन वर्गों की देवताएँ क्रमशः महालक्ष्मी, ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा हैं (१.३४स-३६)। दसवें पटल (१०१७-२५) में इन देवताओं का स्वरूप भी वर्णित है।

मातृका वर्ण क्रम:

१. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। २. क, ख, ग, घ, ङ। ३. च, छ, ज, झ, ञ। ४. ट, ठ, ड, ढ, ण। ५. त, थ, द, ध, न। ६. प, फ, ब, भ, म। ७. य, व, र, ल। ८. श, ष, स, ह, क्ष।

श्रीविद्यार्णवतन्त्र के अनुसार प्रत्येक मातृका वर्ण के देवता इस प्रकार हैं---

वर्ण	देवता	
अ	विरंचि (१)	
इ	विष्णु (२)	
उ	अज	
ऋ	एकपाद	
लृ	अहिर्बुध्न्य	
ए	पिनाकि	
ऐ	अपराजित	
ओ	त्र्यम्बक	रुद्राह्व (एकादश)
औ	महेश्वर	
ह	वृषाकपि	
य	शम्भु	
र	हरण	
व	ईश्वर	
ल	नासत्यौ	अश्विनी कुमार (२)
ड	सूर्यनन्दन	
क	प्रजापति	(१)
ख	इन्द्र	
घ	अग्नि	
ग	यम	
ञ	निऋति	
च	वरुण	लोकपाल (१०)
छ	वायु	
झ	कुबेर	
ज	ईशान	
ण	ब्रह्मण	
ट	अनन्त	
ठ	क्रियाशक्ति	
ढ	ज्ञानशक्ति	

ङ	शिवा	
न	कपालिनी	
त	करालिनी	
थ	वज्रिणी	सक्रियादि शक्तियाँ (१६)
ध	गुह्यशक्ति	
द	चामुण्डा	
म	शान्ति	
प	विद्या	
फ	सुप्रतिष्ठा	
भ	निवृत्ति	
ब	प्रियदर्शिनी	
श	ग्रसिनी	
ष	नादिनी	
स	मालिनी	

श्रीविद्यार्णवतन्त्र (पृ0 ४८) के अनुसार मातृकाओं की संख्या तिरसठ है। ये त्रिषष्टि मातृकाएँ हैं
अ, आ, आ^{3}, इ, ई, ई^{3} उ, ऊ, ऊ^{3}, ऋ, ॠ^{3}, ॠ, ॡ, ए, ए^{3} ओ, ओ^{3}, ऐ, ऐ^{3}, औ, औ^{3}, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ़, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, पलिक्वनी, चखख्नतुः, अगग्निः, घव्नन्तिः, 0, ।., ✕ क, ✕ प, (स्वयं उच्चरित होने में दोनों असमर्थ), ळ।

बाह्य-याग की सिद्धि के लिए मातृका (एवं मालिनी न्यास) का विधान किया गया है। यह सृष्टि एवं संहारक्रम से अलग-अलग अथवा सृष्टि, स्थिति, संहार इन तीनों का एक साथ किया जाता है। इसके अन्तर्गत साधक एकाग्रचित्त होकर वाम कर की अनामिका के द्वारा, मन्त्रोच्चार एवं तत्सम्बन्धी विशिष्ट वर्ण के उच्चारणपूर्वक अपने अङ्गों का स्पर्श करता है एवं उन अङ्गों को उन विशिष्ट वर्णों में निहित शक्तियों अथवा सम्बन्धित देवताओं से संयुक्त करता है।

महानिर्वाणतन्त्र एवं उत्तरकालीन स्मार्त यज्ञ विधि (म.नि.त. ५, १०७-१८ ; अनुष्ठानप्रकाश, पृ0 ६५-७) में पहले अन्तर्मातृका न्यास के अन्तर्गत मातृका के ऋष्यादि का न्यास करने के पश्चात् करांग न्यास, हृदयादि न्यास एवं षट्चक्रों में मातृकान्यास का विधान है। तत्पश्चात् विभिन्न देहांगों में मातृसरस्वती के ध्यानपूर्वक बहिर्मातृकान्यास का विधान है, अन्तिम बहिर्मातृकान्यास तन्त्रालोक में निरुपित मातृकान्यास के लगभग समान है।

तन्त्रालोक (१५. ११७स-१२०) एवं मा. वि.त. (८. २७-३२) में देहांगों में मातृकान्यास का विधान निम्नांकित क्रम से निर्दिष्ट है-

मातृका वर्ण	अङ्ग
अ	ललाट
आ	मुख
इ ई	दोनों नेत्र
उ ऊ	दोनों कान
ऋ ॠ	दोनों नासापुट
ऌ ॡ	दोनों कपोल
ए	अधोदन्त
ऐ	ऊर्ध्व दन्त
ओ औ	अधरोष्ठ
अं	शिखा
अः	जिह्वा
क	दक्षिण स्कन्ध
ख	दक्षिण बाहु
ग	दक्षिण कर
घ	दक्षिण अङ्गुलि'
ङ	दक्षिण नख
च	वाम स्कन्ध
छ	वाम बाहु
ज	वाम हाथ
झ	वाम अङ्गुलि
ञ	वाम नख
ट	दक्षिण नितम्ब
ठ	दक्षिण ऊरु
ड	दक्षिण पैर
ढ	दक्षिण अङ्गुलि
ण	दक्षिण नख

त	वाम नितम्ब
थ	वाम ऊरु
द	वाम पैर
ध	वाम अङ्गुलि
न	वाम नख
प फ	दोनों पार्श्व
ब	पीठ
भ	पेट
म	हृदय
य	त्वचा
व	रक्त
र	मांस
ल	सूत्र (स्नायु)
श	अस्थि
ष	वसा
स	शुक्र
ह	प्राणकोष
क्ष	ब्रह्मरन्ध्र

महाकालसंहिता के गुह्यकाली खण्ड में उपलब्ध वर्णों एवं अङ्गों का विवरण तन्त्रालोक के विवरण से कुछ भिन्नता रखता है। इसमें क्ष के साथ ही त्र एवं ज्ञ वर्णों का भी समावेश है। यवर्ग एवं शवर्ग का न्यास तन्त्रालोक के अनुसार त्वचा, रक्त, मांस, सूत्र (स्नायु) अस्थि, वसा, शुक्र, प्राण आदि में करणीय है, जब कि यहाँ हृदय, दक्षिण कर, वाम कर, दक्षिण करमूल, वामकरमूल, पैर एवं सर्वाङ्ग में न्यास का विधान है।

वैदिक एवं स्मार्तविधि से किए जाने वाले यज्ञों के मूल रूप में न्यासविधान लक्षित नहीं होता है, किन्तु कालान्तर में सम्भवतः तान्त्रिक प्रभाव से ही इन यज्ञों में भी न्यास किया जाने लगा। अनुष्ठानप्रकाश (पृ० ६६-७) में निरूपित बहिर्मातृका न्यास के अन्तर्गत मातृका वर्णों का निश्चित अङ्गों में किंचित् अन्तर रखते हुए उपर्युक्त विधि से ही न्यास किया जाता है।

म. नि. तन्त्र एवं स्मार्तविधि के अनुसार बहिर्मातृका न्यास के अन्तर्गत मातृका के ऋषि-ब्रह्मा, छन्द-गायत्री, देवता-मातृका देवी, बीज-व्यंजन, शक्तियाँ स्वर एवं कीलक-विसर्ग आदि का लिपिन्यास में विनियोग किया जाना चाहिये।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम लिपिन्यास किया जाना चाहिये।

लिपिन्यास - "शिरसि ब्रह्मणे ऋषये नमः । मुखे गायत्र्यै छन्दसे नमः । हृदये मातृकायै सरस्वत्यै देव्यै देवतायै नमः । गुह्ये व्यंजनाय बीजाय नमः। पादयोः स्वरेभ्यः शक्तिभ्यः नमः। सर्वाङ्गेषु विसर्गाय कीलकाय नमः। धर्मार्थकाममोक्षावाप्तये लिपिन्यासे विनियोगः" ।

उपर्युक्त रीति से ऋष्यादि का न्यास करने के अनन्तर कराङ्गन्यास का विधान किया गया है।

कराङ्गन्यास- मातृसरस्वती का ध्यान करते हुए दोनों करों में एवं हृदयादि अङ्गों में निम्नलिखित छः मन्त्रों के द्वारा न्यास कियां जाता है-

"अं कं खं गं घं ङं आं अंगुष्ठाभ्यां नमः। इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा। उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्। एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्। ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः करतलपृष्ठाभ्यां फट्" इति करन्यासः।

हृदयादिन्यासो यथा "अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः। इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा। उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्। एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्। ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्। अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः अस्त्राय फट्" इति षडङ्गे न्यासेऽयमेव मन्त्र ईरितः।

(मातृसरस्वतीध्यान - "पंचाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोर्हृत्पद्मवक्षस्थलां।

भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलमापीनतुंगस्तनीम्।।

मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्या च हरताम्बुजै-

र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये"।।

पंचाशत् लिपियों के द्वारा जिनके मुख, बाहु, पैर, कटि, वक्षस्थलादि अङ्गों का विभाजन है, जिनके कान्तिमान् मुकुट पर मानो चन्द्रमा की कला जटित हो, महत्, उन्नत स्तनों वाली, जिनके करकमलों में ज्ञानमुद्रा, अक्षमाला, अमृतकलश एवं विद्या स्थित है, शुभ्र कान्ति वाली, तीन नयनों वाली उस वाणी देवता का मैं आश्रय लेता हूँ।)

षट्चक्रों में मातृका-न्यास-

मातृका देवी के उक्त स्वरूप का ध्यान करते हुए षट्चक्रों में निम्न क्रम से मातृका-न्यास करे --

"भ्रूमध्यगे पद्मे हं नमः क्षं नमः। कण्ठगे पद्मे अं नमः आं नमः इं नमः ईं नमः उं नमः ऊं नमः ऋं नमः ॠं नमः लृं नमः ॡं नमः एं नमः ऐं नमः ओं नमः औं नमः अं नमः अः नमः। हृद्गते पद्मे कं नमः खं नमः गं नमः घं नमः ङं नमः चं नमः छं नमः जं नमः झं नमः ञं नमः टं नमः ठं नमः। नाभिगते पद्मे डं नमः ढं नमः णं नमः तं नमः थं नमः दं नमः धं नमः नं नमः पं नमः फं नमः। लिङ्गगते पद्मे बं नमः भं नमः मं नमः यं नमः रं नमः लं नमः। मूलाधारे वं नमः शं नमः षं नमः सं नमः" इति षट्चक्रेषु मातृकान्यासक्रमः।

ये तीनों प्रकार मातृका के आन्तर न्यास के अन्तर्गत माने गए हैं तदनन्तर बाह्य न्यास का विधान किया गया है।

मातृका वर्णों का बहिर्न्यास-

निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए तत्सम्बन्धी अङ्गों का स्पर्श मातृ-सरस्वती के ध्यानपूर्वक किया जाना चाहिये-

"ललाटे अं नमः, मुखवृत्ते आं नमः, दक्षेऽक्षिण इं नमः, वामेऽक्षिण ईं नमः, दक्षश्रुतौ उं नमः, वामकर्णे ऊं नमः, दक्षघ्राणे ऋं नमः, वामनासायां ॠं नमः, दक्षगण्डे लृं नमः, वामकपोले लॄं नमः, ओष्ठे एं नमः, अधरे ऐं नमः, ऊर्ध्वदन्तपंक्तौ ओं नमः, अधोदन्तपंक्तौ औं नमः, उत्तमाङ्गे अं नमः, आस्यविवरे अः नमः, बाह्वोः दशानां सन्धीनामग्रेषु क्रमतः कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङं नमः, चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः, ञं नमः। पादयोः दशानां सन्धीनामग्रेषु क्रमतः टं नमः, ठं नमः, डं नमः, ढं नमः, णं नमः, तं नमः, थं नमः, दं नमः धं नमः, नं नमः। दक्षपार्श्वे पं नमः, वामपार्श्वे फं नमः, पृष्ठे बं नमः, नाभौ भं नमः, जठरे मं नमः, हृदये यं नमः, दक्षस्कन्धे रं नमः, वामस्कन्धे लं नमः, ककुद्रूपेंऽशे वं नमः, हृदयपूर्वे पाणियुगे शं नमः, षं नमः, हृत्पूर्वे पादयुगे सं नमः, हं नमः, जठराननयोः ळं नमः, क्षं नमः," इति मातृकावर्णानां बहिर्न्यासस्य क्रमः।

२. मालिनी-न्यास-

मालिनी : स्वरूप

रुद्र के द्वारा आत्मरूप में स्वीकृत (धारित) होने के कारण अथवा भुक्ति - मुक्ति को धारण करने के कारण "मलमल्ल धारणे" से व्युत्पन्न शब्दराशि मालिनी कहलाती है। माला शब्द पुष्पमाला के अर्थ में रूढ़ होने के कारण, माला के समान मालिनी भी पूज्य है। मा शब्द से ध्वनित संहार की विमर्शिका अर्थात् उसे लाने अथवा ले जाने "रा दाने" "ला आदाने" के अर्थ में भी मालिनी शब्द का प्रयोग किया जाता है (तन्त्रा., १५. १३१स-३२)। सम्पूर्ण विश्व को धारण करने के कारण भी इसे मालिनी कहा जाता है (विवेक, ३. २००)।

मालिनी का वर्णक्रम मातृका से भिन्न है। इसमें स्वर (बीज) एवं व्यंजन (योनि) एक दूसरे से मिल गए हैं इसीलिए इसे भिन्नयोनि भी कहा जाता है (तन्त्रा., ३. २३३; मा०वि०त०, ४. ११ सद)। मालिनी के द्विधा, नवधा एवं पंचाशत्-ये तीन प्रकार बताए गए हैं (वही, ३. १०-११)। स्वर एवं व्यंजन के भेद से द्विधा, अ, क, च, ट, त, प, य, श, एवं क्ष वर्गों के भेद से नवधा एवं प्रतिवर्ण के भेद से पंचाशत् होती है।

मालिनी वर्णक्रम इस प्रकार है- न ऋ ॠ लृ लॄ थ च ध ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ इ अ व भ य ड ढ ठ झ ञ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष म श अं त ए ऐ ओ औ द फ।

न्यास-तन्त्रालोक (१५. १२१-२५ब) एवं विवेककार द्वारा उद्धृत त्रिशिरोभैरव एवं मा०वि०त० (३. ३७-४६) के अनुसार मालिनी वर्णों की देवियाँ एवं उनका न्यास किए जाने योग्य तत्सम्बन्धी अङ्गनिम्लिखित हैं:--

मालिनी वर्ण	देहाङ्ग	देवी
न	शिखा	नादिनी
ऋ ॠ ऌ ॡ	शिरोमाला अर्थात् दोनों कपोल एवं अधरोष्ठ	निवृत्ति, चामुण्डा, परमेशानी, मालिका
थ	मस्तक	सती देवी
च ध	दोनों नेत्र	मोहनी प्रियदर्शना
ई	घ्राणशक्ति	गुह्य शक्ति
ण उ ऊ	श्रुती (कर्णौं)	नारायणी
ब	मुख	वज्रिणी
क ख ग घ ङ	दन्त	कङ्कटा कालिका शिवा घोरघोषा शिनि

इ	जिह्वा	माया देवी
आ	गिरा(वाणी)	वाग्वागीश्वरी
व	कण्ठ	प्रज्ञा
भ	दक्षिण स्कन्ध	भीषणी
य	वाम स्कन्ध	वायुवेगा
ड	दक्ष भुजा	लामा
ढ	वाम भुजा	विनायिकी
ठ	हाथ	पूर्णिमा
झ	दक्ष-कराङ्गुल	झङ्कारी
ञ	वाम-कराङ्गुल	कुन्दना
ज	शिखा	जयन्ती
र	दण्ड	दीपनी
ट	कपाल	कापालिनी अथवा परमेश्वरी
प	हृदय	पावनी
छ	दक्षस्तन	छगली
लं	वामस्तन	पूतना
आ	क्षीर	मोटरी
स	आत्मा	विसर्गाख्या
अः	प्राणात्मा	इच्छाशक्ति
ह	प्राण	अम्बिका
ष	उदर	लम्बिका
क्ष	नाभि	संहारिका
म	कटि (नितम्ब)	महाकाली
श	गुह्यस्थान	कुसुमायुधा
अं	दक्ष-ऊरु	शुक्रा
त	वाम-ऊरु	तारा
ए	दक्ष जानु	ज्ञान-शक्ति
ऐ	वाम जानु	क्रियाशक्ति
ओ	दक्ष जंघा	गायत्री

औ	वाम जंघा	सावित्री
द	दक्ष चरण	दहनी
फ	वाम चरण	फेत्कारिका

गारुडादि सांजन मन्त्र, जो परसिद्धिदायी नहीं होते हैं, वे भी मालिनी के द्वारा न्यस्त किए जाने पर निश्चय ही मुक्तिप्रदाता होते हैं। इसलिए सिद्धि की इच्छा रखने वाले साधक को अन्य मन्त्र का भी मालिनीन्यासपूर्वक जप करना चाहिये। इससे बिना प्रयत्न के ही मुक्ति की प्राप्ति होती है (तन्त्रा.,१५. १३७स-३९ब)।

इस प्रकार सिद्धिकांक्षी के लिए सृष्टिक्रम से एवं मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले साधक के लिए संहारक्रम से मातृका अथवा मालिनी वर्णों का अथवा दोनों का एक साथ न्यास करने का विधान है। इन दोनों के पिण्ड अथवा बीजमन्त्र - "अक्षह्रीं" "नफह्रीं" होते हैं, जो प्रत्याहार विधि से इनका संघात है, के द्वारा मन्त्रान्तरसहित अथवा अकेले ही इनका न्यास किए जाने पर, यह मालिन्यादि न्यास अंगों से युक्त अथवा उनसे रहित होता है। यह सिद्धातन्त्र में निरूपित है। मातृकामालिनी का मिश्रित न्यास करने में अथवा वर्णों का पृथक् - पृथक् न्यास करने में वर्णों को क्रम से अथवा बिना किसी क्रम के योजित किया जाना चाहिये (तन्त्रा., १५. १३९स-४२)। इस प्रकार मातृकामालिनी न्यास करने से शिवभावना की प्राप्ति होती है।

३. षडध्वान्यास-

षडध्वा : स्वरूप

सर्वव्यापी, अमूर्त एवं निष्क्रिय संवित् का मूर्त एवं क्रियात्मक रूप में प्रकाशन ही अध्वा कहलाता है- "अमूर्ताया : सर्वगत्वान्निष्क्रियायाश्च संविदः ।

मूर्तिक्रियाभासनं यत्स एवाध्वा महेशितुः ।।" (-तन्त्रा., ६. २६)।

मूर्तरूप में आभासन देशाध्वा कहलाता है जिसमें कला तत्त्व एवं पुर अन्तर्भूत हैं एवं क्रियारूप में आभास कालाध्वा कहलाता है जिसके अन्तर्गत वर्ण, मन्त्र एवं पद समाविष्ट हैं (तन्त्रा., ६. ३४-५)। देशाध्वा प्रमेय से सम्बन्धित है एवं कालाध्वा प्रमाता से। देह के विविध विभागों में इनका न्यास ही षडध्वान्यास है।

न्यास-विधि-

अङ्गुल-मान की दृष्टि से पैरों से प्रारम्भ कर शिर अथवा नादान्तपर्यन्त चौरासी अङ्गुल देह का अपर-मान माना गया है एवं इसमें बारह अङ्गुल जोड़ कर द्वादशान्त पद पर्यन्त परापर मान छियानवे अङ्गुल होता है। देह से परे भी संवित् की विश्रान्ति की कल्पना के कारण द्वादशाङ्गुल परे तक देहत्व माना गया है। इस प्रकार एक सौ आठ अङ्गुल देह का परमान माना गया है। इस विषय में त्रिशिरोभैरव एवं मयतन्त्र प्रमाणस्वरूप हैं जिनके अनुसार १०८ अङ्गुल में से बारह - बारह अङ्गुल घटा कर इच्छित मान का आश्रय लेकर न्यास किया जाता है (तन्त्रा., १६. १०८-१११)।

देह के इन मान-भेदों के आधार पर देह में षडध्वा में से प्रत्येक के न्यास की तीन-तीन विधियाँ होती हैं।

ललाटपर्यन्त (८४ अङ्गुल) देह में अपरविधि से, ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त (९६ अङ्गुल) देह में परापर विधि से एवं द्वादशान्तपर्यन्त (१०८ अङ्गुल देह में) पर विधि से न्यास किया जाता है।

कला-न्यास-

गुल्फापर्यन्त चार अङ्गुल में निवृत्ति कला का, तदनन्तर छियालीस (४६) अङ्गुल में प्रतिष्ठा का, बाईस (२२) में विद्या का एवं बारह (१२) अङ्गुल में शान्ता कला का न्यास होता है। शान्त्यतीता कला का सम्पूर्ण देह में व्याप्तृभाव से न्यास होता है। यह चौरासी अङ्गुल देहमान में न्यास की अपर विधि है। परापर विधि में द्वितीय प्रतिष्ठा कला का बारह अङ्गुल अधिक अर्थात् चौंतीस (३४) अङ्गुल में न्यास होता है। परविधि में इसी में बारह अङ्गुल अधिक होकर (४६) छियालीस अङ्गुल देह में प्रतिष्ठा कला का न्यास होता है (तुलनीय, शा. ति, ५. २२-२६)। पृथ्वी आदि चतुरण्ड न्यास के लिए भी यही अङ्गुल-विभाजन प्रयुक्त होता है (तन्त्रा., १६. १४७स-४९)।

तत्त्व-न्यास (समस्तरूप में)

पैरों से प्रारम्भ करते हुए गुल्फापर्यन्त चतुरंगुल में पृथ्वी तदनन्तर क्रमशः दो-दो अङ्गुल की व्याप्ति से क्रमशः तेज, वायु, आकाश इन से लेकर प्रकृति पर्यन्त तेईस (२३) तत्त्वों का छियालीस (४६) अङ्गुल में न्यास होता है। यह न्यास नाभि से छः अङ्गुल ऊपर तक समाप्त होगा। तदनन्तर पुरुष से प्रारम्भ करके कला-तत्त्व पर्यन्त छः तत्त्वों में से प्रत्येक का तीन-तीन अङ्गुल में न्यास होगा। माया से प्रारम्भ कर के सदाशिवपर्यन्त चार तत्त्वों का चार-चार अङ्गुल में, इस प्रकार चार (४), छियालीस (४६), अठारह (१८) एवं सोलह (१६) अङ्गुल सहित कुल चौरासी (८४) अङ्गुल परिमाण ललाट पर्यन्त होता है। इसके पश्चात् तेजो रूप अनाकुल शिवतत्त्व का बाहर एवं भीतर सर्वत्र व्यापकरूप में स्मरण करना चाहिये (तन्त्रा., १६. १०१स-५ एवं मा. वि., ६. २--५)। यह अपर विधि से न्यास है।

परापरविधि से देह में तत्त्वन्यास के लिए पृथ्वी तत्त्व पूर्ववत् गुल्फपर्यन्त चतुरंगुल में न्यस्त करके जल से बुद्धिपर्यन्त प्रत्येक तत्त्व का ढाई-ढाई अङ्गुल में एवं प्रकृति का तीन अङ्गुल में एवं शेष तत्त्वों का पूर्ववत् न्यास होता है, इस प्रकार क्रमशः चार (४), पचपन (५५), तीन (३), अठारह (१८) एवं सोलह (१६) को मिलाकर छियानवें (९६) अङ्गुल में षट्त्रिंशत् तत्त्वों के न्यास की परापर विधि है (तन्त्रा., १६. १०६ एवं मा. वि., ६. २५-२६ ब)।

पर विधि में भी पूर्ववत् पृथ्वी चतुरंगुल में एवं जल से बुद्धिपर्यन्त बाईस तत्त्व तीन-तीन अङ्गुल में अर्थात् छांसठ (६६) अङ्गुल, प्रकृति चतुरंगुल में एवं शेष पूर्ववत् इस प्रकार क्रमशः चार (४), छांसठ (६६), चार (४), अठारह (१८) व सोलह (१६) अङ्गुल मिलाने से प्रथम से चौबीस अधिक होकर एक सौ आठ अङ्गुल मान की यह पर विधि है (तन्त्रा., १६. १०७ एवं मा. वि., ६. २६स-२७ब)।

तत्त्वों का व्यस्ततया न्यास-

तत्त्वों का नौ, पाँच, चार, तीन व एक में विभाजन करके व्यस्ततया तत्त्व-न्यास किया जाता है। इसके

अन्तर्गत स्वयं की बुद्धि से न्यास की कल्पना की जाती है। तत्त्वों में अन्तर्भूत हो जाने से कलापञ्चक एवं चतुरण्डन्यास भी इसी के द्वारा सूचित हैं (तन्त्रा., १६. १०६-१०ब)।

नवतत्त्व (तन्त्रा., ११.३७) न्यास के अन्तर्गत प्रकृति पचास (५०) अङ्गुल, पुरुष तीन (३) अङ्गुल, नियति नौ (६) अङ्गुल, काल छः (६), माया, विद्या, ईश्वर व सदाशिव प्रत्येक चार-चार (४-४) अङ्गुल में एवं शिवतत्त्व व्यापकरूप में न्यस्त होता है।

पंचतत्त्वन्यास में पृथ्वी चार (४) अंङ्गुल में, जल छियालीस (४६) अंङ्गुल में, अग्नि बाइस (२२), वायु बारह (१२) व आकाश व्यापकरूप से न्यस्त होता है। यह अपरविधिपूर्वक न्यास है। परापरविधि में जल तत्त्व की व्याप्ति बारह (१२) अंङ्गुल अधिक में होती है। शेष तत्त्व पूर्ववत् हैं। परविधि में जल तत्त्व में ही पुनः बारह (१२) अंङ्गुल अधिक होती है। शेष तत्त्वों का न्यास पहले की भाँति होता है। पृथ्वी, प्रकृति, माया व शक्तिरूप चतुस्तत्त्व न्यास अथवा चतुरण्ड न्यास में भी यही विधि है (विवेक, १६. ११०)। त्रितत्त्व-न्यास में आत्मतत्त्व बहत्तर (७२) अंङ्गुलों में, विद्यातत्त्व बारह (१२) अंङ्गुलों में व शिव का व्यापकतया न्यास होता है (विवेक एवं मा. वि., ६. ८-१०)।

भुवन-न्यास-

पैरों से प्रारम्भ करके गुल्फापर्यन्त चतुरङ्गुलों में पार्थिव अण्ड के अन्तर्गत आने वाले इन सोलह भुवनों का न्यास किया जाता है : कालाग्नि, कूष्माण्ड, नरकेश, हाटक, भूकटाह, ब्रह्मा, मुनि, लोकेश, रुद्र, अनन्त, कपाली, अग्नि, यम, निर्वृति, बल, लघु, निधिपति, विद्याधिप, शम्भु वीर भद्रपति। इनमें से प्रत्येक भुवन चौथाई अंङ्गुल में, इस प्रकार चार (४) अंङ्गुलों में सोलह भुवनों का न्यास होता है।

तदनन्तर लकुलीश से प्रारम्भ कर द्विरण्डपर्यन्त उनचालीस भुवन एक-एक अंङ्गुल में न्यस्त होते हैं। ये हैं - लकुलीश, भारभूति, दिण्डी, आषाढी, पुष्कर, नैमिष, प्रभास, अमरेश, भैरव, केदार, महाकाल, मध्य, आम्रातक, जल्प, श्रीशैल, हरिश्चन्द्र, भीम, अट्टहास, सविमल, कनखल, माखल, कुरुक्षेत्र, गया, स्थाणु, सुवर्ण, भद्र, गोकर्ण, अविमुक्त, रुद्रकोटि, वस्त्रापद, स्थूल, स्थूलेश, शंकुकर्ण, कालंजर, मण्डलभृत, द्विरण्ड। चालीसवाँ छगलाण्ड भुवन तीन (३) अंङ्गुलों में न्यस्त होता है।

(तन्त्रा., ८. ४३७स-५१ में निरुपित भुवनों के नामानुक्रम के अनुसार कालाग्नि से वीरभद्र पर्यन्त उन्नीस भुवनों के नामों का उल्लेख है जबकि संख्या की दृष्टि से इन्हें यहाँ भी सोलह कहा गया है एवं न्यास के प्रसंग में भी सोलह कहा गया है। इसके पश्चात् लकुलीश से द्विरण्ड-पर्यन्त उन्चालीस भुवन माने गए हैं जबकि नामोल्लेख छत्तीस का ही है। नामानुक्रम निश्चित होने से एवं न्यास के प्रसंग के भुवनों का नामोल्लेख नहीं होने से यह कहना कठिन है कि पूर्वतः निरुपित उन्नीस भुवनों में से कौन से तीन भुवन बाद के छत्तीस भुवनों के साथ मिलाने और इस प्रकार उन्चालीस संख्या प्राप्त करने योग्य हैं।)

देवाष्टक- पैशाच, राक्षस, यांक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्रजापति और ब्राह्म एवं योगाष्टक अकृत, कृत, वैभव,

ब्राह्म, वैष्णव, कौमार, ओम श्रैकण्ठ चार अंङ्गुलों में न्यस्त होते हैं। इनमें से प्रत्येक पुर चौथाई अंङ्गुल में न्यस्त होता है। इस प्रकार प्रधानतत्त्वपर्यन्त इन छप्पन (५६) पुरों का सोलह एवं छियालीस (१६ + ४६) अंङ्गुलों में न्यास होता है। इसके पश्चात् अर्धांगुल की व्याप्ति से तीन अंङ्गुलों में पुरुष तत्त्वगत छः पुर -- वाम, भीम, उग्र, भव, ईश, एकवीर एवं प्रचण्डः माधव, अज व अनन्त ये चार पुर दो अंङ्गुलों में न्यस्त होते हैं, एकशिवपुर एक अंगुल में न्यस्त होता है। क्रोधेश पुर एक अंगुल में एवं चण्डपुर दो अंगुलों में संवर्त एक अंगुल में एवं ज्योतिष्पुर द्वयंगुल में, शूरपुर एक में एवं पंचान्तकपुर का दो अंङ्गुलों में न्यास किया जाता है। कालतत्त्वगत एकवीर, शिखेश एवं श्रीकण्ठ का तीन-तीन अंङ्गुलों में न्यास होता है। तदनन्तर मायातत्त्वस्थ महातेज वाम, भव, उद्भव, एकपिंगल, ईशान, भुवनेश इन आठ पुरों में से प्रत्येक का अर्धांगुल में, इस प्रकार इन सबका चतुरंगुल में न्यास होता है। इस प्रकार इन अट्ठाईस (२८) पुरों का बाईस (२२) अंङ्गुलों में न्यास होता है।

तदनन्तर तीन पुरों हालाहल, रुद्र, क्रोध का दो अंङ्गुलों में न्यास होता है। प्रत्येक अंगुल में एक तिहाई भाग कम रहते हुए दो अंङ्गुलों में तीन पुरों का न्यास होता है। इस प्रकार १६, ५६, २८, १८ पुरवर्ग देह में क्रमशः, ४, ४६, २२, १२ अंङ्गुलों में अपरविधि से न्यस्त होते हैं।

परापर विधि में छियालीस (४६) अंङ्गुलों में जिन छप्पन (५६) पुरों का न्यास किया गया था उन पुरों का अब अट्ठावन (५८) अंङ्गुलों में न्यास किया जाता है।

परविधि में छप्पन (५६) पुरों का सत्तर (७०) अंगुल परिमाण में न्यास किया जाता है (तन्त्रा., १६. १०१-१०३ एवं मा. वि. त., ६. ११-१८)।

वर्णाध्वा-न्यास-

एक वर्ण "क्ष" का चार (४) अंगुल में, तत्पश्चात् तेईस (२३) वर्णों में से प्रत्येक का दो अंगुल में अर्थात् कुल छियालीस (४६) अंगुल में, तदनन्तर छः वर्णों में से प्रत्येक का तीन-तीन इस प्रकार कुल अट्ठारह (१८) अंङ्गुलों में, तत्पश्चात् चार वर्णों का, चार-चार अंङ्गुलों में, इस प्रकार कुल चौंतीस (३४) वर्णों का चौरासी (८४) अंगुल देह में अपर विधि से न्यास होता है। स्वरों का व्याप्तृभाव से न्यास होता है। परापर विधि में प्रथमवर्ण के बाद आने वाले तेईस (२३) वर्णों का बारह अंगुल अधिक अर्थात् अट्ठावन (५८) अंगुल में न्यास होता है, शेष विधि पूर्ववत् है। परविधि में इन्हीं तेईस वर्णों का सत्तर (७०) अंङ्गुलों में न्यास होता है।

पदाध्वा-न्यास-

पद दस माने गए हैं जो क्रमशः एक,एक, चार,चार, पाँच,पाँच,पाँच दो, तीन एवं एक अक्षरात्मक होते हैं। तन्त्रालोक (११. ५१-३) में पदों की अक्षर संख्या का ही उल्लेख है, सम्भवतः इन्हें मन्त्रस्वरूप (तन्त्रा., ११. ४५अ.) मानने और इस कारण गोपनीयता बनाए रखने के लिए इनका स्वरुप - निर्देश नहीं है। इनमें मातृकामालिनीगत नौ पदों का न्यास क्रमशः चार (४), आठ (८), आठ (८), दस (१०), दस (१०), दस (१०), पन्द्रह (१५), चार (४) एवं पन्द्रह (१५) अंङ्गुलों में किया जाता है। अन्तिम शिवसंज्ञक पद का

व्याप्तृभाव से न्यास होता है। यह चौरासी अंगुल देह में न्यास की अपर विधि है। परापरविधि में प्रथम पद को छोड़ कर अन्य पाँच पदों का बारह अंगुल अधिक में अर्थात् अट्ठावन (५८) अंङ्गुलों में न्यास होता है। परविधि में इन्हीं पदों का सत्तर (७०) अंङ्गुलों में न्यास होता है (तन्त्रा., १६. १३५स-३८ब)।

मन्त्राध्वा - न्यास-

पद और मन्त्र में भेद नहीं है "तदेव च पदं मन्त्रः"। इसलिए जो पद है वही मन्त्र है एवं उसका न्यास भी उसी विधि से होता है जिससे पदों का। इस प्रकार पूर्वनिर्दिष्ट पदाध्वा-न्यास की विधि से ही मन्त्राध्वा-न्यास भी किया जाता है (तन्त्रा., १६. १३८स-३६ब)।

न्यास की इन अपर, परापर एवं पर विधियों में बारह-बारह अंगुल का अन्तर है। यह अन्तर प्रायः प्रथम चार अंगुल के बाद न्यास किए जाने वाले तत्वादि में ही अंगुलमान बढ़ा कर पूरा कर दिया जाता हैं। सामान्यतया बाद वाले छियालीस अंङ्गुलों में जिन तत्त्वादि का न्यास किया जाता है, उन्हीं का क्रमशः अट्ठावन एवं सत्तर अंङ्गुलों में परापर एवं परविधि के अनुसार न्यास किया जाता है।

शोधकमन्त्र-न्यास-

श्रीपूर्वशास्त्र के अनुसार परापरा देवी के मन्त्र का छत्तीस तत्त्वों में संहार-क्रम से न्यास किया जाता है। परापरा मन्त्र-- "ओं अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं घोररूपे हः घोरमुखि भीमे भीषणे वम पिव हे रूरू रर फट् हुं हः फट्" का विलोम क्रम से न्यास करते हुए सर्वप्रथम पृथ्वीतत्त्व में पदत्रय "फट्", "हः", "हुं" का, तदनन्तर जल से अहंकारपर्यन्त पाँच पद "फट्", "रर", "रूरू", "हे", "पिव", तत्पश्चात् बुद्धि, प्रकृति, पुरुष सहित रागतत्व में पदत्रय "वम", "भीषणे", "भीमे" का एवं अशुद्ध विद्या में एक पद "घोरमुखि" का तथा काल में एक पद "हः" का, कला एवं माया में एक पद "घोररूपे" का (कला में "रूपे" एवं माया में "घोर") और अन्त में विद्या, ईश्वर सदाशिव, शक्ति एवं शिव में पदपंचक "हुं", "परमघोरे" "ह्रीः" "अघोरे" "ओं" का न्यास किया जाता है, (इसके अन्तर्गत सदाशिव तत्त्व में दो पदों का एवं शिवशक्ति में एक पद ओं का न्यास होता है- तन्त्रा., १६. २११स-१६ब)।

मालिनी वर्णों का संहार-क्रम से तत्त्वों में इस प्रकार न्यास किया जाता है-

वर्ण	तत्त्व
फ	धरा
द	जल
औ	तेज
ओ	वायु
ऐ	आकाश
ए	गन्ध

त	रस
अं	रूप
श	स्पर्श
म	शब्द
क्ष	उपस्थ
ष	पायु
ह	पाद
अः	पाणि
स	वाक्
आ	नासिका
ल	रसना
छ	नेत्र
प	श्रोत्र
ट	त्वक्
र	मन
ज	बुद्धि
ञ	अहंकार
झ	प्रकृति(प्रधान)
ठ	पुरुष
ढ	राग
ड	नियति
य	विद्या
भ	कला
व	काल
अ	माया
इ	शुद्ध विद्या
उ	ईश्वर
घ	सदाशिव (सकल)

शिव -- ग से न पर्यन्त - (ग, ख, क, ब, उ, उ, ण, ई, ध, ध, थ लृ, लृ, ऋ, ऋ, न)

मा. वि. त., ४.१५-१७

षडध्वा-निरूपण (तन्त्रा. एवं विवेक, ११. ५१-३, मा०वि०त०, २. ५०-७)

शक्ति (जिसके द्वारा व्याप्त है)	कला	तत्त्व	भुवन	वर्ण	पद	मन्त्र
धारिका	निवृत्ति	पृथ्वी	कालाग्नि से वीरभद्र पर्यन्त १६ भुवन	क्ष	एक	एक
आप्यायिनी	प्रतिष्ठा	जल से बुद्धि पर्यन्त २३ तत्त्व	लकुलीश से श्रीकण्ठ पर्यन्त ५६ भुवन	हादि पर्यन्त २३ वर्ण	पाँच-(दो चतुरक्षर एवं तीन पंचाक्षर)	पाँच
बोधिनी	विद्या	पुरुष से माया पर्यन्त ७ तत्त्व	वाम से एकवीर तक २८ भुवन	जादिघान्त ७ वर्ण	दो-एक पंचाक्षर एक द्वक्षर	दो
उत्पूरिनी	शान्ति	विद्या, ईश्वर व सदाशिव	१८ भुवन	ग ख क ३ वर्ण	एक त्र्यक्षर	एक
शिवतत्त्व	शान्त्यतीता	शक्तिमान् शिव		१६ स्वर विसर्ग से अ पर्यन्त	एक	एक

नोट: पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने "तन्त्रयात्रा" में प्रस्तुत निबन्ध "वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः" (पृ० १५-३४) में जो लेखा (चार्ट) प्रस्तुत किया है उसमें केवल कला, तत्त्व व भुवन का ही समावेश है।

चक्रपूजन-

याग-स्थान में चक्र-निर्माण करके उसके विविध अङ्गों में देवता की आवाहनपूर्वक स्थापना करके उनका पूजन किया जाता है। विभिन्न यागों में आवाह्यदेवी-देवता एवं पूजनकृत्यादि के आधार पर चक्रों का स्वरूप एवं उनके अरों की संख्या में अन्तर पाया जाता है, किन्तु चक्र भेदों में होते हुए भी इनके द्वारा त्रिक की ही प्रमुखरूप से पूजा की जाती है। इस दृष्टि से चक्रों में भेद दिखाई देने पर भी वस्तुतः ऐकात्म्य ही सिद्ध होता है (तन्त्रा., ३३. १)। वस्तुतः विश्व का आमर्शन करने वाला एक ही चिदात्मा है जो शक्ति, शक्तिमान् एवं प्रमातृरूप में प्रकट होता है। अहं परामर्श के विभाजन में भी अनुत्तर, इच्छा एवं उन्मेश का त्रिक सिद्ध होता है। संवित् ही याज्यरूप आमर्श को धारण करती है एवं चक्र भी संविद् से अभिन्न है जो स्वामी एवं आवरण के भेद से अनेक रूपों में प्रयुक्त होते हैं (तन्त्रा., ३३. २८स-२६)।

मा. वि. तन्त्र (२०. ४२) में चक्रों के स्त्री, पुरुष व नपुंसक तीन प्रकार बताए हैं जो पुनः शान्ति, वशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण आदि कर्मों के भेद से बारह प्रकार के होते हैं

(शान्त्यादि षट्कर्मों से चक्रों के तीन प्रकारों को गुणित करने पर अठारह प्रकार होने चाहिये जबकि यहाँ बारह माने गए है। इसके समाधान के लिए इनमें से कोई चार कर्म अथवा अन्य शान्त्यादि कर्म अभिप्रेत हैं। अथवा यह भी माना जा सकता है कि इन कर्मों के आधार पर स्त्री व पुरुष-सम्बन्धी चक्रों के ही प्रकार होंगे। नपुंसक चक्रों का प्रकार भेद नहीं। मा. वि. त. की कोई टीका उपलब्ध न होने के कारण इस समस्या का समुचित समाधान कठिन है।)

तन्त्रालोक (३३वें आह्निक) में षडर, द्वादशार, षोडशार, चतुर्विंशदर, द्वात्रिंशद् एवं चतुस्त्रिंशद् अरों वाले चक्रों में पूज्य देवी-देवताओं एवं नियोज्य मन्त्रों का निरूपण किया गया है। इस निरूपण के आधारभूत शास्त्रों का उल्लेख नहीं किया गया है।

षडरचक्र में विश्वा, विश्वेश्वरी, हारौद्री, वीरनेत्री/वीरनायिका, अम्बिका, गुरु आदि देवियाँ होती हैं। सिद्धावीर दर्शन में भी ये देवियाँ ही मान्य हैं। साथ ही षडर चक्र में बलि, बलिनन्द, दशग्रीव, हर, हय, माधव इन देवताओं का निवेश किया जाता है एवं इनमें मन्त्र रूप में हुंकार एवं स्वाहा को नियोजित किया जाता है।

द्वादश अरों वाले चक्र में माहेशी, ब्राह्मणी, स्कान्दी, वैष्णवी, ऐन्द्री, यमात्मिका (याम्या), चामुण्डा, योगीशी, आदि अथवा अष्ट अघोर्यादि देवियाँ -- अघोरा, परमा घोरा, घोररूपा, घोरवक्त्रा, भीमा, भीषण, वमनी, पिवनी - अग्नि, नियति, वायु, ईशमातृ से समन्वित (माहेश्यादि) द्वादश देवियाँ होती हैं। चौबीस अरों वाले चक्र में इनके साथ नन्दा, भद्रा, जया, काली, कराली, विकृतानना, कोष्टुकी, भीममुद्रा, वायुवेगा, हयानना, गम्भीरा, घोषणी - ये देवियाँ भी होती हैं (तन्त्रा., ३३. १-५)।

चौबीस अरों में शक्तिमान् क्रमशः संवर्त, लकुलीश, भृगु, श्वेत, बक, खंगी, पिनाकी, भुजग, बलि, महाकाल, द्विरण्ड, छगलाण्ड, शिखी, लोहित, मेष, मीन, त्रिदण्डी, आषाढी, उमाकान्त, अर्धनारीश्वर, दारक, लांगली, सामेश, शर्मा हैं (तन्त्रा., ३३. १३-१४ब, मा. वि. त., २०, ५४-५६)। शक्ति अथवा शक्तिमान् से सम्बन्धित इन चौबीस अरों वाले चक्रों में मन्त्ररूप में "क" से लेकर "भ" पर्यन्त वर्णों को बिन्दुसहित नियोजित किया जाता है, म इन समस्त वर्णों से बिन्दुरूप में संयुक्त रहता है।

जय, विजय, जयन्त, अजित, सुजय, जयरुद्र, जयकीर्तन, जयावह, जयमूर्ति, जयोत्साह, जयद, जयवर्धन, बल, सुबल, बलभद्र, बलप्रद, बलावह, बलवान्, बलदाता, बलेश्वर, नन्दन, सर्वतोभद्र, भद्रमूर्ति, शिवप्रद, सुमन, स्पृहणक, दुर्ग, भद्रकाल, मनोऽनुग, कौशिक, काल, विश्वेश, सुशिव, कोप -- ये योनि समुद्भूत चौंतीस देव हैं (तन्त्रा., ३३. १३-१६ एवं मा.वि.त., ३. २०-२४)। इन्हीं का स्त्रीलिंग में पाठ करने पर ये शक्तिरूप होते हैं। इनका चौंतीस अरों वाले चक्र में निवेश किया जाता है। अभिनवगुप्त ने द्वात्रिंशदरात्मक चक्र में "क" से लेकर "स" पर्यन्त हलों का बिन्दुसहित निवेश करने का निर्देश किया है। इसके आधार पर चतुस्त्रिंशदरात्मक चक्र में "ह" एवं "क्ष" सहित समस्त हलों का बिन्दुयुक्त सन्निवेश मानना उचित होगा।

सिद्धि, वृद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ति, सुधा, धृति, दीप्ति, पुष्टि, मति, कीर्ति, सुस्थिति, सुगति, स्मृति, सुप्रभा -- ये सोलह श्रीकण्ठादिकशक्तियाँ हैं। ये षोडशार चक्र में स्थापित की जाती हैं एवं इनके साथ मन्त्र के रूप में सोलह स्वरों का नियोजन किया जाता है (मा.वि.त., २०. ५१ - २ब एवं तन्त्रा., ३३. ६-७ब)।

श्रीकण्ठ, अनन्तर, सूक्ष्म, त्रिमूर्ति, शंकरेश्वर, अर्धीश, भारभूति, स्थिति, स्थाणु, हर, झण्ठि, भौतिक, सद्योजात, अनुग्रहेश्वर, क्रूर, महासेन - ये सोलह एवं अमृत, अमृतपूर्ण व अमृताभ, अमृतद्रव, अमृतौघ, अमृतोर्मि, अमृतस्यन्दन, अमृतांग, अमृतवपु, अमृतोद्गार, अमृतास्य, अमृततनु, अमृतनिषेचन, अमृतमूर्ति, अमृतेश, अमृतधर आदि सोलह के साथ श्री का पाठ करने पर ये सोलह शक्तियाँ कही गई हैं। उपर्युक्त सोलह देवियाँ, श्रीकण्ठादि सोलह देवता एवं उनकी शक्तियाँ सभी षोडशार चक्र में सोलह स्वरों के साथ नियोजित की जाती हैं (तन्त्रा., ३३. ८स-१२ एवं मा.वि.त., २०. ४८-५२ब)।

तर्पण-

न्यास के माध्यम से विश्वात्मभूत देह की पुष्पादि से अर्चना करनी चाहिये। मूल मन्त्र से संक्षेप में एवं अङ्ग वक्त्रादि के अन्य मन्त्रों से विस्तारपूर्वक धूप, नैवेद्य, अर्घ्यादि से व्यास अथवा समासपूर्वक अर्चना की जानी चाहिये। अर्चना के पश्चात् तर्पण किया जाता है जो वाम कर की अनामिका के द्वारा करणीय है (तन्त्रा., १५. २७७-७६ब)। श्रीमद्भर्गशिखा एवं श्रीगमशासन के अनुसार समस्त तीर्थों से जो पुण्य मिलता है एवं समस्त यज्ञों का जो फल होता है उससे करोड़ों गुना फल अनामिका से तर्पण करने से मिलता है (तन्त्रा., १५. २८०स-८१)।

तर्पण की स्थिति वैदिक परम्परा में तान्त्रिक यज्ञों से अपेक्षाकृत भिन्न है। तर्पण गृहस्थ के नित्यकर्म का अङ्ग एवं ब्रह्मयज्ञ का अंशभूत माना गया है। इसके अन्तर्गत विशिष्ट विधि से मन्त्रपूर्वक पितरों एवं विभिन्न देवताओं को जल प्रदान किया जाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार ब्रह्मयज्ञ के तत्काल उपरान्त तर्पण करना चाहिये।

अर्घपात्रविधि -

याग में प्रयोग में ली जाने वाली समस्त वस्तुओं का शोधन अनिवार्य है। यह शोधन अर्घपात्र में स्थित जल की बूंदों से प्रोक्षण करके किया जाता है। शिवाभेदमय अर्घपात्र को आनन्दरस मद्यादि से परिपूरित करके उससे

देवताओं का तर्पण किया जाता है। सिद्धि के इच्छुक साधक को अर्घपात्र एवं यागार्थ विशिष्ट द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। यथा शान्तिसम्बन्धी क्रिया में सफेद वस्तुओं का एवं वशीकरणादि में लाल वस्त्रों का प्रयोग होता है। मुमुक्षु के लिए कुछ भी विहित नहीं है। जो कुछ भी शिवसंविदैक्य की अनुभूति में सहायक हो उसी से अर्घपात्र को पूरित करके उसकी बूंदों से पुष्पादि को प्रोक्षित करके स्वात्म एवं शिव का पूजन करना चाहिये (तन्त्रा., १५. २६१-६३ब)। स्वच्छन्दतन्त्र (२. १५५ब-१५७) में सुवर्ण, रजत, शंख, शम्बूक, शुक्तिका, ताम्र, कमलपत्र अथवा पलाश से निर्मित अर्घपात्र का उल्लेख है, जिसे जल से प्रक्षालित कर अस्त्र मन्त्र "फट्" से जपित करके अगुरु एवं चन्दन का लेप करके, धूप से सुगन्धित करने के पश्चात् जल से पूरित किया जाता है।

स्मार्तविधि में भक्षणयोग्य प्रशंसनीय एवं पवित्र द्रव्य को ही नैवेद्य के रूप में कल्पित करने का विधान किया गया है –

"निवेदनीयं यद्द्रव्यं प्रशस्तं प्रयतं तथा।
तद्भक्ष्यार्हं पञ्चविधं नैवेद्यमितिकथ्यते।।
भक्ष्यं भोज्यं च लेह्यं च पेयं चूष्यं च पञ्चमम्।"

जबकि तान्त्रिक यागों एवं विशेषतः कुलयाग में प्रमुखरूप से लोकविद्विष्ट, निषिद्ध एवं जुगुप्सा के योग्य द्रव्यों का नैवेद्यरूप में कल्पन करने का विधान किया गया है।

कुण्डसंस्कार-

याग में अग्नि-सम्बन्धी क्रियाओं के निर्वाह के लिए कुण्ड निर्माण किया जाता है। अद्वयपरामर्श के कारण शुद्ध एवं " क्रिया कुण्डलिनी कुण्डं......" इस संजल्प के प्ररोहपूर्वक अलौकिक कुण्ड-कल्पन किया जाता है। कुण्ड की, शिव की क्रिया शक्ति के रूप में भावना करना ही उसका परम संस्कार है। जिन साधकों में ऐसा संवित्प्ररोह नहीं होता कि वे कुण्ड की शक्तिरूप में भावना कर सकें उनके लिए क्रमिक विधि निरुपित है: मैं मन्त्रमय शिव हूँ, मेरे संकल्प शिवात्मक हैं, कुण्ड - अग्नि आदि सभी इसी से उत्पन्न होने के कारण शिवात्मक हैं- इस प्रकार का अनुसन्धान निरन्तर करते हुए साधक, मन्दबुद्धि व्यक्ति के द्वारा अधिक अभ्यास से वाक्यार्थ को ग्रहण करने के समान, शिवाभिमानिता को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., १५. ३९४-९७)।

ब्राह्म विधि की दृष्टि से कुण्डनिर्माण - सम्बन्धी दस संस्कार निरुपित हैं (तन्त्रा., १५. ३९८-४00, मा. वि. त., ८. ११0-११)

१. उल्लेख - खनन करना
२. सेक - सिंचन करना
३. कुट्टन - कूटना अथवा निविडतापादन
४. लेप - लीप कर समीकरण
५. चतुर्मार्ग - दर्भद्वय के द्वारा पूर्व एवं उत्तर दिशा में चौराहे का आकार बनाना।

६. अक्षवृत्ति - कुण्ड की दीवारों पर अन्दर की तरफ ऊर्ध्वमुख कुशों को चारों ओर स्थापित करना अर्थात् कुण्ड की भीतरी दीवारों को चारों ओर ऊर्ध्वमुख कुशों से आवृत्त कर देना।

७. परिकलन - कुशाग्रों के द्वारा पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई तीन रेखाओं के मध्य में दक्षिण से उत्तर तक फैली हुई रेखाएँ खींचना (इसी को वज्रीकरण भी कहा गया है)।

८. स्तर - कुण्ड से बाहर तेजपुंजमय (मन्त्राग्नि से संयुक्त) कुशों को बिछाना।

६. परिधि - पूर्वादि दिशाओं के पूज्य ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव आदि देवताओं की आधारभूत, शक्तिस्वरूपिणी, कल्याणकारिणी, यज्ञीय वृक्ष की चार शाखाएँ जिनकी लम्बाई एक हाथ के बराबर हो, को चारों ओर रखना।

१०. विष्टर - बीच में ग्रन्थियुक्त कुशा का आसन बनाना।

स्वच्छन्दतन्त्र (२. १८३स-८६ब) में निरूपित कुण्डसंस्कारो में उल्लेख से पहले अस्त्रजल के द्वारा प्रोक्षण एवं कवचमन्त्र के द्वारा रक्षा के लिए अवगुण्ठन नामक संस्कारों का निर्देश है। इसके अतिरिक्त उद्धरण, अशुद्ध मिट्टी को हटाना, पूरण, समीकरण सम्मार्जनादि कुण्ड-निर्माण से सम्बन्धित संस्कारों का पृथक्तः उल्लेख है जो तन्त्रालोक में शब्दतः निर्दिष्ट नहीं है। जब कि यागकर्म से सम्बन्धित तन्त्रालोक में वर्णित अक्षवृत्ति, परिकलन स्तर आदि संस्कारों का स्वच्छन्दतन्त्र में निर्देश नहीं किया गया है- अभिमन्त्रण, वज्रीकरण, आच्छादन आदि यागकर्मसम्बन्धी कुछ संस्कार गृहहेत्त्वर्थ अवश्य निरूपित हैं। चतुष्पथ एवं विष्टर संस्कार गृहमध्यलाभ के लिए निर्दिष्ट हैं।

स्मार्त यज्ञविधान में कुण्ड के अनेक प्रकारों यथा चतुष्कोणास्र, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, वृत्त, विषमषडस्र, पद्म, समषडस्र, योनिकुण्डादि का वर्णन एवं प्रयोग मिलता है।

चरुसंसिद्धि -

तर्पण के पश्चात् पूर्वतः स्थापित मन्त्र के द्वारा संस्कृत अग्नि से न्यासरहित चरु की सिद्धि की जाती है। यह सिद्धि आचार्य के द्वारा अथवा शिष्यों के द्वारा होम के समय की जाती है। चरु में वीरद्रव्य (सुरादि) अथवा इच्छानुसार लौकिकद्रव्य-क्षीर, तण्डुलादि रखने चाहिए, चरुसिद्धि में समस्त क्रियाएँ स्थाल्यादिग्रहण, तदभिमन्त्रण, दर्वीविघट्टन आदि 'हृन्मन्त्रनमः' के योग से की जानी चाहिये। इसके पश्चात् गुरु आज्य से पूरित चरु लेकर भुक्ति, मुक्ति के अनुसार स्रुक् अथवा स्रुव को ऊर्ध्वमुख अथवा अधोमुख करके देवताओं और शक्तियों के यन्त्रों (यन्त्र से तात्पर्य अस्पष्ट है। अभिनवगुप्त अथवा जयरथ ने इसे स्पष्ट नहीं किया है।) के तीन, तीन एवं सातवां मातृसद्भावमन्त्र क्रमशः एक-एक बार पढ़ते हुए "स्वा" इस अमृतवर्ण से अग्नि में आज्यशेष का हवन करके, चरु में "हा" इस अग्निरूप वर्ण से पुनः पुनः हवन करता है। इस प्रकार अग्नि में स्वा यह सोम भाग एवं सोमात्मक चरु में हा इस अग्निभाग का न्यास होने पर दोनों अग्नीषोमात्मक हो जाते हैं। इस विषय में श्रुति-प्रमाण भी

उपलब्ध है "यो ह वै तद्हविरग्नीषोमाभ्यां जुहोति तस्यैतद्मृतीभवति।" (तन्त्रा. एवं विवेक, १५. ४३६स-४१ब)।

भोज्य-भोजक के चरु-अग्नि में इस प्रकार एकानुसन्धान करने से एवं स्वाहा प्रत्यवमर्श स्वरूप मन्त्र से परम अद्वय सिद्ध होता है। इस प्रकार भोग्य के भोक्ता में विश्राम से, भोग्य ही क्षोभात्मक रूप से नृत्य करता है (तन्त्रा., १५. ४४१स-४३ब)। स्मार्तविधि में चरु को हवि का विकार माना गया है -- "चरुर्हविर्विकार : स्यादिज्यासंयोगात्" (मी.सू.)।

अग्नि के संस्कृत हो जाने पर एवं शब्दराशि और मालिनीरूपा वागीश्वरी का आवाहन करने के पश्चात् पितरों का पूजन करके विसर्जन करना चाहिये एवं शुद्ध अग्नि का कुछ भाग चरु के लिए पृथक् रखना चाहिये। अग्नि का संस्कार हवन के माध्यम से हो जाता है। होम में काम में आने वाले स्रुवा एवं स्रुक् का संस्कार उन्हें शिवशक्तिरूप में देखने से होता है। अन्त में ऊपर नीचे मुख करके, परस्पर उन्मुखता के कारण सुन्दर लगने वाले, शिवशक्तिरूप स्रुक्स्रुव को आज्यामृत से परिपूरित करके पूर्णाहुति दी जाती है।

वैदिक यज्ञ खुली अनुसन्धानशाला अथवा प्रयोगशाला अथवा शिक्षणसंस्था के रूप में भी दिखाई देते हैं। इन यज्ञों के माध्यम से स्वरविज्ञान, व्याकरण, भाषाविज्ञान, रेखागणित, ज्योतिष, जीवविज्ञान, कृषिविज्ञान आदि ज्ञानशाखाओं का प्रवर्तन एवं विस्तार हुआ। तान्त्रिक यज्ञ कालानुक्रम की दृष्टि से वैदिक यज्ञों के बाद विकसित हुए। उस काल तक उपर्युक्त ज्ञान-विज्ञान के विकसित हो जाने के कारण उनका लक्ष्य भौतिक कामनाओं की पूर्तिमात्र न होने के कारण वे एक उच्चतर भूमि पर अवस्थित हैं। तान्त्रिक यज्ञों का अधिकारी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति होता है एवं यज्ञ में किए जाने वाले कृत्य, भौतिकदृष्टि से विवादास्पद, गर्हित एवं हेय होने पर भी उच्चतम दार्शनिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं। यज्ञों की विकास-यात्रा, जो वैदिककाल से प्रारम्भ हुई एवं धीरे-धीरे स्मार्त, तान्त्रिक आदि शाखाओं में बंट गई, पर प्रसंगवश दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

वैदिक यज्ञों का प्रारम्भ ऋग्वैदिककाल में हो चुका था। ऋग्वेद में यज्ञ-सम्बन्धी अनेक उल्लेख : 'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्' - X. ७१.३. एवं यज्ञ- सामग्री- यूप, इध्म, समिधा एवं सात प्रकार के पुरोहित - होतृ, पोतृ, नेष्टृ, अग्निध्र, प्रशास्त्री, अध्वर्यु, ब्रह्मन् आदि का उल्लेख इस विषय में प्रमाण है। वेदों में यत्र-तत्र विकीर्ण यज्ञ-सम्बन्धी विवरणों को ब्राह्मणों ने उसी प्रकार व्यवस्थित एवं नियमबद्धरूप में प्रस्तुत किया, जिस प्रकार पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अष्टाध्यायी में। नियमों के साथ ही ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञों में जटिलता एवं आडम्बर का भी प्रवेश हो गया। प्रारम्भ में यज्ञ-विधि सरल थी एवं मन्त्रोच्चार होता के द्वारा ही किया जाता था, वही यजमान कहलाता था, किन्तु कालान्तर में उसका स्थान केवल संरक्षक का हो गया । अब उसका कार्य अध्वर्यु के निर्देश पर यज्ञ सम्बन्धी छोटे-मोटे कार्य, अथवा कहीं - कहीं पर मन्त्रोच्चार करना एवं उसे प्रभूत दक्षिणा देना हो गया। यज्ञ एक या अनेक पुरोहितों के द्वारा सम्पादित किया जाने लगा। "देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः" (मी.सू.)। देवता के लिए किया जाने से यज्ञ देवता से बढ़कर नहीं है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं। जैसा कि

गीता में कहा भी गया है -- "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः" -- (३.२) यह देवता तक पहुँचने अथवा उनसे इच्छित फल प्राप्त करने का साधनमात्र था, महत्त्व तो निश्चितरूप से साध्यरूप देवता का ही था।

वैदिक यज्ञों को मोटे तौर पर दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है- एक वितानयज्ञ अथवा श्रौत यज्ञ और दूसरा पाकयज्ञ अथवा गृह्ययज्ञ। वितानयज्ञ में दिव्यलोक स्थानीय आहवनीय अग्नि, पृथ्वी स्थानीय गार्हपत्याग्नि एवं अन्तरिक्ष-स्थानीय दक्षिणाग्नि--इन तीनों में आहुति दी जाती है। इसलिए इसे त्रेताग्नि भी कहते हैं। तीनों अग्नियों की आहुति के लिए तीन प्रकार के कुण्डों-- आहवनीय के लिए चौकोर, दक्षिणाग्नि के लिए अर्धचन्द्राकार एवं गार्हपत्याग्नि के लिए गोलकुण्ड का निर्माण किया जाता है।

सूत्रों में यज्ञों का विभाजन प्रकृति एवं विकृति के रूप में किया गया है। प्रकृति-याग आधारभूत होते हैं यथा दर्शपौर्णमास (कीथ, वै.ध.एवं दर्शन, पृ0 ३६0.) अग्निष्टोम आदि । इन पर आधारित पशुयाग,सोमयागादि विकृति कहलाते हैं ("दर्शपूर्णमासाविष्टिनां प्रकृतिः" , आ. श्रौ.सू. २४, ३, ३२.)।

वैदिक यज्ञों में एक दिन से लेकर वर्षों तक चलने वाले यज्ञ सम्मिलित हैं। प्रतिदिन अग्निहोत्र, प्रतिपक्ष दर्शपौर्णमास, प्रतिमास अमावस्या को पिण्डपितृयज्ञ, प्रत्येक तीन महीने पर चातुर्मास्य याग का, वैश्वदेव प्रभृति एक-एक पर्व का अनुष्ठान, प्रत्येक अयन के प्रारम्भ होने पर पशुबन्धयाग, वर्ष में चार बार आग्रहायणेष्टि और प्रत्येक वर्ष में सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है। ये यज्ञ अग्निहोत्री ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं।

गीता (१७अ) में यज्ञ के तीन प्रकार सात्विक, राजस एवं तामस बताए गए हैं। एकाग्रचित होकर निष्काम दृष्टि से विधिपूर्वक किया गया याग सात्विक याग होता है। फल की दृष्टि से अभिमानपूर्वक किया गया याग राजस एवं विधानरहित, मन्त्ररहित, दक्षिणा एवं श्रद्धा से रहित याग तामस होता है।

यज्ञ का पुरुष से तुलनात्मक वर्णन भी ब्राह्मणों में उपलब्ध होता है- "यज्ञो वै पुरुषः" (श.ब्रा., १.३.२.१)। आहवनीय कुण्ड यज्ञ पुरुष का मस्तक है। गार्हपत्य अपान प्राण है। दक्षिणाग्नि जठराग्नि है। इन तीनों अग्नियों में से आहुति आहवनीय में ही दी जाती है क्योंकि वह मस्तक है। इष्टि के दिन प्रातःकाल नित्य अग्निहोत्र होता है। तदनन्तर "ब्रह्मवरण कर्म" होता है और तत्पश्चात् "अपां प्रणयन"। प्रकृतियज्ञ में यज्ञ के प्रभव बृहस्पति ब्रह्मा हैं। वहीं से आपोमय यज्ञ प्रवृत्त होता है। इसलिए "अपां प्रणयन" से पहले इस वैध यज्ञ में ब्रह्मा का वरण किया जाता है। अपां प्रणयन में गार्हपत्याग्निकुण्ड के उत्तरभाग में रखे हुए प्रणीतापात्र को मन्त्र बोलते हुए आहवनीय कुण्ड के उत्तर भाग में रखना चाहिये।

ऋक्-यजुः-साम इस वेदत्रयी से ही यज्ञ का स्वरूप बनता है ("सैषा त्रयी विद्या यज्ञः"। शतपथ, १.४.३.)।

मन्त्र ब्रह्मशक्ति है। इसी वाग्वज्र से यज्ञकर्ता ऋषि अपने शत्रुओं को नष्ट करते थे।

यद्यपि ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड ऋग्वेद से ही विकसित हुआ माना जा सकता है तथापि इन दोनों के बीच काल का एक विराट् अन्तर होने के कारण इनमें समानता की अपेक्षा करना उचित नहीं है। साथ ही ब्राह्मण एवं सूत्रों में यज्ञों की विधि का जैसा निरूपण मिलता है वैसा ऋग्वेद के सन्दर्भ में नहीं है।

ऋग्वेद से उद्भूत यज्ञ ने ब्राह्मणों में निश्चित स्वरूप प्राप्त किया एवं स्मृतिकाल में उनमें विविध विधि-निषेधों का प्रवेश हो गया । शुक्ल यजुर्वेद में यज्ञ करने का अधिकार सभी वर्णों को था- "ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय"। किन्तु सूत्रकारों ने शूद्र के लिए यज्ञकर्म का निषेध कर दिया। इसका कारण उनका अविद्वान् होना बताया गया -- "अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात्" (मी.सू., ६.३७)। जैमिनी ने यज्ञानुष्ठान में पत्नी के अधिकार को स्वीकार किया था, किन्तु मनु के अनुसार पत्नी निर्धन एवं पति की दासी होने के कारण यज्ञ की अधिकारिणी नहीं है।

इस प्रकार यज्ञ भी संस्कृति की भाँति वेद से लेकर सूत्रकालपर्यन्त निरन्तर विकसित होते रहे। वैदिक यज्ञों से तान्त्रिक यज्ञों का एक महत्त्वपूर्ण अन्तर उनका निषेधों से परे होना है। शूद्र, स्त्री आदि भी यज्ञ के अधिकारी हैं एवं यज्ञ में निषिद्ध द्रव्यों का प्रमुखता से प्रयोग किया जाता है। अमरकोश के अनुसार यज्ञ एवं याग पर्यायवाची हैं। रूढ़ अर्थ की दृष्टि से भी वैदिक एवं तान्त्रिक साहित्य में यज्ञ एवं याग शब्दों के प्रयोग में अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। तान्त्रिक यज्ञों के लिए याग शब्द का प्रयोग अधिक किया जाता है, किन्तु इसमें कोई विशेष अर्थ या प्रयोजन निहित है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है।



षष्ठ परिच्छेद

विविध याग

तन्त्रालोक में निरूपित कर्मकाण्ड में याग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति की उपायभूता दीक्षा भी याग के बिना अपूर्ण है। दीक्षा के प्रसंग में एवं दीक्षित के लिए भी विविध प्रकार के यागों का निरूपण किया गया है। समयदीक्षा के अन्तर्गत बाह्य एवं आन्तर-याग, पुत्रक दीक्षा के अन्तर्गत सामुदायिक याग एवं पर्वदिवसों में मूर्तियाग करणीय हैं। दीक्षित श्रेष्ठ साधक के लिए कुलयाग का विधान किया गया है। इन सब यागों में कृत्य भिन्न-भिन्न होने पर भी इनके कर्ता के लिए संविदद्वय दृष्टि एवं भैरवावेश अनिवार्य है। साथ ही ये सभी याग साधक को वासना के अनुसार भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति करवाते हैं। यागों की प्रक्रिया में कर्ता की सामर्थ्य के आधार पर अन्तर है किन्तु इससे प्राप्त होने वाले फल में कोई अन्तर नहीं आता।

बाह्य एवं आन्तर याग-

बाह्य एवं आन्तरयाग परस्पर पूरक हैं। ये समय दीक्षा के अन्तर्गत योग्य गुरु के द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इनकी विधि तन्त्रालोक में श्रीनिर्मयाद, श्रीमत्त्रैशिरस्, श्रीनैशसंचार, श्रीवीरावलिहृदय, श्रीमालिनीविजय, श्रीपूर्वशास्त्र, श्रीमद्भर्गशिखा, श्रीगमशास्त्र, श्रीमन्नन्दिशिखा, श्रीमदानन्दशास्त्र, श्रीदेव्यायामल आदि शास्त्रों के आधार पर निरूपित है।

इस याग में बाह्य विधि के अन्तर्गत स्थानपूजन, विविध प्रकार के मातृका, मालिनी, शाम्भव, शाक्तादि न्यास तथा अर्घपात्र पूरण किया जाता है। इसके साथ ही आन्तर-याग विधि के अन्तर्गत देह को विविध विधानों से शिवावेशमय बनाया जाता है। इसके पश्चात् यागगृह को विघ्नरहित बना कर उसमें देवताओं का पूजन एवं वह्निकार्य के अन्तर्गत कुण्डकल्पन एवं उसके संस्कारादि तथा चरुसिद्धि किए जाते हैं। चरु के साथ हवि प्रदान करने पर इस याग की समाप्ति हो जाती है। इस याग के पश्चात् गुरु शिष्य को समयदीक्षा देता है।

बाह्य याग-

यागयोग्य पीठ स्थान जहाँ अन्तःकरण प्रसन्न एवं निर्मल हो जाता है, का चयन करने के पश्चात् सर्वप्रथम मातृका अथवा मालिनी न्यास करणीय है (द्रष्टव्य, वही, पृ० १५८-१७२)।

न्यास के पश्चात् अर्घपात्र का कल्पन करके, उसमें वीर साधकों के परस्पर संयुक्त होने से उनकी षडरमुद्रारूपी प्रतिमा (द्र. तन्त्रा. एवं विवेक, ३. ६५स-६६ब) से सम्बन्धित अमृतरूप कुण्डगोलक नामक द्रव्य से पूरित करने का विधान है। यह द्रव्य शक्ति एवं शक्तिमान् दोनों के सामरस्य से उत्पन्न है एवं संविद् का उद्रेचन करने वाला होने के कारण अर्चना के योग्य है (तन्त्रा., १५. १६६स-६८ब)। इसके अतिरिक्त मद्यादि से, पंचगव्य अथवा शुद्ध जल से भी अर्घपात्र को पूरित किया जाता है। अर्घपात्र में स्थित जल की बूंदों से समस्त यागोपकरणों को प्रोक्षित कर के बाह्ययाग-कर्म प्रारम्भ किया जाता है (तन्त्रा., १५. १८०)।

विधि-

देवता-पूजन- याग-कर्म में सर्वप्रथम त्रिशूल, सूर्य, नन्दी बैल, दिग्देवता, मातृ-देवियों एवं क्षेत्रपाल का प्रभामण्डल में यजन करने का विधान है। प्रभामण्डल से अभिप्राय आयतन, देह अथवा सुलिप्त भूमि से लिया जाता है। योगिनियों के पूजन की विस्तृत विधि में बाह्य परिवार को भी आमन्त्रित किया जाता है। संक्षिप्त दीक्षादि में एकोच्चार से सबको एक साथ आमन्त्रित कर लिया जाता है। आमन्त्रण में प्रणवपूर्वक देवता का चतुर्थ्यन्त नाम एवं 'नमः' यथा "ओं मातृदेवतायै नमः" का प्रयोग किया जाता है (तन्त्रा., १५. १८१-८३ब)।

बाह्य देवताओं की पूजा के पश्चात् द्वार को प्रोक्षित करके द्वारस्थ देवताओं की पूजा की जाती है। इस पूजा की विधि त्रिशिरस् शास्त्र के आधार पर निरूपित है। द्वार के ऊपरी भाग में गणेश व लक्ष्मी की व दाहिने एवं बांए भाग में पुनः उनकी एवं मध्य में वागीश्वरी की पूजा का विधान है। इसी प्रकार अपने दाहिने एवं बांए भाग में दिण्डि एवं महोदययुगल की एवं इसी क्रम से नन्दी, काल एवं त्रिमार्गगा अर्थात् गंगा की एक-एक करके, एवं अपने दक्षिण में एवं द्वार पर स्थित शाखाओं में क्रमशः कालिन्दी अर्थात् यमुना, बकरे एवं भेड़ की एवं देहली के नीचे अनन्तेश एवं आधार शक्तियों की पूजा की जाती है। ऊपर की ओर द्वार के मध्य में सरस्वती के महास्त्र की पूजा की जाती है। ये सभी कमलासन पर स्थित, उदित एवं विघ्ननाशक हैं। इनके पूजन में पूर्ववत् दीपकद्वय (मन्त्रदीपक नमः एवं ओं) से कल्पित मन्त्र का प्रयोग होता है। अर्घपुष्प, समालम्भधूप, नैवेद्य, वन्दनादि के द्वारा पूजा का विधान है। अर्घ का योजन उत्तम द्रव्य के द्वारा किया जाता है (तन्त्रा., १५. १८१-८६; तुलनीय, स्व. त., २. २१-२८)। इसके अतिरिक्त द्वारस्थित समस्त देवताओं का पूजन एकोच्चार से "ओं सर्वद्वारपालेभ्यो नमः" समस्त रूप में भी करने का विधान है। यदि रहस्यपूजा करनी हो, तो बाह्य परिवार एवं द्वारस्थ देवताओं की अन्तर्देवता के समक्ष कल्पनाक्रम से पूजा करनी चाहिये। ज्वलनशील यागवेश्म में विघ्नापसारक अस्त्रमन्त्र के द्वारा जप्त पुष्प को नाराचमुद्रा (अंगुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां स्फोटो नाराचमुद्रिका - प्र०सा० (टी०शा०ति०), ४. ३३,) के द्वारा प्रक्षिप्त कर, याग-वेश्म में प्रवेश करके शिवरश्मि से प्रदीप्त दृष्टि से उस स्थान का दर्शन किया जाता है। अवांछित प्रवेश को रोकने के लिए समस्त दिशाओं को अस्त्रमन्त्र से बांध करके कवचमन्त्र से आच्छादित किया जाता है। तदनन्तर मुमुक्षु उत्तर दिशा को अभिमुख होकर एवं बुभुक्षु दक्षिण दिशा की ओर मुख करके बैठते हैं (तन्त्रा., १५. १९०-९३ एवं मा०वि०त०, ८. १५-१८)। दिशाओं का यह निर्देश अन्तिम नहीं है। दिशाएँ तो विभु परमेश्वर की ज्ञानशक्तिरूप सूर्य के अनुसार विभाजित की गई हैं, साथ ही याग के प्रसंग में यष्टा के अनुरूप भी दिग्विभाजन माना गया है। यष्टा जिस ओर मुख करके स्थित हो, वह पूर्व, उसकी पीठ की तरफ पश्चिम एवं उसके दांए एवं बांए उत्तर एवं दक्षिण दिशाएँ होती हैं (तन्त्रा., १५. २१९स-२२ब)।

इस प्रकार साधक जिस क्षेत्र, मण्डल अथवा याग-वेश्म का आश्रय लेकर स्थित होता है, उसी के अनुसार शंकर मध्यस्थता को ग्रहण करलेते हैं।

देहप्राणादि शोधन-

याग-स्थान पर स्थित होकर साधक देहप्राणादि का शोधन प्रारम्भ करता है। इसके लिए अस्त्रमन्त्र "फट्" के द्वारा कालाग्नि के समान जाज्वल्यमान अंगुष्ठाग्र से आन्तर एवं बाह्य सम्पूर्ण देह का दाह किया जाता है। देह एवं पुर्यष्टक का मन्त्राग्नि द्वारा दाह का अर्थ समूल विध्वंस नहीं है अपितु उनमें केवल अहन्ता का ही विध्वंस होता है, वस्तुतः अहन्ता ही देहत्व है, देहसद्भाव नहीं अन्यथा मृत-देह भी जीवितदेहवत् मानी जाएगी, इसलिए देह में ममत्व का समाप्त हो जाना ही देह-दाह-स्वरूप है। दाह के पश्चात् बची हुई भस्म के समान जो देहसंस्कार शेष है, उन्हें कवचमन्त्र की वायु के द्वारा विकीर्ण करने पर शुद्ध चिदात्मरूप में स्थिति होती है (तन्त्रा., १५. २३३-३७ एवं मा०वि०त०, ८. १६)।

न्यास-

देहप्राणादिशोधन के पश्चात् श्रीपूर्वशास्त्र के आधार पर निरुपित विशेष न्यास के अन्तर्गत नवात्मदेव के मन्त्र के द्वारा तत्त्वोदयात्मक न्यास किया जाता है। अपने स्थानों (देहांगों) में इस मन्त्र के अंग-वक्त्रों को नियोजित किया जाता है। तदनन्तर मातृका के द्वारा संपूर्ण देह में न्यास (द्र०पृ० १६४-५) किया जाता है। मातृका न्यास के ऊपर शिखा, हृदय एवं पैरों में त्रितत्त्व-न्यास करने के पश्चात् शिर से लेकर चरणों तक अघोराष्टक का न्यास एवं तदनन्तर शिव सद्भावन्यास किया जाता है। इस प्रकार इन पाँच न्यासों में से जो मुख्यतया उपास्य हो उसे अंगसहित षष्ठ स्थान में नियोजित करना चाहिये (तन्त्रा., १५. २३९ख-४३ब)। इससे कुछ भिन्नता रखते हुए मा०वि०त० के मतानुसार मातृकान्यास के ऊपर शाक्तन्यास किया जाना चाहिये। इसके अन्तर्गत मूर्ति में परापरा का न्यास करके एवं उसके मुखों में मालिनी - न्यास के पश्चात् शिखा, हृदय व पैरों में परादि देवी -त्रय का न्यास करना चाहिये। तदनन्तर मूर्धा, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्यस्थान, ऊरु एवं पाद में क्रमशः अघोर्याद्यष्टक का न्यास होता है (मा०वि०त०, ८. ३६-३८ब)।

षष्ठ स्थान पर रतिशेखर का न्यास होता है। यदि नवात्मदेव मुख्यतया उपास्य हो तो प्रथम स्थान पर रतिशेखर को नियोजित करके षष्ठ स्थान पर नवात्म-न्यास किया जाता है। इसी प्रकार यदि भैरवसद्भाव मुख्यतया उपास्य हो तो रतिशेखर के स्थान पर उसका न्यास किया जाना चाहिये (तन्त्रा., १५. २४३ख-४५ब)।

अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त के अनुसार सिद्धिमुक्तिदायी यामल न्यास निरुपित है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम मूर्ति अर्थात् अंगवक्त्र सहित नवात्मा के ऊपर अंगवक्त्रसहित पराप रा का न्यास हो, तदनन्तर सृष्टि अर्थात् मातृका के ऊपर मालिनी का न्यास हो, तत्पश्चात् त्रितत्त्व अर्थात् भैरवसद्भाव, रतिशेखर एवं नवात्मा के ऊपर परादिदेवीत्रय का न्यास, तदनन्तर अघोरादि अष्टक के ऊपर अघोर्यादि अष्टक का और इसके पश्चात् मूर्तिभूत नवात्मा के ऊपर विद्या आदि अंगपंचक का न्यास होता है। छठे स्थान पर अंगवक्त्र सहित भैरवसद्भाव एवं मातृसद्भाव नियोज्य है। इस शागव न्यास के ऊपर निम्नलिखित शाक्तन्यास किया जाता है (तन्त्रा., १५. २४७-४८ब)।

शाक्तन्यास में सर्वप्रथम वक्त्रसहित परापरा एवं मालिनी का, तत्पश्चात् क्रमशः शिखा, हृदय एवं पैरों में परा, परापरा एवं अपरा देवियों का, तदनन्तर मूर्धा, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्यस्थान, ऊरु से जानुपर्यन्त व पाद में अघोर्याद्यष्टक का व उसके पश्चात् विद्यादि अंगपंचक के न्यास का विधान है। तदनन्तर मातृसद्भावरूपिणी, योगेश्वरी, परा, पूर्णा, कालसंकर्षिणी, ध्रुवा, देवी का आवाहन किया जाता है। यह देवी परादिदेवीत्रय के मध्य में अभेद रूप में स्थित है। इसके अन्तर्गत गुरु न्यासकाल में साध्य एवं अनुष्ठान के अनुरूप शक्तिद्वादशक (में से कुछ का अथवा सभी) का अंगवक्त्र और परिवारसहित स्मरण करता है (तन्त्रा., १५. २४८स-५५ब)।

यह यामल महान्यास सिद्धि एवं मुक्ति दोनों प्रदान करने वाला है। केवल मोक्ष के इच्छुक के लिए शाक्त न्यास को संहारक्रम से करने का निर्देश दिया गया है। शिव, शक्ति और अणु के जितने भेद एवं मन्त्र निर्दिष्ट हैं उन सभी में षोढ़ा न्यास ही नियोज्य है। जिस मन्त्र से आवाहन किया जाए उसे सदैव षष्ठ स्थान पर नियोजित किया जाना चाहिये (तन्त्रा., १५. २५५स-५८)। इस षोढ़ा महान्यास को करने से सम्पूर्ण विश्व तत्काल देह में तादात्म्य प्राप्त करता हुआ शुद्ध सृष्टि को प्रकाशित करता है।

स्वदेहार्चन-

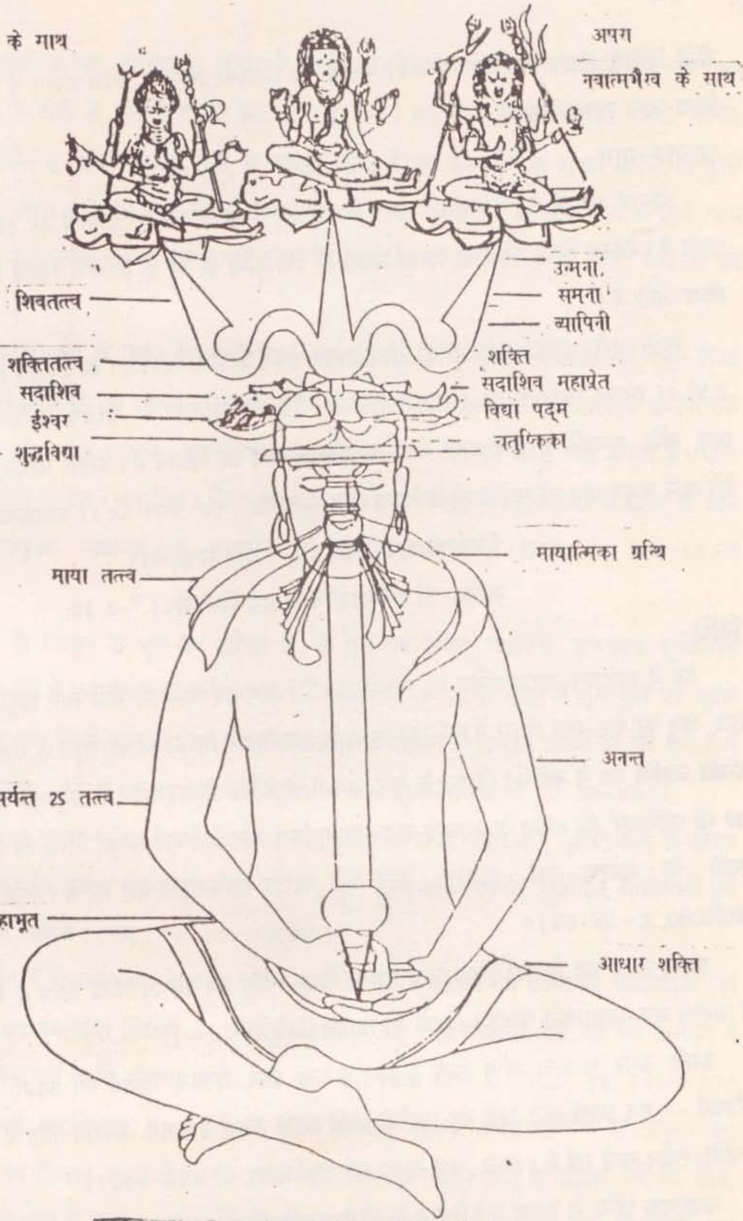
इस प्रकार साधक न्यास के माध्यम से विश्वात्मता को प्राप्त स्वदेह की पुष्पादि से अर्चना करता है। अर्चना व्यस्त एवं समस्त विधियों से की जाती है। विस्तृत विधि में अंग एवं वक्त्रों के भेद से पृथक्-पृथक् मन्त्रों का प्रयोग एवं धूप, नैवेद्यादि का अर्पण होता है। संक्षिप्त विधि में केवल मूलमन्त्र का प्रयोग होता है। देह के साथ ही प्राण, बुद्धि, शून्य, विग्रहादि की भी पूजा की जाती है (तन्त्रा., १५. २७६स-७८ब)। अर्चना के साथ ही शरीर, मन एवं वाणी से मुद्रा-प्रदर्शन (अ. ७वें में वर्णित) का विधान किया गया है (तन्त्रा., १५. २५६अब)।

तर्पण-

इसके पश्चात् समस्त देवताओं के तर्पण के लिए शिवाभेदमग्न अर्घपात्र को आनन्दरस से पूरित किया जाता है। संसार में सुरा, स्त्री आदि जो भी आनन्ददायी पदार्थ हैं, वे आनन्दरूप शिवसंवित् से अभिन्नता प्राप्त कराने के कारण अर्घपात्र में पूरित किए जाने योग्य हैं। अर्घपात्र में स्थित जल बूंदों से स्वयं का एवं पुष्पादि का प्रोक्षण करके परमशिव की पूजा की जाती है (तन्त्रा., १५. २६२-६३ब)।

अर्घपात्र से देवताओं का तर्पण दैशिक वामकर की अनामिका एवं अंगुष्ठ के योग से करता है। श्रीगमशासन के अनुसार समस्त तीर्थों का पुण्य एवं समस्त यज्ञों के फल से करोड़ों गुणा फल अनामिका से तर्पण करने से प्राप्त होता है (तन्त्रा., १५. २७८-८१)।

बाह्ययाग से सिद्धि की प्राप्ति होती है। बाह्य याग को करने के लिए यष्टा का आत्मसंस्कार भी आवश्यक है, जिसके बिना वह पशुतुल्य है। यह संस्कार अन्तर्याग के द्वारा किया जाता है। जो साधक सीधे योगमार्ग पर आधारित आन्तरयाग को करने में असमर्थ होते हैं उनके लिए बहिर्याग एक सोपान है। वस्तुतः ये दोनों दो अलग-अलग नहीं हैं अपितु बाह्य-याग विधि ही समय आने पर आन्तर विधि में परिणत हो जाती है, अथवा



सप्तत्रिंशत्तात्त्वात्मक आसन

तंत्रा., 15.297-314 एवं मा० वि० तं०, 8.55-69

दोनों विधियाँ समानान्तर रूप से चलती रहती हैं। इसलिए निरूपण अथवा प्रयोग में कहीं भी इन्हें अलग-अलग किया जाना सम्भव नहीं है।

आन्तर-याग-

आन्तर याग में देह के भीतर शक्ति के केन्द्र-स्थलों में विभिन्न शक्तियों का आवाहन एवं उद्बोधन किया जाता है। देहरूप पिण्ड ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब है, इस दृष्टि से देह के विभिन्न स्थानों में छत्तीस तत्त्वों का न्यास किया जाता है।

सूक्ष्म-शरीर अथवा पुर्यष्टक को शिवावेशमय करने के लिए अन्तर्याग का विधान किया गया है (स्व०त०उ०, २.५५)। इससे अर्चयिता का संस्कार होता है। देह को न्यासादि के माध्यम से शिवावेशमय करने के पश्चात् प्राण, बुद्धि, शून्यादि के शिवैकात्म्य के लिए आन्तर-याग का विधान है। इसके पश्चात् ही साधक सिद्धियों को देने वाले बाह्य याग को पूर्ण करने के योग्य होता है (तन्त्रा., १५. ३६७-६८)। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार--

"अकृत्वा मानसं यागं योऽन्यं यागं समारभेत्।
अशिवः स तु विज्ञेयो न मोक्षाय विधीयते।।" -३.३२.

विधि-

देह में सर्वप्रथम आधारशक्ति का न्यास होता है, तदनन्तर नाभि से नीचे चार अंगुल में क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु का एक-एक अंगुल में एवं आकाश सर्वत्र व्याप्त होने के कारण चतुरंगुल से व्यापकतया न्यस्त होता है। इनकी व्याप्ति देह में कल्पित त्रिशूल के मूल भाग में होती है। आधारशक्ति में अनुस्यूत ये पृथ्वी आदि तत्त्व होने पर भी परमेश्वर की शक्ति के स्वभाव के कारण पूर्णतया मलरहित एवं सम्पूर्ण विश्व को धारण करने की सामर्थ्य रखने के कारण एवं सारभूत होने के कारण आमलसार कहे गए हैं (तन्त्रा., १५. २६७स-६६ एवं मा०वि०त०, ८- ५५-६ब)।

इसके ऊपर रुद्र से अधिष्ठित अनन्तनामक त्रिशूल दण्ड का कल्पन किया जाता है जिसमें गन्धादि तन्मात्रों से प्रारम्भ कर कलापर्यन्त पच्चीस तत्त्वों की व्याप्ति होती है।

इसके ऊपर मायामय ग्रन्थि होती है जिसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य एवं अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य -- इन आठों बुद्धि धर्मों का आग्नेयी आदि-आदि कोणों में क्रमशः कल्पन होता है। माया ही इन सबका उत्पत्ति-स्थान मानी गई है (तन्त्रा., १५. ३०० एवं मा०वि०त०, ८. ५६स-५७ब)।

मायात्मक ग्रन्थि से ऊपर एवं त्रिशूल के नीचे शुद्धविद्यात्मक चतुष्किका, जो आच्छादनद्वय से संयुक्त है, के ध्यान का विधान है। चतुष्किका में नीचे मायारूप स्वरूपाच्छादक आवरण एवं ऊपर माया को आवृत्त करने वाला विद्या-रूप आवरण होता है। चतुष्किका के साथ ही विद्यापद्म का भी चिन्तन लम्बिका एवं ब्रह्म-रन्ध्र के मध्य में किया जाता है। यह ईश्वर तत्त्व से सम्बन्धित होता है।

विद्यापद्म में विभ्वादि नवशक्तियों एवं वामादि नवशक्तियों का न्यास किया जाता है। वामा, ज्येष्ठा, रौद्री,

काली, कलविकरिका, बलविकरिका, बलमथनी, भूतदमनी, मनोन्मनी, देवियाँ दक्षिणावर्त (दक्षिण की ओर मुख किए हुए) एवं शान्तरूप में होती हैं, इनकी कान्ति इन्द्रधनुष के समान होती है। इनके विपरीत विभ्वी, ज्ञप्ति, कृति, इच्छा, वागीशी, ज्वालिनी, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, ये वामावर्त होती हैं एवं कालाग्नि के समान कान्ति से युक्त होती हैं। इन देवियों का न्यास पद्म के दलों में पूर्व किया जाता है। दल के केसर के मध्य भाग से सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि क्रमशः अपने अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के साथ न्यस्त होते हैं (तन्त्रा., १५. ३०४-७ एवं मा०वि०त०, ८. ६२-६८)।

इस प्रकार रुद्राधिष्ठित दण्ड के ऊपर ईश्वराधिष्ठित पद्म का एवं उसके ऊपर सदाशिव का न्यास किया जाता है। शक्तिपर्यन्त पैंतीस तत्त्वों को व्याप्त करने के कारण एवं प्रकर्षपूर्वक बोध एवं ऊर्ध्वगमन के कारण इसे (सदाशिव तत्त्व को) महाप्रेत कहा गया है। इसमें लीन साधक पुनः निम्न पद को प्राप्त नहीं करता है। परम प्रकाश की ओर उन्मुख होने से यह (सदाशिव) नित्य ऊर्ध्वदृक् एवं प्रकाशैकरूप, मेय संस्कारों के क्षीण हो जाने से कृश एवं अट्टहासपूर्वक नादामर्श के कारण प्रेत के समान माने गए हैं (तन्त्रा., १५. ३०६-१२ एवं मा०वि०त०, ८. ६८)।

सदाशिव की नाभि से त्रिशूल के शृंग-त्रय उत्थित हैं। ये शृंग-त्रय शक्ति, व्यापिनी, समनारूप शून्यात्मक रन्ध्रत्रय में से होकर निकलते हैं एवं द्वादशान्त-पर्यन्त व्याप्त हैं। यहीं पर उन्मना के स्थान में शृंग-मुख पर शुक्ल वर्णात्मक पद्म-त्रय का स्मरण किया जाता है। इन सप्तत्रिंशतत्त्वात्मक आसन से समस्त तत्त्वों की पर प्रमाता में विश्रान्ति हो जाती है। (तन्त्रा., १५. ३१३-१४ एवं मा०वि०त०, ८. ६६; तुलनीय स्व. त., २. ५५-८२)।
इस याग में परम तत्त्वात्मक आत्मा पूजक है एवं परापर तत्त्व पूज्य तथा ऊपर तत्त्वजाल सृजित होने के कारण आसनभूत होता है। आसन की अर्चना करके गुरुपंक्ति-गणपति, गुरु, परमाख्य, परमेष्ठी, पूर्वसिद्ध, वागीश्वरी एवं क्षेत्रपति की पूजा की जानी चाहिये (तन्त्रा., १५. ३१८-३२०सद)।

शृंगत्रय में से मध्यशृंग में भैरवसद्भाव के साथ पूर्ण चन्द्रमा के समान शीतल एवं कान्तमती परादेवीका एवं दक्षिण में रतिशेखर के साथ रक्तवर्णा किंचिद् उग्र, किन्तु भयंकर न हो, ऐसी परापरा देवी का एवं वामशृंग में नवात्मा के साथ कृष्णपिंगल वर्ण वाली भीषणा अपरा देवी का न्यास किया जाता है (तन्त्रा., १५. ३२३स-३२५ और १६. १२स-१५ब एवं मा०वि०त०, ८. ७२-३)। इसके पश्चात् साधक अपने संकल्प के अनुरूप इन परादि-देवियों के स्वरूप का चिन्तन करता है। उनके द्वारा सिद्ध किए जाने वाले कार्य के आधार पर दो, चार, छः भुजाओं की, जिनमें से बाएँ में कपाल एवं दाहिने में शूल अथवा किन्हीं में भी खट्वांग, वर, अभयमुद्रा, घट आदि ग्रहण किए हुए हों, की कल्पना करनी चाहिये। अनेक रूपों वाली ये देवियाँ बोधात्मिका होती हैं, ये अनवच्छिन्न चिन्मात्रसार-रूप होने के कारण अपवर्गदायिनी होती हैं। इन देवियों के पूजन के साथ ही अंग-वक्त्रादि एवं लोकपालास्त्रादि भी पूजित हो जाते हैं क्योंकि ये अग्नि से विस्फुलिंग की भाँति बोधराशिरूप देवता से निःसृत हैं (तन्त्रा., १५. ३२६स-३१ब)।

प्राणदण्डप्रयोग-

इस प्रकार प्राण की तिर्यगति को रोक कर दण्डरूप में समीकृत करने वाले प्राणदण्डप्रयोग के द्वारा प्राण-अपान के समीकरणपूर्वक उसे मध्य धाम में प्रवेश कराते हुए ब्रह्मरन्ध्र के नीचे चतुष्किकारूप चिन्तामणि नामक आधार पर स्थित, भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमल के आधार का आलम्बन करने वाली लम्बिका का भेदन करते हुए योगी सुधा के आश्रय-स्थल ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्ति प्राप्त करता है। इसके पश्चात् नाडीत्रय की संघट्टात्मक त्रिशूल भूमि का अतिक्रमण करते हुए योगी इच्छा - ज्ञान व क्रियाशक्तियों के समन्वयरूप, जिसे विसर्ग भी कहा गया है, भैरवीयस्वरूप को प्राप्त करता है (तन्त्रा., ५. ५४स-५६ब)। त्रिशूलशृंग पर स्थित परा, परापरा एवं अपरा देवियाँ मातृसद्भावरूपिणी एवं क्रमशः सृष्टि, स्थिति, तिरोधान करने वाली हैं। परमपद में उनकी विश्रान्ति तुर्यस्थानीय है (तन्त्रा., ३३. ३०-३१)। मध्यगामी परादेवी सद्भावरूपिणी है। सिद्धातन्त्र में वे कालसंकर्षिणी, घोरा, शान्ता, मिश्रा एवं एकार्णा रूप में निरूपित हैं। इसके अतिरिक्त परा देवी को मातृकामालिनीरूपिणी भी बताया गया है। इसी से सम्पूर्ण मन्त्रात्मक विश्व निर्गलित है। इस मध्यगामिनी देवी की पूजा के साथ ही उत्तर-दक्षिण में स्थित देवियाँ भी स्वतः पूजित हो जाती हैं (तन्त्रा., १५. ३३१स-३५ब)। श्रीदेव्यायामल शास्त्र में भी डामरयाग के प्रसंग में परादेवी कालसंकर्षिणीरूप में निरूपित है। यह मुख में स्थित होकर कालसंकर्षिणीरूप में श्वास-निःश्वास के संकलन के द्वारा हृदय में एवं नासाग्र-स्थित प्राण, अपान व उदान लक्षणात्मक काल को कर्षित करती है अर्थात् प्राणवायु को इस रूप में संचरित करती है। यह रेचक के द्वारा संहार करती है, पूरक के द्वारा प्रवेश देती है, कुम्भक के द्वारा धारण करती है एवं ऊर्ध्व रेचक के द्वारा, कारणपदों के उल्लंघन क्रम से उठती हुई, सम्पूर्ण काल का क्षण भर में ही अनवच्छिन्न रूप प्राप्त करने के क्रम से संहार करती है अर्थात् यह परा शक्ति जो इच्छा, ज्ञान, क्रियादि शक्तियों की जननी है, यह सम्पूर्ण प्राणदिपंचकरूप कालाधार को अन्तर्बाह्य रूप में उल्लसित करती है, अतः कालसंकर्षिणी नाम से यजन किए जाने योग्य है (तन्त्रा. एवं विवेक, १५. ३३५स-३८)।

इस प्रकार अन्तर्याग में निर्दिष्ट यजनक्रम में प्राणचारामर्श से संगति रखते हुए, कुण्डलिनी-जागरण की क्रियाएँ कर्मकाण्डीय स्वरूप में प्रस्तुत हैं। बाह्य-याग की पूर्णाहुति आदि क्रियाएँ भी इन क्रियाओं के साथ संगति रखते हुए की जाती हैं।

अभिनवगुप्त के गुरु के अनुसार बाह्य याग के अन्तर्गत कमलत्रय में लोकपाल से अस्त्रपर्यन्त परिवार-समूह की पूजा की जानी चाहिये।यह पूजन आग्नेयी, ईशान, उत्तर, वायव्य एवं दक्षिण दिशाओं में क्रमशः विद्याङ्गपञ्चक का तथा पुनः यहीं पर शक्त्यङ्गों एवं शिवाङ्गों का सर्वप्रथम दक्षिण से प्रारम्भ करते हुए चारों दिशाओं में, अस्त्र-न्यासपूर्वक होता है। कमल के मध्य में लोचनसंज्ञक का एवं आठ दलों में अघोराष्टक का अपने यागलरूप में न्यास होता है। इसी प्रकार बारह, छः एवं चार देवता भी यामलरूप में द्विगुण होकर अर्थात् क्रमशः चौबीस, बारह व आठ संख्या में पूजनीय होते हैं। तदनन्तर दसों दिशाओं में अस्त्रसहित लोकपालों की पूजा की जाती है।

इस प्रकार साधक त्रिशूलपर्यन्त देवियों से तादात्म्य स्थापित करते हुए, विश्व का अर्पण करते हुए देवतागणों का तर्पण करता है। तदनन्तर प्रत्येक मन्त्र का दस बार जप करता है (तन्त्रा., १५. ३५२स-५८ब एवं मा. वि. त., ८. ७५-७८)।

इस प्रकार मूलाधार से प्रारम्भ होकर द्वादशान्तपर्यन्त स्थित त्रिशूल जिसके अग्रभाग पर देवीचक्र स्थित है, का ध्यान करते हुए योगी परमबोधात्मक आकाश में विचरण करता है। त्रिशूल में द्वादशान्त में परा की तदनन्तर ब्रह्मरन्ध्र से अष्टांगुल-पर्यन्त परापरा की एवं चतुरंगुल-पर्यन्त अपरा की व्याप्ति होती है। द्वादशान्त में चार-चार अंगुल की व्याप्ति से स्थित शक्ति, व्यापिनी, समना के कारण यह खेचरी मुद्रा है। इस त्रिशूलत्रय के व्याप्तिज्ञान के बिना खेचरी मुद्राबन्ध का फललाभ नहीं होता है (तन्त्रा., १५. ३६१-६३ एवं मा. वि. त., ८. ८१-३)।

आन्तरयाग-कर्म-

अन्तर्याग के माध्यम से प्राण बुद्धि व शून्य की शिवरूपतापत्ति के पश्चात् साधक बाह्ययाग-क्रम के अन्तर्गत अस्त्रमन्त्र से सात बार मन्त्रित करके विघ्ननाशी तिल, लाजा, यवादि धान्यों को दिशाओं में फेंक कर, उनका ज्वलनशील अग्नि के समान स्मरण करता है। उससे याग गृह को विघ्नरहित करते हुए उन धान्यकणों को इकट्ठा करके ईशान दिशा में रखा जाता है। त्रिशिरोभैरव के अनुसार यहीं पर निरीक्षण, प्रोक्षण, ताड़न, आप्यायन, विगुण्ठनादि संस्कार किए जाने चाहिये। मुख के द्वारा पञ्चगव्य-गोमूत्र, गोमय, दधि, दुग्ध, घी - को मन्त्रित करके, जिनका अन्तिम भाग ऊपर है, ऐसे षडंग कुशों से जल का एवं भूमि का पञ्चगव्य से प्रोक्षण करे एवं शेष पञ्चगव्य को शिष्य के लिए रख देना चाहिये। पञ्चगव्य, जलादि बाह्य अशुद्धि को दूर करते हैं एवं मन्त्रादि आन्तरिक अशुद्धि को। पुष्पों से अंजलि को पूरित करके, फकारादि मालिनी का उच्चारण करते हुए, शक्तिपर्यन्त अध्वा का ध्यान करते हुए, नकारोच्चारणपूर्वक अंजलि-क्षेप करना चाहिये। गन्ध, धूपादि देकर गणेशादि की पूजा करनी चाहिये। यागस्थान के मध्य में उसे षडुत्थ आसन (मा०वि०त०, ८. ६३) देना चाहिये। यह कमलरूप होता है जिसकी नाल में अनन्त का, पत्रों में धर्मादि का एवं कर्णिका में शुद्ध विद्या का न्यास होता है। विघ्नों की शान्ति के लिए "ग्लूँ" इस मन्त्र के द्वारा पूजन करके, गजमुख, वामनाकृति मुदितत्रिनेत्र गणेश का ध्यान करके विसर्जन करना चाहिये (तन्त्रा., १५. ३६८-७७ एवं मा. वि. त., ८. ८४स-६३)।

मा. वि. त. के अनुसार सिद्धि के इच्छुक को गणेशपूजन के पश्चात् दिशाओं में अस्त्रसहित मात्रष्टक के द्वारा आवृत्त महास्त्र की पूजा करनी चाहिये (८. ६४-१००)।

तान्त्रिक विधि-विधान में गणेश-पूजन वैदिक परम्परा से गृहीत है। यद्यपि ऋग्वेद में गणपति अपने मध्यकालीन विलक्षणरूप (हस्तिमुख, लम्बोदर) में देवता के रूप में प्रतिष्ठत नहीं हैं, तथापि गणेश के आवाहन के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला मन्त्र - "गणानां त्वा गणपति ऊँ हवामहे" ऋग्वेद (१०. ११२. ६) से ही लिया गया है। बोधायनधर्मसूत्र (२. ५. ८३-६०) में देवतर्पण के प्रसंग में विघ्नविनायक, वीर, स्थूल वरद, हस्तिमुख, वक्रतुण्ड, एकदन्त एवं लम्बोदर का उल्लेख पाया जाता है। गोभिलस्मृति (१. १३) के अनुसार सभी कृत्यों के आरम्भ में

गणाधीश के साथ मातृका की पूजा होनी चाहिये।

तदनन्तर स्वर्णादिनिर्मित, स्वच्छ कुम्भ को समस्त मन्त्रात्मक औषधियों को धारण करने वाले गन्धद्रव से पूरित करके, मुख पर आम्रपत्रों को स्थापित करते हुए कण्ठ में स्रक्सूत्र एवं रक्षाकारी तिलकपूर्वक, श्वेतवस्त्रयुगल से आवृत्त करके, मूलमन्त्र से पूजित एवं एक सौ आठ बार जपयुक्त करना चाहिये। इसी प्रकार वार्धानी को अस्त्र मन्त्र से पूजित करके स्थापित करना चाहिये। वामस्थकलशसहित ईशान दिशा में स्थित कुम्भ का यजन करना चाहिये। तदनन्तर पूर्व दिशा का आश्रय लेकर अस्त्रसहित लोकेश्वरों का गन्ध, पुष्प, उपहारादि के द्वारा मन्त्र - सहित विधिपूर्वक यजन किया जाता है। शिष्य के हाथ में कलश देकर उससे अविरल धारा गिराते हुए, उसे दिशाओं में घुमाते समय कुम्भ हाथ में लिए गुरु उसका अनुसरण करते हुए, लोकपालों से यह निवेदन करता है-

"भोः भोः शक्र त्वया स्वस्यां दिशि विघ्न प्रशान्तये।
सावधानेन कर्मान्तं भवितव्यं शिवाज्ञया।"

नैर्ऋत दिशा से प्रारम्भ करके यह पाठ छन्दपूर्वक किया जाना चाहिये, अन्यथा यह मन्त्रस्वरूप नहीं होता है। तत्पश्चात् ईशान दिशा में कुम्भ को रखकर, अस्त्रवार्धानी की भी पूजा करके उसके दक्षिण में रखना चाहिये। कुम्भस्थ जल में मन्त्र का तेजरूप में ध्यान करने से वह सम्पूर्ण विधि को आप्यायित करने वाला होता है। अतः गुरु कुम्भ में समस्त मन्त्रगणों की पूजा करके, विघ्ननाशी अस्त्रमन्त्र का कर्करी में योजन करता है एवं यागगृह के मध्य में गन्धमण्डल में त्रिक, यामल अथवा दोनों विधियों से मन्त्रदेवता की पूजा करता है (तन्त्रा., १५. ३७८-८७ एवं मा. वि. त., ८. १०१-१०६)।

वहि्नकार्य-

इसके पश्चात् वहि्नकार्य के अन्तर्गत कुण्डकल्पन एवं कुण्डसंस्कार, अग्नि-संस्कार, स्रुक्स्रुव संस्कार, तर्पण, होम एवं पूर्णाहुति आदि क्रियाएँ की जाती हैं। शुद्धमन्त्रादि के संजल्प एवं संकल्प से अपूर्व कुण्ड का कल्पन किया जाता है। शिव की क्रियाशक्ति की ही कुण्डरूप में भावना करने से बढ़कर उसका कोई संस्कार नहीं है। कुण्ड की पूजा करके उसमें संकल्परूपिणी मातृका अथवा मालिनी का न्यास किया जाता है। इसके लिए "ओं" ह्रीं भगवति मालिनि इदमस्थानमधितिष्ठ नमः" अथवा "ओं भगवन् शब्दराशे इदं स्थानमधितिष्ठ नमः" यह मन्त्र प्रयोग किया जाता है। संकल्पदेवी वागीश्वरी का जो क्रियात्मक, त्र्यस्त्र सृष्टिधाम है, उस विद्यायोनिरूप स्थान को तीन बार प्रक्षुभित करके उसमें ज्ञान शुक्रकणरूप आहुति देने से अग्नि के गर्भाधान से लेकर नामकरण पर्यन्त संस्कार पूर्ण हो जाते हैं। इसके पश्चात् समस्त अध्वाओं की अधिष्ठात्री, चक्रगर्भा परापरा का स्मरण करते हुए पूर्णाहुतिपूर्वक अग्नि-संस्कार को पूर्ण किया जाता है। बाहय संस्कारों के द्वारा ग्रहण करके हृदय में कुम्भित करते हुए तत्रस्थ चिदग्नि से समरस कराते हुए, दक्षिण मार्ग द्वारा संस्कृत अग्नि को उद्रिक्त किया जाता है। अन्य शास्त्रों के अनुसार शिवाग्नि से ओंपूर्वक नवात्ममन्त्र की स्वाहान्त वाली नौ आहुतियाँ देनी चाहिये,

तदनन्तर उसमें आधार एवं आधेय देवीचक्र का योजन करना चाहिये। इस संस्कृत वह्नि में शिवसंकल्प के द्वारा शिवत्व प्राप्ति कराई जाती है। तदनन्तर शब्दराशि और मालिनी एवं पितरों का पूजन करके विसर्जन किया जाता है एवं शुद्ध अग्नि का एक भाग चरु के लिए अलग से रख लिया जाता है। अग्नि में हवन करने के लिए प्रयोग में आने वाले स्रुवा एवं स्रुक् का शिव-शक्तिरूप में अनुसन्धान ही इनका संस्कार है।

तर्पण -

इसके पश्चात् गुरु मध्यमा एवं अनामिका को अंगुष्ठ से संयुक्त करते हुए मृगी मुद्रा के द्वारा मूलमन्त्र का आज्ययुक्त स्रुवा के द्वारा सौ बार तर्पण करता है। मन्त्र के अङ्गवक्त्रादि का इसके छठे भाग और शेष का दसवें भाग में तर्पण करें अथवा धन होने पर हजार बार भी हवन करना चाहिये।

पूर्णाहुति-प्रयोग-

होम के पश्चात् पूर्णाहुति के लिए गुरु शिवशक्त्यात्मक स्रुक् एवं स्रुव को ऊपर-नीचे की ओर इस प्रकार अन्योन्मुख करके, आज्यामृत से पूरित करके, देह, प्राण एवं बुद्धि में पराद्व्यानुसन्धानपूर्वक स्रुक् के समान उत्तान वामहस्त को एवं स्रुवा के दण्डमूल को पकड़ने वाले दक्षिण हस्त को, जो स्रुवा के समान अधोमुख है, वेदिकाकार अग्रपीठ तक ले जाकर, उसके प्रान्त भाग से संश्लिष्ट करते हुए, दोनों हाथों से उन्हें यत्नपूर्वक पकड़े, इसके साथ ही अवधानपूर्वक प्राणवायु को हृदय से प्रारम्भ करके, ऊपर की ओर विभिन्न पदों का उल्लंघन कराते हुए, आज्यधारा के गिरने का ध्यान रखते हुए स्रुवा को धीरे-धीरे नीचे की ओर करते हैं, जब तक कि द्वादशान्त में स्थित विश्व को दग्ध करने वाली बोधरूप अग्नि में चेतनारूप स्रुवा, जो पराकाष्ठा को प्राप्त करके चक्राकार में परम आह्लादक हो जाती हैं, से उत्तम अमृत स्रवित हो, जो बोधाग्नि को बलीभूत करे। इस प्रकार समस्त मन्त्रों के एकत्व के अनुसन्धानपूर्वक बाह्य अग्नि के मुख में वौषडन्तपूर्वक पूर्णाहुति दी जाती है। ऊर्ध्वस्थित संबोध ही कुण्ड में प्रतिबिम्बित अग्निस्वरूप है, प्राण स्रुक्स्रुवस्थानीय है, संकल्परूप चिद्रस आज्य है, इस प्रकार का अनुसन्धान करके द्वादशान्त की बोधाग्नि एवं बाह्य स्थित अग्नि में एक साथ पूर्णाहुति-क्षेप किया जाता है। इस आन्तर एवं बाह्य याग में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव उसी प्रकार है जिस प्रकार गगन में ऊपर उड़ते हुए राजहंस का प्रतिबिम्ब जल में नीचे-नीचे पड़ता है (तन्त्रा., १५. ३८८स-४३१ एवं मा.वि.त., ८. ११२-११६)।

चरु-सिद्धि-

इसके पश्चात् अथवा होम के समय ही चरुसंसिद्धि के लिए पहले से अलग करके रखी हुई मन्त्र-संस्कृत अग्नि के द्वारा शिष्य चरु-सिद्धि करता है। गुरु चरु को लेकर आज्य से पूरित स्रुक् व स्रुवा को भुक्ति अथवा मुक्ति जो भी लक्ष्य हो, उसके अनुसार अधोमुख अथवा ऊर्ध्वमुख करके, देवताओं और शक्तियों के तीन-तीन यन्त्रों (तात्पर्य अस्पष्ट) को एवं सातवें मातृसद्भाव मन्त्र को एक-एक करके पढ़ते हुए "स्वा" इस अमृत वर्ण के द्वारा अग्नि में हवन करके, शिष्ट आज्य का चरु "हा" इस अग्नि वर्ण के द्वारा पुनः-पुनः हवन करे। इस प्रकार अग्नि में सोमात्मक "स्वा" वर्ण एवं सोमात्मक चरु में "हा" इस अग्निवर्ण के न्यास से दोनों अग्नीषोमात्मक हो जाते हैं। भोज्य चरु एवं भोजक अग्नि के इस एकानुसन्धान से एवं मन्त्रसहित स्वाहा इस प्रत्यवमर्श से अद्वयता की सिद्धि

होती है (तन्त्रा., १५. ४३२-४२ब)।

इस बाह्य एवं आन्तरयाग के पश्चात् गुरु शिष्य को समयदीक्षा देना प्रारम्भ करता है।

तान्त्रिक कर्मकाण्ड के अन्तर्गत किए जाने वाले ये आन्तर एवं बहिर्याग श्रौत एवं स्मार्त यागों से अत्यधिक भिन्नता रखते हैं। श्रौत यागों में यज्ञ करने वाला अर्थात् यष्टा एवं फल पाने वाला अर्थात् यजमान भिन्न - भिन्न होते हैं। यज्ञ-कार्य में ऋत्विज होता, अध्वर्यु, उद्गाता आदि अनेक पुरोहितों का योगदान रहता है। यजमान इन पुरोहितों के निर्देशों का पालन करता है। यज्ञ में बाह्यकृत्यों की प्रधानता होती है। दार्शनिक सिद्धान्त अथवा आन्तरिक प्राणचारामर्श और योगप्रक्रिया याग के अनिवार्य अंग नहीं हैं। तान्त्रिक यज्ञों में ज्ञानभावना की प्रधानता होने के कारण बाह्य कृत्यों का विस्तार उपलब्ध नहीं होता है जबकि श्रौत-यागों में यज्ञ में काम आने वाले उपकरण, स्थान, देवता, पुरोहित, समय, मन्त्रोच्चार आदि से सम्बन्धित विविध निर्देशों की बहुलता है। श्रौत यज्ञ में काम आने वाले उपकरण - स्फय, कपाल, अग्निहोत्रहवणी, सूर्प, कृष्णाजिन, शम्या, उलूखल, मूसल, दृषद्, उपला, स्रुवा, प्राशित्रहरण आदि होते हैं। इनके निर्माण में खादिर, अश्वत्थ, वारण आदि वृक्षों की लकड़ियों का प्रयोग किया जाता है।

कुछ यज्ञ सोलह ऋत्विजों द्वारा किए जाते हैं। ये होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत, नेष्टा, उन्नेता, ब्राह्मनाच्छंशी, आग्नीध्, पोता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते हैं।

यज्ञ में विशिष्ट देवताओं के लिए विशिष्ट हविद्रव्य का विधान है, यथा वरुण के लिए जौ का पुरोडाश, सोम के लिए चरु आदि, किन्तु इनके अभाव में सामान्य द्रव्य का प्रयोग किया जा सकता है।

यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों के विभिन्न प्रकार बताए गए हैं शस्त्र - जिन मन्त्रों से किसी देवता की स्तुति की जाए, सामिधेनी-यज्ञ से अग्नि उत्पादन के समय पढ़ी जाने वाली ऋचाएँ। इन मन्त्रों का तूष्णींशंस (चुपचाप) अथवा उपांशु (मन ही मन) जप किया जाता है। प्रायः यज्ञ किसी कामनाविशेष - पुत्रप्राप्ति, राज्य अथवा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। नित्य कर्म के अन्तर्गत किए जाने वाले पञ्च महायज्ञ निष्काम होते हैं।

सामुदायिक याग-

सामुदायिक याग समय दीक्षा के पश्चात् दी जाने वाली पुत्रक, साधक, आचार्य आदि दीक्षाविधि के अन्तर्गत करणीय हैं। इस याग के अन्तर्गत गुरु त्रित्रिशूलाब्जमण्डल में परादि-देवी त्रय का भैरवसहित पूजन करता है एवं मन्त्रनाडीप्रयोगपूर्वक पशु निर्वापण करने के पश्चात् दीक्षाकर्म प्रारम्भ करता है।

सामुदायिक याग चक्र से सम्बन्धित होता है। श्रीपूर्वशास्त्र में छः, आठ, बारह, सोलह एवं चौबीस ये चक्रपंचक, श्रीमत्त्रैशिरस् में बत्तीस एवं चौंसठ एवं सिद्धातन्त्र में असंख्य चक्र निरूपित हैं (तन्त्रा., १६. ३-४)। इनमें से जिस चक्र से भी याग सम्बन्धित हो, उसकी पूजा करके त्रिशूलत्रय (त्रित्रिशूलाब्जमण्डल) का लेखन करना चाहिये।

मण्डल-निर्माण एवं पूजन-

इस याग के अन्तर्गत त्रित्रिशूलाब्जमण्डल का निर्माण करके सर्वप्रथम उसे गन्धवस्त्र से पोंछा जाता है। इसके पश्चात् गुरु स्नान करके मण्डल के सामने बाह्य देवता एवं द्वारदेश में द्वार-देवताओं का पूजन करता है। मण्डल के अग्रभाग में ईशान से आग्नेयी-पर्यन्त क्रमशः गणपति, गुरु, परमाख्य, परमेष्ठी, पूर्वसिद्ध, वागीश्वरी एवं क्षेत्रपति की पूजा की जाती है। पुष्पधूपादि से पूजित उनसे आज्ञा लेकर आधारशक्ति से प्रारम्भ करके शूलमूल तक शिव की, श्वेत कमल के अन्त में एवं तीन त्रिशूलों में परादिदेवियों की पूजा की जानी चाहिये। त्रित्रिशूलाब्जमण्डल के तीनों त्रिशूलों में देवीत्रय की भैरवसहित स्थापना की जाती है। मण्डल के मध्य त्रिशूल के मध्य शूल में परादेवी की भैरवसद्भाव के साथ, वाम त्रिशूल के मध्यशूल में अपरा की नवात्मभैरव के साथ एवं दक्षिण त्रिशूल के मध्य में परापरा की रतिशेखर के साथ स्थापना की जाती है। त्रिशूल के अन्य शृंगों में क्रमशः परा, परापरा, अपरा एवं परा देवियों की स्थिति होती है। इस प्रकार इस सप्तार त्रित्रिशूलाब्जमण्डल में परा देवी का ही प्राधान्य है। परादेवी के मण्डल में सर्वत्र अधिष्ठित होने मात्र से ही योग भली - भाँति सम्पूर्ण हो जाता है एवं परात्रीशिका के अनुसार विधान को न जानने वाला भी विधिज्ञ हो जाता है। इसके पश्चात् मध्य दक्षिण एवं वाम शृंगों में सर्वत्र अस्त्रपर्यन्त लोकपालों की एकात्मभाव से पूजा करनी चाहिये। समस्त देवताओं में से श्रीमान् मातृसद्भाव भट्टारक की पर-भाव से पूजा करनी चाहिये। भोगयाग के द्वारा भैरवाष्टक यामलरूप देवता एवं चक्र-देवियों की अपने - अपने स्थान पर पूजा करनी चाहिये। बाहर अस्त्रसहित लोकपालों की गन्ध, पुष्प, आसवादि के द्वारा भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये एवं कुम्भ, अस्त्र, कलश, मण्डलस्थ एवं अग्नि इन पाँचों में अद्वयभावनापूर्वक शिवत्व का ध्यान करना चाहिये। सामान्य साधकजन, जो अद्वय भावना को इस विधि से प्राप्त नहीं कर सकते, उनके लिए क्रियात्मक विधिरूप मन्त्रनाडीप्रयोग का विधान किया गया है (तन्त्रा., १६. ५-२३ब)।

मन्त्रनाडी-प्रयोग-

गुरु अपने दक्षिण मार्ग (नासाग्र) से निकल कर मण्डलस्थित (शिष्य) अथवा देवता के बांएं मार्ग से प्रवेश करके पुनः अन्य अर्थात् दाहिने से निकल कर कुम्भ, कर्करी व वह्नि में स्थिति के द्वारा क्रमशः अपनी-अपनी बांईं ओर स्थित होते हुए मूलमन्त्र के अनुसन्धानपूर्वक प्राणतन्तु का उत्तम्भन करता है जिससे स्वयं एवं मण्डलादि से प्राणसम्मिलन होकर ऐक्यस्फुरण होता है (तन्त्रा., १६. २३स-२५)। स्वच्छन्दतन्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार गुरु मूलमन्त्र का स्मरण करते हुए हृदय, कण्ठ, तालु व भ्रूमध्य स्थानों का भेदन करता है। करणक्रम से भ्रूमध्य में चित्त एकाग्र करके दाहिने नासाग्र से निकल कर, युक्तिपूर्वक प्राप्त मध्यप्राण के तीक्ष्ण सूच्यग्र से बिन्दुग्रन्थि का भेदन करके नादादिग्रन्थियों का भी भेदन करता है एवं मन्त्र को द्वादशान्त तक ले जाने पर वह मन्त्रविग्रह साधक के अधीन हो जाता है। पुनः विलोम न्याय से उसे द्वादशान्त से हृदय में प्रवेश करवाना नाडीसन्धान होता है। हृदय में प्रवेश करके मन्त्रमूर्ति में अधिष्ठित व्यापक शिव का ध्यान करना चाहिये (स्व.त. ३. ४८स-५३)।

यागयोग्य पशु - प्रकार -

इसके पश्चात् अद्वयभावनायुक्त विशेष पूजा के अन्तर्गत पशुनिवेदन (आलम्भन) किया जाता है। यागयोग्य पशु के आठ प्रकार बताए गये हैं --

१. दृष्ट - चिद्रश्मि से युक्त दृष्टि से जिसे देखा गया है।

२. प्रोक्षित - अर्घपात्र स्थित जल की बूंदों से उक्षित।

३. संद्रष्टा - भलीभाँति पूजित समस्त मण्डल जिसे दिखा दिए गये हैं।

४. प्रालब्ध - अवलोकन, प्रोक्षण एवं मण्डल-दर्शनादि से संस्कृत पशु जिसे इनके माध्यम से क्रमशः धूनन, कम्पन व प्रस्रवण हुआ हो अथवा स्तब्ध होने से जिसकी इन्द्रियवृत्तियाँ लीन हो गई हों।

५. उपात्त - याग की सन्निधि में वायु के समान वेगवान् शस्त्रों से शान्त किया गया पशु।

६. योजित - कारण-त्याग के क्रम से शिव से युक्त हो जाने वाला पशु।

७. निर्वापित - अपने दक्षिण में स्थित प्राणाग्नि के द्वारा सौम्य अपानात्मक पाशव कलाजाल के लोप का आश्रय लेकर, प्राण, मन आदि पर विजय के अभ्यस्त गुरु के द्वारा प्राण व मन के अर्पण से पाशव प्राणादि के परमप्राण से एकीकृत हो जाने से निर्बीज किया गया पशु निर्वापित कहलाता है।

८. वीरपशु - यागभूमि में प्रवेश कराया गया और वहीं पर साधना के द्वारा शुद्ध करके आलम्भित एवं चक्र में उपभुक्त पशु।

इस पश्वष्टक के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर मृत पशु भी सम्पूर्णतः अथवा अंशतः देवता को निवेदित किए जाने पर यागयोग्य बाह्यपशु कहलाता है।

बाह्य से लेकर वीरपशु तक को क्रमशः राज्य, इष्टलाभ, उनमें स्थिरता, शिव में भक्ति, भक्त्यात्मता, शिवज्ञान, मन्त्रलोकप्राप्ति, मन्त्र-परिवार में स्थिति एवं मन्त्रसायुज्यादि फल प्राप्त होते हैं। याग के काम में आने वाले पुष्पादि को भी ये फल प्राप्त होते हैं।

पशु - निर्वापण-

गुरु सर्वप्रथम अपने परमरूप से एकात्म स्थापित करके ज्वालाओं से युक्त आग्नेय-चार के द्वारा, अपने दक्षिण मार्ग से निकल कर, पशु के वाम-मार्ग से प्रवेश करके उसके अपानचन्द्रसम्बन्धी कलाजाल को द्रवित करता है एवं नाभिचक्र में प्राणरश्मिगणों के साथ विश्राम करता है। तदनन्तर उसके जीव को अपने जीव से आवेष्टित करके, अपने चित्सूर्य से उसकी कलाओं को पिघला देता है। तत्पश्चात् द्रवित कलाजाल को स्वयं में एकत्व प्राप्त करके, कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए हठात् उसका उन्मूलन कर देता है। तदनन्तर बांई ओर से उलटी परिक्रमा करके अमृतमय हृदयकमल के कर्णिका स्थान में पहुँच कर अपनी कुण्डलिनी में स्थित अमृत से प्राणों को आप्यायित करते हुए आचार्य हृदय-कमल में ही प्ररोह प्राप्त करते हुए, कुछ - कुछ लाल-पीले रंग के शुद्ध सोमात्मक ओजोधातु लक्षण सार को, हाथी की सूंड के समान टेढे व कुंचित प्राणविग्रह के द्वारा ग्रहण

करके, तुरन्त उसके दक्षिण मार्ग से निकल कर, अपने वाममार्ग से प्रवेश कर के हृदयकमल में स्थित (अपाननामक चन्द्र में) देवताचक्र का तर्पण करता है (तन्त्रा., १६. ३६रा-४५ब)। ओजो धातु के साथ ही रस, रक्तादि धातुओं का भी सम्मिलितरूप में अथवा एक-एक करके समाहरण किया जाता है अथवा केवल अग्निचन्द्र-सूर्यसंघट्ट के मध्य में स्थित ज्योतिरूप प्राणशक्तिनामक जीव का ही आहरण किया जाता है। देवीचक्र की भावना से जीव को समरस करना ही प्रमुख तर्पण है, जिसे "प्रेष" मन्त्रपूर्वक किया जाता है। इस विश्रान्तियोग के द्वारा घटिकार्धक्रम में सौ बार आवृत्ति करने पर पशु का निर्वापण होता है (तुलनीय ने.त., २०. २७-३६)। यह विधि प्राण के समान गोपनीय है, इससे निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है (तन्त्रा., १६. ४५स-५१)।

वैदिक यज्ञों के समान तान्त्रिक यज्ञ में किया जाने वाला पशुनिर्वापण देवतार्थ किए जाने एवं शास्त्रविहित होने के कारण हिंसा नहीं है। पशु का यह मारण उसकी चित्ररूपिणी दीक्षा है जिससे मलत्रय से वियुक्त होकर शरीर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करता है। जिसके पाश अत्यधिक रूढ़ हैं उसका प्राणों से वियोग मारण-स्वरूप होता है, क्योंकि उससे पुनर्जन्म होता है। एक बार देवता को निवेदन करने के पश्चात् पुनः उत्पन्न पशु को पुनः देवता को निवेदित किया जाने वाला षड्जन्मा पशु-श्रेष्ठ कहा गया है। जिस प्रकार निरन्तर अग्नि में पकाने से स्वर्ण शुद्धतर होता जाता है, उसी प्रकार षड्जन्मा पशु उत्तमता को प्राप्त करता हुआ समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला होता है। आनन्दशास्त्र में कहा गया है कि जो मन्त्रसंस्कारवान् समयी समयों को कुत्सित करता है अथवा मन्त्रों का बिना निर्देश के प्रयोग करता है अथवा पुत्रादि के मोह से प्राप्त दीक्षा को भी छोड़ देता है, वह पुनः मनुष्यता को प्राप्त करता है और तब भी यही करता है तो वह एक से लेकर सात जन्मों तक मनुष्य अथवा पशुरूप में देवी के चरु (नैवेद्य) के लिए उत्पन्न होता है एवं याजक गुरु के द्वारा अर्पित किए जाने पर शिवसायुज्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार उस समय अप्रिय प्रतीत होने पर भी पशुनिर्वापण पशु के लिए उसी प्रकार हितकर है जैसे रोगी के लिए कटु औषधि अथवा तप (तन्त्रा., १६. ५७रा-६८ब)।

निर्वापण के पश्चात् तर्पण के लिए पशु की वसा और मेदस् (पेट में स्थित चर्बी) को अग्नि में गला कर शक्तिचक्र को अर्पित करने का विधान है। यह परम तर्पण माना गया है। हृदय, आंते, सिर, कन्धा, यकृत, प्रधान देवता को एवं लिंगिका, परामण्डलिका, अस्थिवसा और पार्श्वनाड़ियों को मुख्यतर देवता को निवेदन करने के पश्चात् दैशिक अग्नि में मन्त्र-चक्र का तर्पण करता है। देवता को पशु-निवेदनपूर्वक उनसे, शिष्यों को दीक्षा प्रदान करने की अनुमति प्राप्त करता है (तन्त्रा., १६. ७१-७३)।

प्रस्तुत याग निरूढ़ पशुबन्ध नामक श्रौतयाग से तुलनीय है जिसे सोमयाग का एक भाग माना गया है। यह याग प्रायः दो दिनों में निष्पन्न होता है। प्रथम दिवस जिसे उपवसथ कहा जाता है, में आरम्भिक कार्य, यथा वेदिका-निर्माण यूप लाना आदि किए जाते हैं। यूप गाड़ने एवं उसके प्रोक्षण के पश्चात् बलि-पशु को सुगन्धित जल से नहलाया जाता है। बलि इन्द्र, अग्नि, सूर्य या प्रजापति के लिए दी जाती है। आध्वर्यु शमिता (पशु मारने वाले) को अस्त्र देता है जिससे वह मन्त्रोच्चारणपूर्वक पशु का वध करता है। पशु की आंतें निकाल कर एक

गड्ढे में दबा दी जाती हैं। पशु के विभिन्न अङ्गों को निकाल कर उन्हें अग्नि, जिसे शमित्र कहा गया है, में पकाया जाता है। सम्पूर्ण पशु को यज्ञीय वस्तु कहा जाता है। हृदय एवं अन्य अङ्गों को अग्नि में हविरूप में प्रदान किया जाता है। देवता एवं काम्य फल के आधार पर भिन्न - भिन्न पशुओं की बलि का विधान तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.८.१-६), आपस्तम्ब (१६.१६.१७) एवं आश्वलायन (३.७, ३.८.१) के सूत्रों में मिलता है।

याग-विधि की समाप्ति होने पर गुरु पुत्रक-दीक्षा देना प्रारम्भ करता है।

अनुयाग (मूर्तियाग)

समस्त पर्वदिवस में अनुयाग मुख्यतः करणीय है। यह गुप्त एवं प्रकट विधानों वाले आदियाग के चर्याक्रम एवं चक्रयाग के व्दारा पूर्ण होता है। नित्य- नैमित्तिक समस्त कर्मों में यह प्रमुख है, काम्यकर्म में तो विशेषरूप से चक्रयाग किया जाना चाहिये। चक्रयाग को ही श्रीयोगीश्वरीमत में मूर्तियाग कहा गया है। त्रैशिरसशास्स्त्र के अनुसार इस याग में ज्ञानी और योगी पुरुष एवं स्त्रियाँ प्रयत्नपूर्वक नियोजित की जानी चाहिये (तन्त्रा., २८. ४0स-४१ एवं ६0स-६३)।

सिद्धयोगीश्वरी मत के अनुसार मूर्तियाग निरूपित है। समस्त यागों में प्रधान मूर्तियाग न केवल पर्वदिवसों में अपितु पवित्रारोहणकाल में, श्राद्ध में, सूर्य एवं चन्द्रग्रहण के समय, लौकिक उत्सवों में विवाहादि में, ब्राह्मणों में यज्ञकर्म में, दीक्षा में, प्रतिष्ठा, समय-नियमों के शोधन एवं कामनापूर्ति के समय किया जाता है (तन्त्रा., २८. ७६स-७८)। कामनापूर्ति के लिए मूर्तियाग को सात बार करने का विधान है क्योंकि मातृदेवियाँ प्रथम बार में तो केवल साधक का घर जानती हैं, दूसरी बार में उसकी सामर्थ्य, तीसरी बार किए जाने वाले याग में उसके बल एवं दुर्बलताओं से परिचय होता है, उसके पश्चात् चतुर्थयाग में वे विस्मित होती हैं, पाँचवीं बार में उसके घर में प्रवेश करती हैं, छठे याग में प्रसन्न होती हैं एवं सातवीं बार किए जाने वाले याग में वर प्रदान करती हैं जिससे काम्य उद्देश्य की पूर्ति होती है (तन्त्रा. एवं विवेक, २८. १0२-३ब)। अन्य पर्वदिवसों के अतिरिक्त योगपर्व का भी निर्देश है, जिसमें मूर्ति याग करने से साधक-मण्डल दर्शनादि के बिना भी समयित्व को प्राप्त कर लेता है। रोहिणी याग में नवमी, पुष्य नक्षत्र की चतुर्दशी, हस्त में पंचमी, मूल नक्षत्र की द्वादशी श्रावण में प्रतिपदा एवं इनमें से किसी एक नक्षत्र से युक्त चतुर्थी, पूर्वा में षष्ठी व मघा में अष्टमी, आश्विन की पूर्णिमा एवं वसु के साथ सप्तमी, धनिष्ठा नक्षत्र में अमावस्या- ये एकादश एवं अन्य तिथियाँ जो सूर्यादित्रय एवं शुक्रादि से युक्त हों, की रात्रि एवं दिन दोनों योग पर्व में गणित हैं (तन्त्रा. एवं विवेक, २८. १0६स-१११)।

याग में भाग लेने वाले साधकों के आधार पर मूर्तियाग के पाँच प्रकार निर्दिष्ट हैं -

१. केवल - केवल साधक के द्वारा किया जाने वाला याग ।
२. मिश्रित - गुरुजनों के साथ मिल कर साधकों द्वारा किया जाने वाला याग।
३. यामल - जब साधक स्त्रीसहित याग करें तो यामल याग स्त्री के आधार पर पुनः दो प्रकार का होता है- (१) पत्नी के साथ व (२) मूल्य देकर लाई गई वेश्या के साथ।

४. चक्रयुक्त – मातंगी, कज्जली, सौनी, कार्मुकी, चर्मकारिणी, ध्वजिनी, अस्थिदलनी, धीवरी, चक्रिणी आदि शक्तियों के साथ किया जाने वाला चक्रयुक्त याग।

५. वीरसंकर –सभी के साथ मिलकर किया जाने वाला याग वीरसंकर कहलाता है।

गुरु, साधक, पुत्रकादि सभी के साथ मिलकर किए जाने वाले याग में मध्य (केन्द्र) में गुरु होता है उसके चारों ओर तीन आवृत्तियों में क्रमशः साधक, पुत्रक एवं समयी बैठते हैं। यदि पंक्तिक्रम से यजन हो तब भी गुरु सदैव बीच में ही उपस्थित होता है। इसके पश्चात् चक्र के अनुसार उनकी गन्ध, धूप, माला, समालम्भन वस्त्रादि के द्वारा पूजा की जाती है (तन्त्रा, २८. ८२स–८४)।

मूर्तियाग में बनाए जाने वाले चक्रों के अनुसार ही उनमें यागविधि का योजन होता है। यथा एकारक चक्र में एक वीर विधि, [illegible]रचक्र में यामलविधि ,. त्र्यर में त्रिक विधि ., षडर चक्र में षड्योगिनियों, सप्तारचक्र में सप्तक एवं अष्टारचक्र में अष्टक विधि की जाती है (तन्त्रालोक या अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होने से इन विधियों की व्याख्या सम्भव नहीं है)।

मूर्तियाग में सामान्य व्यक्ति को प्रवेश नहीं दिया जाना चाहिये तथापि यदि भूल से कोई प्रवेश पा ले तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये (तन्त्रा., २८. ६८)।

तर्पण –

इसके पश्चात् साधक के द्वारा आधारयुक्त मद्यपूर्ण पात्र में सर्वप्रथम चक्र का यजन किया जाता है। आधार के बिना संविद्रश्मियाँ सन्तुष्ट नहीं होती हैं एवं तर्पण भी सफल नहीं होता है। अणु, शक्ति एवं शिव तीनों के सम्मिलित रूप में ध्यानपूर्वक तर्पण का विधान किया गया है। मद्यपात्र प्रेत अर्थात् अणुरूप है एवं आसव शक्तिस्वरूप अमृत है एवं उसका भोग लगाने वाली शक्ति शिवस्वरूप है, ऐसे सम्मिलित रूप में ध्यान करके केन्द्र में उपविष्ट गुरु से प्रारम्भ कर के बाह्य आवृत्तियों में स्थित साधक, पुत्रक एवं समयी पर्यन्त आवृत्ति क्रम से मद्यपात्र प्रदान करते हुए तर्पण किया जाना चाहिये एवं पुनः प्रतिसंचारपूर्वक जब मद्यपात्र गुरु के समीप पहुँचाता है तब सृष्टि संहारात्मक एक भ्रमण पूर्ण होता है (तन्त्रा., २८. ८७–६१ब)।

तर्पण में संविदुत्कर्ष के आधार पर क्रम निश्चित है। सर्वप्रथम देवताओं का तदनन्तर वीर एवं वीर शक्तियों का तर्पण किया जाना चाहिये। यह अभिनवगुप्त के गुरु के द्वारा निर्दिष्ट क्रम है। इसके पश्चात् साधक मत्स्य, मांसादि से युक्त विधि अवदंशों (स्व. त., २. १३१-३५) को उनके सामने तृप्तिपर्यन्त प्रस्तुत करता है। मद्यपान के लिए पात्र के अभाव में हाथों की विशेष मुद्रा से ही वेल्लिता शुक्ति-(तन्त्रा., २८. ६४स-६६ब) रूप पात्र बनाने का निर्देश है। वहाँ पानकाल में जो बूंदें धरती पर गिरती हैं उनसे वेताल, गुह्यक आदि सन्तुष्ट हो जाते हैं। मद्यपान-क्रम में सर्वप्रथम धारापात के द्वारा भैरव को सन्तुष्ट करना चाहिये, तत्पश्चात् साधकादि को करपान करना चाहिए (तन्त्रा., २८. ६१स-६७)।

रात्रि में वीरों को शक्तियों के साथ गुप्तगृहों में, लौकिक शब्द-व्यवहार से रहित केवल देवता शब्दों का कथन करते हुए रहना चाहिये। मूर्तिचक्र की प्राप्ति न होने पर काम्यपूर्ति के लिए कुमारी की ही पूजा की जानी चाहिये किन्तु वह कन्या विवस्त्र अथवा रजस्वला अथवा स्तनवती नहीं होनी चाहिये (तन्त्रा., २८. १०४स-१०६ब)। इस दृष्टि से यह याग कुमारी पूजा से सम्बन्धित प्रतीत होता है। तन्त्रालोक अथवा अन्य ग्रन्थों में विवरण उपलब्ध न होने से सम्पूर्ण विधि-निरूपण सम्भव नहीं है।

मूर्तियाग का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि वर्ष भर तक पर्व-दिवसों से मूर्तियाग करने वाले को, पुत्रक के लिए निर्दिष्ट सन्ध्या-अनुष्ठान, मण्डलदर्शन आदि किए बिना भी उसके समान फल प्राप्त हो जाता है-

"अदृष्टमण्डलोऽपि मूर्तियागेन पर्वदिनानि पूजयन
वर्षादेव पुत्रकोक्तं फलमेति विना सन्ध्यानुष्ठानिदिभिः"

-तं.सा., पृ० १८६.

इस प्रकार याग करके अन्त में दक्षिणारहित समालम्भन वस्त्र, पानादि का वितरण किया जाना चाहिये। यजमान के द्वारा दी जाने वाली दक्षिणा आधे रुपए से प्रारम्भ होकर समयी, पुत्रक, साधक व गुरुपर्यन्त क्रमशः द्विगुण होती जाती है यथा समयी को एक रूपया, पुत्रक को दो, साधक को चार व गुरु को आठ।

दक्षिणा समस्त यागों की समाप्ति में अनिवार्यतः दी जानी चाहिये। इसके बिना याग पूर्ण नहीं माना जाता एवं यज्ञकर्ता को यज्ञ का फल प्राप्त नहीं होता।

कुलयाग-

बाह्ययाग, सामुदायिक यागादि से कुल याग अत्यधिक भिन्न है। अन्य यागों में जहाँ बाह्याचार पर बल दिया जाता है वहाँ कुलयाग में आन्तरिक भावना महत्त्वपूर्ण है। इसकी प्रक्रिया रहस्यात्मक एवं गूढ़ होने के साथ ही सामान्यतया प्रचलित लोकमान्यताओं के विरुद्ध भी है। इसके अधिकारी निर्विकल्प दशा की पराकाष्ठा को प्राप्त वे योगी होते हैं जो अपने चित्त को आनन्द के परम उद्रेक के क्षणों में भी आनन्देन्द्रिय से हटा कर अन्यत्र (मध्य-धाम में) केन्द्रित करने की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे योगी वीर साधक कहलाते हैं। वे शिवशक्ति के स्फार के रूप में सम्पूर्ण जगत् को देखते हुए, मन, वचन एवं कर्म से शिवरूप में आरूढ़ होने के लिए जो कुछ भी करते हैं,

वह सब कुलयाग माना गया है (तन्त्रा., २६. ५-६)। तन्त्रालोक में कुलयाग का निरूपण श्रीब्रह्मयामल, श्रीमत्क्रमरहस्य, श्रीमत्कालीकुल, श्रीरत्नमालाशास्त्र, श्रीमाधवकुल, श्रीयोगसंचार, श्रीसर्वाचारहृदय, त्रिशिरस्तन्त्र आदि शास्त्रों के आधार पर किया गया है। इसकी व्याख्या में जयरथ ने कुलक्रीडावतार, देवीपंचशतिका, देव्यायामल, त्रिशिरोभैरव, तन्त्रराजभट्टारक आदि शास्त्रों के नामोल्लेखपूर्वक उद्धारण दिए हैं। ये शास्त्र उपलब्ध न होने के कारण तन्त्रालोक एवं विवेक में इन शास्त्रों के सन्दर्भ एवं उद्धरणों के आधार पर ही प्रस्तुत विवेचन किया गया है।

याग-विधान-

कुलयाग (द्र. Abhinavagupta : An Historical and Philosophical study) में अन्य यागों में किए जाने वाले स्नान, न्यास, मण्डल, कुण्डादि का कोई उपयोग नहीं है। इस प्रकार के समस्त आवरणों से रहित यह ज्ञानज्ञेयात्मक याग है। साथ ही अन्य शास्त्रों में जिन मद्यादि द्रव्यों का निषेध किया गया है, वे यहाँ विशेषरूप से विहित हैं। (तन्त्रा., २६. ८-१०)। भर्गशिखाशास्त्र के अनुसार "धीकर्माक्षगता देवीर्निषिद्धैरेव तर्पयेत्" (तन्त्रा., १२ १६)। केवल शास्त्र निषिद्ध ही नहीं अपितु लोकविद्विष्ट, जुगुप्सा के योग्य एवं निन्दनीय द्रव्यों से पूजा का विधान किया गया है। कुलयाग में विशेषरूप से इन द्रव्यों का विधान होने से यह स्वतः ही निश्चित हो जाता है कि जो व्यक्ति लोकव्यवहार में प्रचलित विधि-निषेध की मान्यताओं, राग-द्वेष, घृणा-जुगुप्सा आदि भावों से परे होगा, वही इसे करने मे समर्थ होगा। इस याग में किए जाने वाले प्रत्येक आचार के साथ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है -- "ज्ञानभावनया सर्वं कर्त्तव्यं साधकोत्तमैः।"

यही कारण है कि कौलिक मन्त्र, जो खगेन्द्रनाथादि सिद्धों की कुलपरम्परा से प्राप्त हैं, के द्वारा एक मास में जो सिद्धि प्राप्त हो जाती है, वह अन्य मन्त्रसमूहों का सहस्रों वर्षों तक जप करने पर भी नहीं होती। कौलिक महामन्त्र स्वभावतः दीप्त शक्तितेज से युक्त एवं सद्यः प्रत्ययकारी होते हैं (तन्त्रा. एवं विवेक, २६. ३)।

कुल : शाब्दिक अर्थ -

कुल शब्द "कुल संस्त्याने बन्धुषु च" से "क" प्रत्यय ("इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" सू:, ३.१. १३५.) होकर निष्पन्न होता है। कुल शब्द का निम्नलिखित अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है - संघात अर्थ के आधार पर कुल स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, पंचप्राण, तेरह इन्द्रियों एवं पंच महाभूत के संघात का नाम है।

कुल, ऐश्वर्यशाली भैरवरूपी सूर्य के अपने किरणजालरूप अभिन्नशक्तिचक्र का बहिर्मुख विकास है। (इदं परमेश्वरस्य भैरवभानोः रश्मिचक्रात्मकं निजभासास्फारमयं "कुलम्" उक्तम् --प.त्री.वि., पृ० ५५.)

कुल शब्द का प्रयोग कभी-कभी शिव एवं शक्ति से ऊपर अन्तिम सत्ता के रूप में भी किया जाता है जिससे यह सम्पूर्ण विश्व उदित होता है एवं जिसमें अस्त होता है (तन्त्रा., ३)।

कुल शब्द का प्रयोग अकुल संज्ञक परमधाम अथवा शिव की शक्ति के रूप में भी अनेकत्र किया गया है (तन्त्रा., ३. १४३; ३. ६७)।

कुल शब्द का अन्य अर्थों में भी प्रयोग मिलता है। अभिनवगुप्त ने कुल शब्द के अनेक अर्थों को एक साथ प्रस्तुत कारिका में निरूपित किया है-

"कुलं परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता।
स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम्।।" -तन्त्रा., २९.४.

कुल शाखा वाम एवं दक्षिण साधना-मार्गों का समन्वित रूप है।

शैवागमों के आधार पर साधना-क्रम की दृष्टि से दो मार्ग प्रचलित हैं- दक्षिण एवं वाममार्ग। इन्हें यह संज्ञा इसलिए भी दी गई है कि ये जिन आगमों पर आधारित हैं वे क्रमशः शिव के दक्षिण दिशा में स्थित मुख अघोर एवं वाम में स्थित वामदेव से निःसृत है। वाममार्ग नाम की एक व्याख्या यह भी की जाती है कि इसमें शिव-शक्ति को दम्पत्तिरूप में स्वीकार करते हुए शक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है एवं हिन्दू-परम्परा में पत्नी का स्थान बांईं ओर होता है। दक्षिण मार्ग रौद्र कर्मों से परिपूर्ण एवं वाम मार्ग सिद्धिपरक होने से अपने लक्ष्य से दूर होते जा रहे थे। कुल सम्प्रदाय में इन दोनों साधनामार्गों के मूल में निहित आध्यात्मिक भावना पर बल दिया गया एवं इन दोनों के श्रेष्ठ गुणों को स्वीकार कर के एक नए रूप में प्रस्तुत किया गया।

"अशेषतन्त्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम्।
एकत्रमिलितं कौलं श्रीषडर्धकशासने।।" -तन्त्रा., ३७. २६.

कुलयाग के यागस्थान के आधार पर छः प्रकार बताए गए हैं -

१. बाह्यस्थान यथा श्मशान
२. शक्ति अर्थात् दूती.
३. यामल अर्थात् आद्ययागाधिरूढ मिथुन
४. देह
५. प्राणपथ अर्थात् मध्यनाड़ी
६. बुद्धि

कुल-याग की प्रक्रिया में प्रयोज्य वस्तुएँ अथवा क्रियाएँ निम्नलिखित हैं-

१. याग-द्रव्य - कुलयाग में यागद्रव्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सामान्य व्यक्ति का जिन द्रव्यों से पतन सम्भव है उन्हीं द्रव्यों के माध्यम से यहाँ सिद्धि की परिकल्पना की गई है- "यैरेव पतनं द्रव्यैस्सिद्धिस्तैरेव चोदिता।"

कुलयाग में पंच मकार - मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन का सेवन अनिवार्य है। इनमें से भी मद्य, मांस एवं मैथुन ये मकारत्रय अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुलयाग के अन्तर्गत इनका सेवन न करने वाला व्यक्ति पाप का भागी होता है। इस याग में अर्घपात्र की प्रधानता होती है। अर्घपात्र को आनन्ददायी द्रव्य मद्य अथवा कुण्डगोलक से भरा जाता है। सुरा को व्रह्मयामलशास्त्र में शिवरस कहा गया है। इसके बिना भुक्ति, मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसके तीन प्रकार पैष्ट्री, क्षौद्री एवं गौड़ी क्रमशः स्त्री, नपुंसक एवं पुरुष माने गए हैं (निर्णयविधि के

लिए द्र. कु. त., ५. ११-२०) ये मद्य के कृत्रिम प्रकार हैं। इनके अतिरिक्त सहजा सुरा जो दाक्षानिर्मित होती है, परम तेज को देने वाली मानी गई है। मद्य देवताओं को प्रिय होता है इसलिए इसका सदैव पान करना चाहिये। कुलाचार के अन्तर्गत तो मद्यपान न करने की स्थिति में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

मद्य का प्रयोग सोम एवं सुरा के रूप में वैदिककाल से ही होता रहा है। सोम का प्रयोग देवताओं एवं पुरोहितों तक सीमित था, जबकि सुरा अन्य जनों के लिए विहित थी। शतपथब्राह्मण (५.५.४.२८) में सोम को सत्य, समृद्धि एवं प्रकाश तथा सुरा को असत्य, क्लेश एवं अन्धकार कहा गया है। सौत्रामणि यज्ञ में ब्राह्मण को सुरा का तलछट पीने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। काठकसंहिता (१२.१२.) के अनुसार ब्राह्मण प्रायः सुरापान नहीं करते थे। गौतम (२. २५) आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१.५.१७.२१) एवं मनु (११.६४) ने ब्राह्मणों के लिए समस्त नशीली वस्तुओं का सेवन वर्जित माना है। सुरापान को महापातक कहा गया है -

"सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्।
"गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः।" -- मनु. ११.९३-४

मद्य के गौडी, पैष्टी एवं माध्वी ये तीन प्राकर वैदिककाल में भी प्रचलित थे।

याग-स्थान- याग-स्थान के अर्न्तत भूमि, वस्त्र, काय अर्थात् विश्वामित्रकपाल एवं पीठादिस्थान क्रमशः उत्कृष्ट माने गए हैं। पीठ श्मशानादि की स्थिति देह के भीतर एवं बाहर दोनों जगह मानी गई है।

पूज्य- इस याग के अन्तर्गत गणेश, वटुकादि देवता, सिद्धादि चतुष्क एवं माहेश्यादि अष्टक की बाह्य-स्थान अर्थात् मण्डल में पूजा की जाती है। संवित् से सम्बन्धित अनुचक्र देवियों एवं प्रमुख करणेश्वरी, जो देह में स्थित है, की देह को तृप्त करने के माध्यम से पूजा की जाती है।

दीपक - याग में देवता की संख्या के अनुरूप,मुख्य पूज्या विद्या के अनुरूप दीपक प्रज्वलित किए जाते हैं।

मन्त्र-विनियोग - लक्ष्य-सिद्धि अथवा मुक्ति के आधार पर मातृका एवं मालिनी का प्रयोग उन्हें किसी मन्त्र से संपुटित करके अथवा केवल रूप में किया जाता है।

इसके पश्चात् अर्घपात्रपूरण, तर्पण, देवतादि की अर्चना, मुख, नेत्र, प्राणापानादि स्थानों में चित्त को एकाग्र करके जप आदि कार्य किए जाते हैं। जितनी संख्या में जप किया जाता है उसका दसवाँ हिस्सा हवन के लिए निश्चित है। इसके पश्चात् दौत विधि के अन्तर्गत साधक एवं साधिका स्वयं शिवशक्तिभावपूर्वक रमण करते हुए अपने इन्द्रियचक्रों में स्थित देवियों को सन्तुष्ट करते हुए संवित्-विकास को प्राप्त करते हैं।

कुलयाग-विधि-

सर्वप्रथम स्वच्छ याग-स्थान को गन्ध-धूपादि से सुगन्धित किया जाता है। याग-स्थान में साधक के उत्तर की ओर मुख करके प्रवेश करने का विधान किया गया है। इसके पश्चात् साधक स्वयं की शुद्धि मन्त्रों के माध्यम

से करता है क्योंकि (अदिव्य) लौकिक शरीर से किए जाने वाले यागादि कार्य फलदायी नहीं होते, इसलिए मन्त्र-प्रयोग के द्वारा उससे तादात्म्य स्थापित करते हुए शरीर में भैरवात्मता का आधान किया जाना चाहिये। इसके दो क्रम बताए गए हैं। विलोम अथवा संहार क्रम से की जाने वाली शुद्धि पैरों से प्रारम्भ होकर सिर तक की जाती है, यह शुद्धि दीप्त एवं दाहकारी होती है। दूसरी अनुलोम अथवा सृष्टिक्रम से की जाने वाली शुद्धि सिर से पैरों तक की जाती है, यह सौम्य एवं आप्यायकारी होती है। इनमें परा अथवा मालिनी अथवा मातृसद्भाव मन्त्रों का विनियोग किया जाता है (तन्त्रा., २६. १८-१६)। सामान्यतया समस्त कर्मों में मालिनी का अर्थतः विनियोग किया जाता है। मोक्ष के इच्छुक साधक को मातृसद्भाव मन्त्र से सम्पुटित (प्रारम्भ व अन्त में प्रयुक्त) मालिनी का एवं भोग और मोक्ष दोनों के इच्छुक साधक को परामन्त्र से सम्पुटित मालिनी का प्रयोग करना चाहिये। सम्पुट न करने की स्थिति में केवल परा और मातृसद्भाव का भी इसी प्रकार नियोजन होगा (तन्त्रा., २६. २१)।

मन्त्रों के द्वारा भैरवात्मता की सिद्धि के पश्चात् अर्घपात्रपूरण एवं मन्त्रादि देवताओं का तर्पण किया जाना चाहिये। आनन्ददायी द्रव्यों सुरादि एवं कुण्ड-गोलक (स्त्रीपुरुष वीर्य) आदि से अर्घ-पात्र का पूरण करना चाहिये। इस पूरण की विधि रहस्यमय होने के कारण गुरुमुख से ही ज्ञेय है, यह विवेककार का कथन है। यद्यपि आगे चलकर उन्होंने कुछ शास्त्रों के उद्धरण दिए हैं जो इसकी विधि पर किंचित् प्रकाश डालते हैं।

अर्घपात्रपूरण के पश्चात् उसमें स्थित द्रव की बूंदों से बाहर सर्वत्र (ऊपर, नीचे, दाँए, बाँए) प्रोक्षण के द्वारा शुद्धि करे। आन्तरिक शुद्धि के लिए कुछ बूंदों के पान का विधान किया गया है। आन्तरिक तर्पण से साधक की करणेश्वरी आदि देवियाँ तृप्त हो जाती हैं एवं साधक स्वयं भी स्वात्मा में विश्रान्त होता है, तथापि बिम्बप्रतिबिम्बन्याय से संविद् का बाह्य अवभासन भी होता है। इसलिए बाह्य अर्चना भी की जानी चाहिये (तन्त्रा., २६. २२-४)।

बाह्यार्चन-

बाह्यार्चन में सर्वप्रथम भूमि, वस्त्र, कायपीठादि जो क्रमशः उत्कृष्टतर धाम बताए गए हैं, की सिद्धि की जाती है। भूमि की शुद्धि अर्घपात्र-स्थित द्रव की बूंदों एवं गन्ध-धूपादि से पहले ही की जा चुकी है। उस पर बारह अंगुल अथवा उसका दुगुना या तिगुना कल्याणकारी लाल वस्त्र बिछाया जाता है। उस पर राजवर्तरजस् अर्थात् चूने से व्योम बिम्ब एवं सिन्दूर से लाल रंग की व्योम रेखा बनाई जाती है अथवा इसके विपरीत क्रम से सिन्दूर से बिम्ब एवं चूने से रेखा भी बनाई जा सकती है। उस वस्त्र के ऊपर कायपीठ-संज्ञक काद्य एवं उसका अनुकल्पन करने वाले विश्वामित्र-कपाल को रखा जाना चाहिये। वहीं पर मद्यपूर्ण पात्र भी रखा जाना चाहिये। इस प्रकार मण्डल पर स्थित वस्त्रादि का एवं साधक का शोधन हो जाने के पश्चात् अग्रनिर्दिष्ट क्रम से याग किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २६. २५-२७ब)।

बाह्ययाग क्रम-

सर्वप्रथम उत्तर दिशा में रुद्र कोण से लेकर वायव्यपर्यन्त सवल्लभ गणेश्वर (गणपति) की विघ्नरहित सिद्धि के लिए अर्चना करनी चाहिये। तत्पश्चात् प्रियासहित वटुक, गुरु, परमगुरु व परमेष्टी-इन तीन गुरुओं, अनादिसिद्धादि, अनादियोगिनी, जालन्धरादि पीठ की चारों दिशाओं में अर्चना की जाती है। पूर्व दिशा में, मण्डल के बाह्य चतुरस्र में ईशान कोण में गणेश की अर्चना की जाती है। तत्पश्चात् वटुक, गुरुत्रय, पीठ, अनादिसिद्ध, अनादियोगिनी पर्यन्त नीचे-नीचे पंक्तिक्रम से वायव्यकोण पर्यन्त दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ इस त्रिविध गुरुवर्ग की अर्चना की जानी चाहिये (तन्त्रा., २६. २७स - २६ब)। प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने गुरुवर्ग निश्चित हैं जिनके संविदुत्कर्ष के आधार पर उन्हें दिव्य, सिद्ध या मानव-समूह में रखा जाता है। गणेश की अर्चना के पश्चात् चतुरस्र से संलग्न चारों चतुष्किकाओं में कृतादि युगों के क्रम से अवतीर्ण सिद्धचतुष्क की पूजा की जानी चाहिये। कुल सम्प्रदाय में अपनी परम्परा के पूर्व गुरुजन उनकी शक्ति, सन्तान अर्थात् गोत्र एवं मठिका अर्थात् अध्ययनस्थान, घर, पल्ली, पीठ, उपपीठ, मुद्रा, छुम्मा आदि की पूजा सर्वप्रथम की जाती है, जो तादात्म्यप्रतिपत्ति में सहायक होती है (तन्त्रा., ४. २६५-६६ब)। यह पूजा निम्नलिखित क्रम से की जाती है-

चारों युगों में कौल-साधनामार्ग के प्रवर्तक सिद्धचतुष्क हैं -

कृतयुग में खगेन्द्रनाथ, त्रेता में कूर्मनाथ द्वापरयुग में मेषनाथ एवं कलियुग में मत्स्येन्द्रनाथ इन चारों की शक्तियाँ क्रमशः विज्जाम्बा, मंगलाम्बा, काममंगलाम्बा एवं कुंकुणाम्बा थीं। इन सिद्धों की अपनी शक्तियों, पुत्रों एवं उनकी शक्तियों सहित चारों दिशाओं में निम्नलिखित क्रम से पूजा की जानी चाहिये:

पूर्वदिशा में खगेन्द्रनाथ, उनकी शक्ति विज्जाम्बा, उनके पुत्र वक्तष्टि एवं विमल क्रमशः इल्लाईअम्बा एवं मेखलाम्बा के साथ पूजित होते हैं।

दक्षिणदिशा में कूर्मनाथ की उनकी शक्ति मंगलाम्बा, पुत्रों जैत्र एवं अविजित की क्रमशः इल्लाई अम्बा एवं आनन्दमेखला के साथ अर्चना की जाती है।

पश्चिमदिशा में मेषनाथ की, उनकी शक्ति कमगंला के साथ एवं कुल्लाई- अम्बा एवं अजराम्बा नामक शक्तियों के साथ विन्ध्य एवं अजित (पुत्रों) की पूजा की जाती है।

उत्तरदिशा में मत्स्येन्द्रनाथ, अपनी शक्ति कुंकुणाम्बा एवं छः साधिकार पुत्रों के साथ पूजित होते हैं। ये छः पुत्र हैं- अमर, वरदेव, चित्र, अलि, विन्ध्य एवं गुडिकनाथ। इनकी शक्तियाँ क्रमशः सिल्लाई, एरुणा, कुमारी, बोधाई, महालच्छी एवं अजरमेखला हैं। इन षट्पुत्रों की शिष्य प्रशिष्यमयी सन्तति अनविच्छन्न होने के कारण इन्हें साधिकार कहा गया है (तन्त्रा, २६. २६स-३५)।

इन राजपुत्रों की ओवल्ली मुद्रा, छुम्मा, घर, पल्ली, पीठ आदि का भी निरूपण किया गया है। इन पीठ स्थानों पर उन राजपुत्रों के मुद्रादि संकेतों को जानने वाला व्यक्ति यदि सिद्धि की इच्छा से भ्रमण करता है तो

वहाँ स्थित योगिनियाँ उसे अपनी सन्तति के रूप में जानकर तुरन्त सिद्धि प्रदान कर देती हैं।

ओवल्ली अर्थात् ज्ञानप्रवाह अथवा शिष्य-सन्तति क्रमशः इस प्रकार हैं- अमर की बोधि, वरदेव की प्रभु चित्र की पाद, अलि की आनन्द, विन्ध्य की योगी एवं गुड़िकनाथ की अवलि आदि ओवल्लियाँ बताई गई हैं।

इनकी मुद्राएँ दांए हाथ के अंगूठे से लेकर बाएं हाथ की कनिष्ठिकापर्यन्त इस प्रकार हैं। ज्येष्ठ पुत्र के लिए अंगुष्ठ, द्वितीय के लिए तर्जनी, तृतीय की मध्यमा, चतुर्थ की अनामिका, पंचम की कनिष्ठिका एवं षष्ठ पुत्र की बांए हाथ की कनिष्ठिका बताई गई है।

इनकी छुम्माएँ (जहाँ सर्वप्रथम ध्यान एकाग्र किया गया) हैं - प्रथम पुत्र की अतीत, द्वितीय की कुण्डली, तृतीय का भ्रूमध्य, चतुर्थ पुत्र का संघट्ट, पंचम पुत्र के लिए नाभि एवं षष्ठ पुत्र का जन्माधार स्थान होता है।

इनकी घर (निवासस्थान) एवं पल्लियाँ (दीक्षा-प्राप्ति का स्थान) क्रमशः इस प्रकार हैं- अमर का घर पट्टिल एवं पल्ली दक्षिणावर्त है, वरदेव का करबिल्ल एवं कुम्भारिका पल्ली होती है, चित्र का घर अम्बिल्ल एवं पल्ली बिल्ल है, अलिनाथ का पुलिन्द एवं अडबी पल्ली है, विन्ध्यनाथ का घर शरबिल्ल व अक्षर पल्ली है, गुडिकनाथ अडबिल्लघर एवं डोम्बीपल्ली बताई गई है। इन राजपुत्रों के पीठस्थान (संविदनुभूति अथवा भैरवतादात्म्य की अनुभूति जहाँ हुई) हैं - अमर का वरारोह, वरदेव का कामरूप, चित्र का अट्टहास, अलि का देवीकोट्ट, विन्ध्य का दक्षिण एवं गुडिकनाथ का कौलगिरि (तन्त्रा., २६. ३६-३६)। इनके अतिरिक्त छः निरधिकार राजपुत्र भी हैं जिनका कुलमार्ग में संक्रमण नहीं है एवं वे ऊर्ध्वरेतस् स्वात्ममात्र में विश्रान्त हैं। ये हैं - भट्ट, इन्द्र, वल्कल, अहीन्द्र, गजेन्द्र एवं महीधर।

सिद्धादि के पूजन के पश्चात् द्वितीय चतुरस्र से भीतर व्योम में क्रमशः वायव्य कोण से आग्नेय कोणपर्यन्त ऊपर - ऊपर के क्रम से मातृका की पूजा करनी चाहिये। मालिनी की पूजा आग्नेय से वायव्य कोणपर्यन्त नीचे के क्रम से की जाती है। इसके भी भीतर अर्थात् याग के मध्यवर्ती कर्णिका स्थानीय त्रिकोण में मन्त्रचक्र की पूजा की जाती है। इसमें पूर्व, दक्षिण एवं वाम कोणों में भैरवसहित परादिदेवी-त्रय एवं मध्य में कुलेश्वर की स्थापना की जाती है (तन्त्रा., २६. ४५स-४६ब)।

त्रिकोण के मध्य में कुलेश्वर की स्थापना कुलेश्वरी के साथ की जाती है। चिति शक्ति ही कुलेश्वरी के नाम से जानी जाती है, जो मन्त्र, सिद्ध, प्राण, संवित्, करण, आत्मा, चक्रात्मक कुलादि, पूज्यसमूह एवं पूजक शरीर सभी में विश्रान्त होती है। उस मातृसद्भावरूपिणी देवी की मध्य में पूजा करके त्रिकोण के तीनों अरों में अपरा, परापरा एवं एकवीरा देवी की अकेले अथवा कुलेश्वरसहित पूजा की जानी चाहिये (तन्त्रा., २६. ४६स-४८)।

यामलक्रम से की जाने वाली पूजा के अन्तर्गत परस्परोन्मुखता से संघट्टमय एवं स्वात्मचमत्काररूप आनन्द में विश्रान्त, भैरवभैरवी के युगल की पूजा की जानी चाहिये। उस महाप्रकाशरूप परमसंवित् से, अग्नि से विस्फुलिंग की भाँति, निसृत देवतागण भी वहाँ पूज्य हैं। ये देवतागण हैं सृष्टिदेव्यादि बारह देवियाँ - सृष्टि काली, रक्तकाली, स्थितिनाशकाली, यमकाली, संहारकाली, मृत्युकाली, रुद्रकाली, मार्तण्डकाली, परमार्ककाली,

कालाग्निरुद्रकाली, महाकालकाली, महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली और महेश्यादि अष्टाष्टक की अग्रनिर्दिष्टक्रम से पूजा की जानी चाहिये पूर्वोक्त सिद्धादि चतुष्क की भी पूजा की जानी चाहिये। अथवा साधक अपनी इच्छानुसार भी देवतागणों की पूजा कर सकता है। जिस प्रकार अग्नि की ज्वालाओं की निश्चित संख्या नहीं होती उसी प्रकार संवित् से निःसृत इन देवताओं के विषय में भी कोई नियम नहीं है (तन्त्रा., २६. ४६६-५१)। अष्टाष्टक के अन्तर्गतमाहेशी, वैरिंची, कौमारी वैष्ठावा चारों की दिशाओं में एवं ऐन्द्री, याम्या, मुण्डा व योगीशी की ईशान कोण से प्रारम्भ कर वायव्य कोण तक स्थिति होती है। ये देवियाँ अघोरादि अष्टक, अघोर, परमघोर, घोररूप, घोरमुख, भीम, भीषण, वमनी, पिवनी, के साथ क्रमशः यामलीभूत होती हैं। इनकी संघट्टानन्ददृष्टि से पूजा करनी चाहिये। यह पूजा त्रिकोण के बाहर स्थित अष्टदल पद्म में की जाती है। इनकी संख्या के अनुरूप ही दीपक प्रज्वलित करने चाहिये (तन्त्रा., २६. ५२-४)।

कुलयाग के अन्तर्गत उपर्युक्त पूजा-विधान जहाँ पर किया जाता है उस मण्डल का विवरण विवेककार के उद्धरण में मिलता है। इसके अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्र का आठ भागों में विभाजन करके मध्य में दो गोल भागों के बीच में त्रिकोण बनाना चाहिये। इसके पश्चात् चारों ओर से त्रिधा विभाजन करके अष्टदल कमल बनाकर एक भाग के द्वारा व्योम का निर्माण करके चारों ओर चार चतुष्किका बनाई जाती हैं। दिशाओं में चतुष्कोण एवं दोनों ओर श्रुतिभावगामी (स्वरूप अस्पष्ट) बनाए जाते हैं। इस प्रकार चतुरस्र मण्डल की सिद्धि होती है (विवेक, २६. ५४)।

दीपक एवं चरु महापशु के प्रतिनिधि माने गए हैं। रत्नमालाशास्त्र के अनुसार मुख्यरूप से पूजनीया मालिनी की वर्णसंख्या के अनुरूप अर्थात् पचास दीपक प्रज्वलित किए जाने चाहिये। मालिनी से भिन्न मूलविद्या का प्रयोग किया जाए तो तदनुरूप दीपकसंख्या का ग्रहण किया जाना चाहिये (तन्त्रा, २६. ५५)।

पीठ-स्थान-

माधवकुल-शास्त्र में निरूपित विधि के अनुसार कुलपूजन के अन्तर्गत पीठ क्षेत्रादि का भी ग्रहण किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २६. ५६)। पीठस्थान शक्ति के केन्द्रभूत हैं। वे देह के भीतर भी हैं और बाहर भी। विशिष्ट वर्ण जिन्हें वैदिक संस्कृति में निकृष्ट मान कर पूजा, यज्ञादि का अधिकार प्रदान नहीं किया है, इन्हें यहाँ उत्कृष्ट एवं पूजनीय माना गया है। स्त्री को भी स्मृतियों के आधार पर यज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया गया था, जबकि यहाँ उन निकृष्ट वर्णों की स्त्रियों को शक्तिस्वरूपिणी एवं उनके निवासस्थान को पुण्यस्थल पीठ के समान माना गया है।

चाण्डाल, डोम, कसाई, धनुष बनाने वाला, चमार, शराब खींचने वाला - कल्यपाल, अस्थिभेदक-कापालिक, मछुआरा और चक्रयाजक (की प्रिया-चाक्रिकदयिता) की पत्नियाँ यहाँ नवचक्रात्मक यजन में सम्मिलित की जानी चाहिये। इनके निवास स्थान भी संकेतस्थल होने के कारण पीठस्वरूप हैं।

मातंगी का घर प्रयाग, कज्जली का वरुणाख्य, सौनी का कुलगिरि, कार्मुकी का अट्टहास, चर्मकारिणी का

जयन्ती, ध्वजिनी का चरित्र, अस्थि-विदारिणी का एकाम्र, धीवरी का देवीकोट्ट एवं चक्रिणी का निवासस्थान हिरण्यपुर पीठस्थानीय होता है। ये पीठस्थान देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं (तन्त्रा. एवं विवेक, २६. ६६-७)।

देह में पीठ-स्थान-न्यास (तन्त्रा., २६. ५८-६५):

निम्नलिखित पीठ स्थानों का उनके सामने स्थित देहांगों में न्यास किया जाता है

देहस्थान	पीठस्थान
शिखा	अट्टहास
कृरन्ध	चरित्र
श्रुति (कर्ण)	कौलगिरि
नासारन्ध	जयन्तिका
भ्रू	उज्जयिनी
वक्त्र	प्रयाग
हृदय	वाराणसी
स्कन्धयुगल	श्रीपीठ
गला	विरज
उदर	एडाभी
नाभि	हाला
कन्द (मूलाधार)	गोश्रुति
उपस्थ	मरुकोश
दक्षिणसक्थिन	नगर
वामसक्थिन	पौण्ड्रवर्धन
दक्षिण ऊरु	एलापुर
वाम ऊरु	पुरस्तीर
दक्षिणजानु	कुड्याकेशी
वामजानु	सोपान
दक्षिणजंघा	मायापुरी
वामजंघा	क्षीरक
दक्षिणगुल्फ	आम्रातकेश्वर
वाम-गुल्फ	राजगृह
प्रादाधार	वैरिंची

उपर्युक्त पीठस्थानों का निर्दिष्ट देहस्थानों में न्यास करते हुए "मैं ही पीठस्थान एवं उसकी अधिष्ठात्री शक्ति हूँ", स्मृतिमात्र से सदा इस प्रकार की भावना करनी चाहिये जिससे सिद्धि प्राप्त होती है। कुलधर्म (ग्राम्यधर्म) में निरत व्यक्ति के लिए तिथि, नक्षत्र, व्रत, उपवासादि का विधान नहीं है, इस प्रकार की स्मृतिमात्र से ही उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

पीठ-पूजन-

ईशानकोण में अट्टहास, चरित्र, कुलगिरि, इन तीनों की ऐन्द्र अर्थात् पूर्व दिशा में जयन्तिका, उज्जयिनी, प्रयाग; आग्नेयकोण में वाराणसी, श्रीपीठ, विरज; यम (दक्षिण दिशा) में एडाभी, हाला, गोश्रुति; नैऋत कोण में मरुकोश, नगर, पौण्ड्रवर्धन; पश्चिम दिशा में एलापुर, पुरस्तीर, कुड्याकेशी; वायव्य कोण में सोपान, मायापुरी व क्षीरक एवं उत्तर दिशा में आम्रातकेश्वर, राजगृह एवं वैरिंची - इन पीठ स्थानों का क्रमशः यजन करना चाहिये (तन्त्रा., २६ ७0स-७१ब)। इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर स्थित इन पीठ-स्थानों की एक साथ एक स्थान पर पूजा की जाती है। यागयोग्य स्थान श्मशानादि भी पीठ के साथ ही देह के भीतर पूजनीय हैं। हृदय श्मशानतुल्य, कुण्डली कल्पवृक्ष के समान एवं भौहों का मध्य भाग योगिनी-क्षेत्र माना गया है (तन्त्रा, २६. ७१स-७२ब)।

पीठक्षेत्रादि विभिन्न स्थानों का एवं वहाँ की गई पूजा उपासनादि का महत्त्व केवल तन्त्रशास्त्र में ही नहीं है। स्मार्तविधि में तो काशी में निवास एवं मृत्यु-मात्र से ही मोक्ष माना गया है। पुराणों में एक सौ आठ तीर्थ बताए गए हैं जिनका नाम लेने अथवा सुनने मात्र से ही पापों से मुक्ति प्राप्त होती है और जो व्यक्ति इनमें स्नान करता है वह तो कल्पपर्यन्त शिवपुर में निवास करता है एवं जो इन स्थानों में निवास करता है वह तो ब्रह्मसदन को भेद कर शांकर पद को प्राप्त करता है-

"अष्टोत्तरं च तीर्थानां शतमेतदुदाहृतम्। यः पठेच्छृणुयाद्वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते।
एषु तीर्थेषु यः कृत्वा स्नानं पश्यति मानवः।। सर्वपापविनिर्मुक्तः कल्पं शिवपुरे वसेत्।
यस्तु मत्परमः स्थानं करोत्येतेषु मानवः।। स भित्त्वा ब्रह्मसदनं पदमभ्येति शांकरम्।"

(-वीरमित्रोदयस्य तीर्थप्रका वोल्यूम ७, पृ0 १३३.)

पूजा के पश्चात् चारों दिशाओं में चौबीस दिए जलाने चाहिये। दीपक ऊपर से गोल एवं बीच में से पतले हों, उनमें लाल बत्ती हो एवं घी से परिपूरित हों (तन्त्रा., २६. ७२स-७३ब)।

पूजन, यज्ञादि में दीपक की सर्वाधिक प्रधानता मानी गई है। स्मार्तविधि में दीपक की महिमा स्वीकार की गई है (अनुष्ठानप्रकाश, पृ0 १३.)। शास्त्रों एवं यज्ञों के आधार पर दीपक के स्वरूप, संख्या एवं जलाने के स्थानों में अन्तर आ जाता है।

कुलयाग में अन्य सामान्य यागों मे प्रयोग में लिए जाने वाले कलश, नेत्र-बन्धादि, मण्डल, स्रुक्स्रुवादि यागोपकरणों के बिना सिद्धि प्राप्त होती है। इसमें मद्यपूर्ण पात्रों के मध्य में कृशोदरी दूती का यज्ञ किया जाता है। दिन-रात इस याग को करते हुए दूसरे दिन प्रातःकाल वीर भोजन करने पर अवश्य ही, बिना प्रयत्न के

मन्त्र-सिद्धि हो जाती है। महाभाग्योदय के लिए इस याग में पीठस्तोत्र का जप किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २६. ७५स-७७)।

पूज्य -

कुलयाग के अन्तर्गत मण्डलनिर्माण आदि अन्य विधियों के बिना केवल चक्रपूजा से भी सिद्धि प्राप्त होती है। चक्र के अन्तर्गत केवल शक्ति अथवा उसकी यामलरूप में अर्थात् कुलेश्वर एवं कुलेश्वरी की पूजा की जाती है। साथ ही केवल वीर साधक, निराचारी निर्विकल्प अवधूत की भी पूजा की जाती है। गुरु का कुलेश्वर से ऐकात्म्य स्थापित हो जाने पर वह कौलेश कहलाता है, वह स्वयं एक होने पर भी विश्वरूप के समान अनेक शक्तियों को यामलयोगपूर्वक तृप्त करता है अर्थात् संघट्टानन्द में सामरस्यपूर्वक उन्हें स्वात्ममात्र में विश्रान्त करता है (तन्त्रा. २६. ७८-६)। पौराणिक मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण एक होने पर भी एक साथ अपनी सोलह हजार रानियों के साथ रमण करते थे। इस प्रसंग में गुरु से भी सम्भवतः यही अपेक्षा की गई है।

काल एवं देश-

तर्पण अथवा कुलयाग के लिए किसी निश्चित समय का निर्देश नहीं किया गया है क्योंकि प्रकाशमय संविद् के प्रकाशन में कोई क्रम नहीं होता और कभी भी चिदभाव नहीं होता। काल की भाँति ही निश्चित स्थान या आसन का भी निर्देश नहीं है क्योंकि संवित् सर्वव्यापी होती है। परमेश्वर स्वंय के शक्तिरूप निवासस्थान में ही विश्रान्त है उसके अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं है जहाँ उन्हें आसन दिया जा सके। इसलिए कहीं पर भी एवं कभी भी उनका तर्पणादि किया जा सकता है।

जप-

श्री योगसंचरशास्त्र में संख्या एवं ध्यान एकाग्र करने के स्थान के आधार पर जप के अनेक भेद निरूपित हैं। विभिन्न स्थानों पर तीन लाख, पाँच लाख, सात अथवा आठ लाख जपों का निर्देश होने के कारण इसे विचित्र स्वरूप वाला जप कहा गया है। विभिन्न स्थानों में जप से तात्पर्य यह है कि मुख, नेत्रादि इन स्थानों पर योगी प्राणवृत्ति को रोक कर चित्त को एकाग्र करता है। इन मार्गों से प्राण का बहिर्गमन सम्भव न होने से प्राण के मध्यधाम में प्रवेश का मार्ग खुल जाता है।

ये तीन लाख जप इन स्थानों में किये जाते हैं :----

प्राण शक्ति के उदयस्थान जन्माधार, अनेक नाड़ियों के संगम-स्थल हृदय, प्राणनिरोध के लिए गाढावधानात्मक शान्तस्थल। इसके अतिरिक्त मुख, प्राण-अपान, अक्षनाड़ी चक्र सूत्रों की भूमि, आत्मा का प्रकाशन करने वाले हंस नामक हृदय, शिवशक्ति समायोगात्मक जन्माधार अथवा द्वादशान्त में पाँच लाख जप कहे गये हैं, जप का दशांश (पाँच लाख का दसवाँ हिस्सा) अर्थात् ५० हजार होम करना चाहिये। नेत्रों, प्राण-अपान, मुख, हंस एवं अक्षसूत्र, शिवशक्तिसमायोगात्मक जन्माधार अथवा द्वादशान्त में छः लाख जप कहे गए हैं। नेत्र, प्राण-अपान, कान, हंस और मुख में, हाथ में एवं शिवशक्तियुग्मरूप जन्माधार या द्वादशान्त में सात प्रकार के जप कहे गए हैं, नेत्र, प्राण-अपान, कर्ण, मुख, रन्ध्र एवं ब्रह्म-रन्ध्र, शतार नाड़ियों में हृदय, नाभि, एवं सहस्रार में

(असंख्यक नाड़ियों में) ८ लाख जप व इसका दसवाँ भाग ४0 हजार होम करना चाहिये) तन्त्रा., २६. ८२-८७)।

नेत्र, प्राण-अपान, कान, मुख, ब्रह्म-रन्ध्र, स्तन, हाथ, पैर, जन्माधार, द्वादशान्त आदि स्थानों में सोलह लाख जप करने का निर्देश दिया गया है (तन्त्रा., २६.८८)।

मुख आदि उपर्युक्त स्थानों में जप-निर्देश का तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ चक्षु अथवा मन जाते हैं, जहाँ योगी अनुसन्धान करता है वहीं हानसमादानधर्मक हंस नामक प्राण विकास और संकोचस्वरूप धारण करते हुए निर्गम व प्रवेशपरायण होता है। इसलिए प्राण (चित्तवृत्ति) के बहिर्गमन के मुखादि द्वारों का निरोध करके अनुसन्धानपूर्वक चित्त को एकाग्र करने पर प्राण का बहिर्गमन सम्भव नहीं होता एवं प्राण मध्यधाम में प्रवेश कर जाता है जिससे ऐकात्म्य प्राप्त करके मन्त्र का उच्चारण करते हुए योगी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। इसलिए सोलह लाखपर्यन्त जपों का निरूपण किया गया है (विवेक, २६. ८६)।

वह देहस्थित हानसमादान-धर्मा हंसरूप प्राण, मन्त्र देवता से ऐकात्म्य प्राप्त कर के संकुचित अणुरूप आत्मा, मातृका देवी एवं शिवरूप में स्फुरित होता है। इसलिए" वह हंसाख्य प्राण अन्य है एवं मैं अन्य हूँ" यह विकल्प नहीं रखना चाहिये, क्योंकि ऐसा विकल्प रखने वाले को सिद्धि एवं मुक्ति प्राप्त नहीं होती है (तन्त्रा., २६. ६0-६१)। शुद्ध-अशुद्ध विकल्पों का त्याग ही एकान्त कहा जाता है। उस एकान्त में स्थित होकर यह प्राण स्वयं ही जप एवं होम करता है। प्राण के सहज नाद की आमर्शनरूप संजल्पवृत्ति ही जप कही जाती है। उससे युक्त चिदग्नि में लय होम कहा गया है। पूर्वतः निरूपित देवी द्वादशात्मक आमर्श में से परप्रमाता की स्वातन्त्र्य शक्तिरूप दो अन्तिम संविदों का द्वादशान्त में लय आहुतिक्रिया है। अन्य दस उसके समीप पहुँचने के प्रयास हैं। इसलिए होम में दशांशता (श्री शम्भुनाथ द्वारा) बताई गई है (तन्त्रा.,२६. ६२-६५)।

कुलयाग के अन्तर्गत स्थान एवं देह की शुद्धि, यागस्थान पर कुलज्ञान के प्रवर्तक सिद्धादि की अर्चना, तर्पण, अर्घपात्रकल्पन, देह में पीठादि न्यास, दीपक, जप, होम आदि कृत्यों के पश्चात् शास्त्रनिर्दिष्ट लक्षणों वाली दूती, जो शक्ति का मानवीरूप मानी जाती है, के साथ अर्चना करने का विधान किया गया है। इस क्रिया को आदि-याग कहा जाता है क्योंकि यह मुख्य चक्र अर्थात् योगिनी वक्त्र से सम्बन्धित है एवं यह परसंवित् की प्राप्ति का एक उपाय है। आदियाग का निरूपण तन्त्रालोक में श्रीवीरावली, हृदयभट्टारक, खेचरीमत, योन्यर्णव, श्रीसिद्धा, उत्फुल्लक, निर्मर्यादशास्त्र आदि के आधार पर किया गया है।

आदियाग - स्वरूप

आदियाग एक विशिष्ट प्रकार का कौलिकयाग है "आदेर्मुख्यचक्रस्य याग इति च "(तन्त्रा., २६.१६४) जो तत्काल योगसिद्धि एवं विभूति प्रदान करता है। यह द्वैत बुद्धि वालों को मोहित करने वाला होने से परम गोपनीय है। यह वीरसाधकों को दुःख-सुख एवं इच्छानुसार भुक्तिमुक्ति प्रदान करने वाला है। इसमें पूजा, दैनिक हवनादि सब योग की प्रक्रियाओं से किए जाते हैं। इसमें सामान्य यागों में काम में आने वाले, कुण्ड, अग्नि में आहुति,

आवाहन, विसर्जन, मूर्तियागकरण, आसन, व्रतचर्या, बाह्यद्रव्य आदि वस्तुओं एवं विधानों का प्रयोग नहीं होता। आत्मानन्द से पूर्ण यह यज्ञ महानन्द एवं सिद्धि को देने वाला है। इसे महाधन की भाँति गुप्त रखना चाहिये, विशेषरूप से द्वैत बुद्धि वालों, अल्पबुद्धि, लोभी, मायी, क्रूर एवं जिज्ञासु को कदापि नहीं बताया जाना चाहिये (विवेक, २६. १६६)।

विधिः-

इस याग में सर्वप्रथम उस मुख्य चक्र की स्थापना करनी चाहिये जिससे समस्त देवी-देवता संयुक्त होते हैं। जयरथ के अनुसार त्रित्रिशूलाब्जखचक्र यहाँ अभिप्रेत है। अभिनवगुप्त के अनुसार देह ही सर्वतत्त्वात्मक शिवरूप परमलिंग है, वही देवताचक्र से युक्त श्रेष्ठ पूजाधाम है। वही मुख्य त्रित्रिशूलाब्जखचक्ररूप मुख्य मण्डल है। उसी में बाहर एवं भीतर देवता चक्र का, उनके अपने-अपने मन्त्र परामर्श एवं कुण्डगोलकादि आनन्ददायी रसों के द्वारा यज्ञ किया जाना चाहिये। यह यजन, सृष्टि एवं संहारविधि से अर्थात् शान्त एवं उदित रूप में किया जाना चाहिये (तन्त्रा.,२६. १७०-७३)।

तर्पणः-

आनन्ददायी द्रव्यों के स्पर्श से संविच्चक्र तत्काल उद्बुद्ध होता है एवं उसका स्वामी समस्त देवताओं को तृप्त करते हुए परमधाम को प्राप्त होता है। इसलिए अनुयाग में उक्त विधि से हृदयहारी द्रव्यों के द्वारा आन्तरिक तर्पण किया जाना चाहिये (तन्त्रा.,२६. १७४-७५)। अभिनवगुप्त ने अपने स्तोत्र में यही कहा है कि" मैं देहरूपी देवसदन में, आनन्दसन्दोह करने वाले स्वभावपुष्पों से देवी सहित तुम्हारी सदैव अर्चना करता हूँ"।

देह की ही भाँति प्राण पर आश्रित देवतागणों का भी तर्पण किया जाता है। प्राणवृत्ति का ब्रह्मनासादि स्थानों का भेदन करते हुए द्वादशान्त में पहुँचना एवं वहाँ पर स्थित चन्द्र का स्रवित होना ही प्राणाश्रित देवियों का तर्पण है जिससे तत्काल ज्ञान एवं सिद्धि की प्राप्ति होती है (तन्त्रा.,२६. १७८-८०)।

देह एवं प्राण की भाँति ही संविन्मात्र पर आश्रित देवीचक्र का विश्वाभोग प्रयोग के द्वारा संविदर्पण करते हुए तर्पण किया जाता है। समस्त तत्त्व-संचय जिसमें लीन हो जाते हैं, ऐसी कालाग्नि के समान चिति शक्ति को शरीर में स्थित देखना ही संविद्देवी का तर्पण है (तन्त्रा.,२६. १८१-२)।

आदियाग का आधारभूत सिद्धान्त है-" परमतत्त्व आनन्दस्वरूप है"। वैदिक दर्शनों में एवं प्रमुखरूप से वेदान्तदर्शन में भी परमतत्त्व ब्रह्म को आनन्दस्वरूप ही माना गया है- "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्"। तान्त्रिक एवं विशेषतः कुल-दर्शन की विशेषता यह है कि यह आनन्द के लौकिक - अलौकिक सभी स्वरूपों को महत्त्व प्रदान करता है। लौकिक आनन्द एवं उसकी प्राप्ति के उपायभूत मकार-त्रय मद्य, मांस, मैथुन- सभी उस परम अलौकिक आनन्दरूप संवित् की प्राप्ति के उपाय होते हैं। इस प्रकार केवल आत्मा का स्वरूप ही आनन्द नहीं है, अपितु इस लौकिक शरीर द्वारा अनुभूत आनन्द भी परमानन्द का ही एक रूप है। इस प्रकार लौकिक विषयानन्द,

जो मद्य, मांस, मैथुनादि से उद्भूत है, भी ब्रह्मस्वरूप ही है एवं उसमें विचरण करने वाला ब्रह्मचारी कहलाने योग्य है-

"ओष्ठ्यान्तत्रितयारेवी ब्रह्मचारी स उच्यते"- (तन्त्रा.,२६. ६८स) ओष्ठ्य पवर्ग के अन्त में आने वाला वर्ण म, से आरम्भ होने वाले मकार- त्रय-- मद्य, मांस व मैथुन का सेवन ब्रह्मचारी के लिए विहित है। किन्तु इस मकारत्रय का उपभोग वासनापूर्ति की दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिये, अपितु स्वात्मानन्द की अभिव्यक्ति के उपायों के रूप में इनका प्रयोग किया जाना चाहिये। इसीलिए जो लोग इस मकार-त्रय का उपभोग लोभपूर्वक विषयेच्छा-पूर्ति के लिए करते हैं वे शास्त्रों में अनिर्दिष्ट विधान को करने के कारण एवं जो घृणा अथवा विचिकित्सा के कारण कुलयाग में इनका प्रयोग नहीं करते हैं, वे शास्त्रविहित विधान को न करने के कारण रौरव नरक में जाते हैं। उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। इस प्रकार आदियाग के लिए यह आवश्यक है कि इसे पर-संवित्-समावेश की दृष्टि से ही किया जाय। वे निर्विकल्पवृत्ति वाले महान् ज्ञानी ही इस याग को करने के अधिकारी हैं जो शरीर द्वारा सर्वोत्तम आनन्द का अनुभव करते समय भी अपनी प्राणवृत्ति को मध्यधाम में प्रविष्ट करवा सकते हैं और यह परीक्षण कर सकते हैं कि उनका संविदद्वैत-भाव में चित्त स्थिर हुआ या नहीं (विवेक , २६.१०२)। साधना का यह स्वरूप और उद्देश्य क्या सामान्यजन पा सकता था, अथवा वह इसके बाह्य स्वरूप से आकृष्ट होकर साधना से भ्रष्ट भी हो सकता था। और फिर, साधना की माया अथवा उसके अद्वैतभाव का निर्णय कैसे होगा- इन प्रश्नों को संविदद्वैतभाव अथवा तादात्म्य के आधार पर हल करना व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता।

दूती -

जिस प्रकार वैदिकयाग पत्नी के बिना पूर्ण नहीं होता, उसी प्रकार आदियाग के लिए दूती अपरिहार्य है। यद्यपि पराशक्ति नित्य उदित रहती है तथापि कौलिकविधि के द्वारा उसे प्राप्त करने के लिए बाह्यचर्या अनिवार्य है एवं बाह्यचर्या दूती के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। बाह्यचर्या-विधि रहस्यपूर्ण है इसलिए इसका अधिक विवरण उपलब्ध नहीं होता। तन्त्रालोक एवं विवेक में उपलब्ध यत्किंचित् विवरणों के आधार पर इसका स्वरूप निरूपित है। बाह्यचर्या में दूती का स्थान प्रमुख है इसलिए सर्वप्रथम त्रिशिरोभैरव एवं तन्त्रराजभट्टारक आदि शास्त्रों के आधार पर दूती का स्वरूप निरुपित है।

लक्षण -

त्रिशिरोभैरव के अनुसार दूती मतवाले नयनों वाली, बिम्बफल के समान ओष्ठपुट, सुन्दर दन्तपंक्ति एवं भ्रूभंग सहित सुन्दर मुख वाली होनी चाहिये। उसके नेत्र भीत बालमृग के समान हो एवं मनोहरहास से युक्त हो। उसके केशपाश उड़ते हुए भ्रमर-समूह के समान हों। उसकी भौहें कामदेव के धनुष के समान एवं दृष्टि सरस हो। चन्द्रमा की किरणों के समान शुभ्रवर्ण हो, कर्णाभरण से शोभित हो, आभूषणों से युक्त कम्बुकण्ठ हो। गज-कुम्भ के समान उन्नत स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई हो। कंगनादि से युक्त सुन्दर आकार की भुजाएँ हों। सर्प के

पाँच फणों के समान ग्रथित अंगुलियों वाला हाथ हो। रत्न से निकलती हुई किरणों के समान कान्तिमान् अंगुलियाँ हों। पूर्ण चन्द्र के समान लावण्ययुक्त मुख वाली एवं मनोहर हो। इन्द्रधनुष अथवा सिंहश्रेष्ठ अथवा चींटी के समान नाजुक कमर वाली हो। रम्भा के समान अथवा हाथी की सूंड के समान श्रेष्ठ जंघा वाली हो। कामरथ के पहिए के समान आभा वाले गुल्फा एवं पैरों वाली हो। लटकते हुए स्वर्णाभूषण एवं हारों से सुशोभित हो। बजते हुए मंजीरों की झंकार के समान मुखर करधनी वाली हो। उसकी मतवाले हाथी के समान गति हो एवं गहरी नाभि हो। हंस के समान गद्‌गद् वाणी हो, शुभभाषिणी हो। भुजबन्ध एवं सुगन्धयुक्त पुष्पों की माला से आभूषित हो। पाँच फणों वाले विशाल सर्प के समान दिखाई देती हो, श्रेष्ठ ताम्बूल की इच्छा वाली हो। नृत्य, गीतादि के समय, नर्तकी अथवा गायिका के मुख से स्वतः (नृत्यगीत सीत्कारलीलाकुट्टमितावृताम्) निकलने वाली ध्वनि के समान सहज नादामर्श से युक्त हो। लोभ एवं मोह से मुक्त चित्त वाली, देवी की अनन्य भक्त, चित्स्वरूपिणी हो, भैरव - तादात्म्य के द्वारा निरन्तर आनन्द का अनुभव करती हो (विवेक , २९.१००)। दूती के इन लक्षणों से प्रतीत होता है कि शास्त्रकारों के अनुसार वही स्त्री जिसमें कामसूत्रों में रति के प्रसंग में वर्णित सभी श्रेष्ठ लक्षण हों, साथ ही मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी जो उच्चतर भूमिका पर स्थित हो, दूती बनाए जाने योग्य होती है।

तन्त्रराजभट्टारक में निरूपित दूती के लक्षणों में उसके बाह्य स्वरूप की अपेक्षा आन्तरिक गुणों पर अधिक बल दिया गया है। तदनुसार जो स्त्री सुभगा हो, सत्य-परायणा हो, दैशिक की आज्ञाकारिणी हो, प्रियवादिनी, सुन्दर स्वरूप वाली, सात्विक, आसक्तिरहित और भैरवीय आचरण से सम्पन्न हो। देवतागण भी जिसे पाने की इच्छा करते हों। सदैव अद्वैतभाव में लीन रहने वाली व उसीका अभ्यास करने वाली, व्रत का दृढ़ता से पालन करने वाली हो, निर्मल बुद्धि वाली हो, सभी को पुत्र के समान समझती हो, सदाचारी कुल में उत्पन्न हो, जिसके कोई सन्तान न हुई हो। सुन्दर बालों वाली, मदमस्त, सुकोमल अंगों वाली, हासपूर्वक सुन्दर लगने वाली, स्नेहशीला, विनम्र स्वभाव वाली, आतिथ्य के लिए तत्पर, अहंकार से रहित व निर्मल हो, मन्त्र के लिए जिसने स्वरूप अर्पित कर दिया हो। नित्य, नैमित्तिक एवं पर्वसम्बन्धी कर्मों को करने वाली हो, कामतन्त्रोक्त क्रियाओं में कुशल हो, देवतर्पण को जानने वाली हो, सभी भावों में सन्तुष्ट हो, ऐसी स्त्री को ही दूती बनाया जाना चाहिये।

उपर्युक्त स्वरूप वाली स्त्री दुर्लभ होने के कारण अभिनवगुप्त ने शक्ति का प्रमुख लक्षण भैरव-तादात्म्य की सामर्थ्य से युक्त होना बताया है-शक्तेर्लक्षणमेतावत्तद्वतो हृयविभेदिता।" (तन्त्रा., २९. १००सद.) । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्ण, जाति, आयु आदि की अपेक्षा नहीं करते हुए अभेद-सामर्थ्य रखने वाली दूती को याग में सम्मिलित किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २९. १०१३अब)।

प्रकार:-

श्रीसर्वाचारहृदय में दूती के छः प्रकार माने गए हैं-

प्रमुखरूप से शक्ति के तीन प्रकार जन्या, जनिका व सहजा हैं जो क्रमशः कार्य, हेतु एवं सहोत्थ अर्थात्

साथ-साथ साधना में प्रवृत्ति के कारण होते हैं। इन तीनों प्रकारों के साक्षात् एवं परम्परा के आधार पर पुनः दो-दो प्रकार होते हैं यथा साक्षात् कार्य सम्बन्ध से एवं कार्य से कार्य होने पर एवं हेतुभूत का भी पुनः हेतु होने पर एवं सहोत्थित का भी कार्य होने पर "कार्यहेतुसहोत्थत्वात्त्रैधसाक्षादन्यथा" (विवेक, २६. १०२.)। अन्यत्र दूतियों के स्वरूप के आधार पर उनके वेगवती, संहारी, त्रैलोक्यक्षोभिणी, अर्धवीरासना, वक्त्रकौला आदि नाम भी बताए गए हैं (विवेक, २६. १०३)।

दौत-विधिः-

दूती को शक्ति का मानवीकृत रूप एवं स्वयं को शिवरूप समझते हुए साधक को वे समस्त क्रियाएँ करनी चाहिये जिन्हें दम्पति रति-क्रीड़ा के अन्तर्गत करते हैं। उनके माध्यम से अपनी समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने पर परमानन्द का उदय होता है। इस प्रकार दूती के साथ स्थापित किया जाने वाला सम्बन्ध न तो पूर्णतः लौकिक अर्थात् शारीरिक होता है और न ही पूर्णतः अलौकिक अर्थात् मानसिक। यह सम्बन्ध लौकिक - अलौकिक से परे तादात्म्यरूप अथवा उससे भी आगे की स्थिति में होता है। शक्ति एवं शक्तिमान् का अपनी इन्द्रियों पर इतना नियन्त्रण होना चाहिये कि वे आनन्द के उदय के क्षणों में अपना ध्यान इन्द्रियानुभूति की ओर से हटाकर उसे केवल आनन्द (शिवशक्ति के ऐकात्म्य) पर केन्द्रित कर सकें। यामल की इस स्थिति में समस्त भेदों का लय हो जाता है। संविद्विसर्ग की यह स्थिति शान्त एवं उदित दोनों अवस्थाओं की उत्पत्तिस्थान-भूत है।

याग के लिए सामान्यतया प्रयोग में लाए जाने वाले बाह्य उपकरणों एवं क्रियाओं का प्रस्तुत याग में स्थान नहीं है। कुलयाग में इनके स्थानापन्न उपकरणों एवं क्रियाओं का स्वरूप जयरथ द्वारा प्रस्तुत भैरवागम के उद्धरण से स्पष्ट होता है। इसके अनुसार कुलपूजन में पुरुष पूजक होता है एवं स्त्री की पूजा की जाती है। दोनों की परस्पर प्रीति ही देवता का आवाहन है एवं नखक्षत पुष्प स्वरूप है। दोनों का आलिंगन धूपभूत एवं शरीर चरू होता है। प्रिया का वाग्जाल मन्त्र है एवं अधरामृत जपस्वरूप है। योनि कुण्डस्वरूप है, लिंग स्रुवा है एवं भगांकुर अग्निभूत है। वीर्य आज्यस्वरूप है। विसर्जन के आनन्दकाल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच प्रकार की वस्तुओं की सन्तति समाधि है, जिसका ज्ञान हो जाने पर साधक शिव को प्राप्त कर लेता है (विवेक, २६. ११०)।

तान्त्रिक गुह्य साधना में संभोग को यज्ञात्मक माना गया है, यह कहाँ तक उचित अथवा अनुचित है, अथवा संभोग लौकिक विधि से कैसे साधना की आध्यात्मिक विधि बन गया व इन दोनों विधियों में विभाजन रेखा क्या हो ये अत्याधिक गूढ़ समस्याएँ हैं। प्रत्येक साधना-विधि का उपयोग एवं दुरूपयोग दोनों सम्भव हैं। प्रस्तुत साधना का दुरूपयोग न हो पाए, इसका वस्तुनिष्ठ आधार क्या होगा? वीर अथवा योगिनी के चैतन्य से प्रदीप्त भैरवीभाव तो नितान्त वैयक्तिक साधना है, जिसका प्रदर्शन अथवा वस्तुनिष्ठ परीक्षण नहीं किया जा सकता, तथापि भैरवागमों में निर्दिष्ट साधनामार्ग निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति द्वारा परमलक्ष्य की ओर ले जाने के कारण प्रशंसनीय है।

शास्त्रों में अनेकत्र स्पष्ट शब्दों में निर्देश दिया गया है-

"दूतीं कुर्यात्तु कार्यार्थी न पुनः काममोहितः"

"स्थित्यर्थं रमयेत्कान्तां न लौल्येन कदाचन"

यह साधना शारीरिक वासनापूर्ति का साधन नहीं है। अपितु साधक एवं साधिका के लिए यह अनिवार्य है कि वे परस्पर एक-दूसरे को (एवं स्वयं को) शिव एवं शक्ति के रूप में देखें। राग-मोह, पाप आदि से सम्बन्ध रखने वाली लौकिक बुद्धि या विचारों को मन में न आने दें एवं इस सम्पूर्ण क्रिया को उच्चतम ज्ञान-भावना से करें। इसमें परस्त्री से सम्बन्धजनित पापादि की शंका करने के लिए स्थान नहीं है क्योंकि कृत्य किस भावना अथवा उद्देश्य से किया जा रहा है, वही उसके औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण करता है। न्याय-सम्बन्धी दण्डविधानों में भी अपराधकार्य के मूल में निहित भावना का ध्यान रखा जाता है। कुलयाग के अन्तर्गत दूती के साथ की जाने वाली क्रियाएँ भी परसंवित् - प्राप्ति का उपाय होने के कारण आदरणीय हैं एवं यज्ञ-स्वरूप हैं। भैरवागमों में निर्दिष्ट संयोग साधना, विषयों से निवृत्ति का नहीं, अपितु उसकी पूर्णता और रसवत्ता का प्रतिपादन है। वस्तुतः संपूर्ण शैव साधना का केन्द्रीय सिद्धान्त लौकिक-अलौकिक, शुद्ध-अशुद्ध, विधि, निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति, विषयता-विपयिता के द्वैत को अस्वीकार कर इससे परे जाकर एकात्मभाव, पूर्णभाव या पराद्वैत की स्थापना है, केवल बुद्धि से ही नहीं, देह से भी। संपूर्ण देह, नारी या पुरुष की, याकि दोनों की एक साथ चिदग्नि में आहूत होकर भैरव बनजाये - तो सभी लौकिक प्रश्न अनर्थक हो जाते हैं, नहीं हो सके तो सब पाखण्ड हो जाता है। .... आगे चलकर भक्तिवादी सन्तों ने पिया की सेज सूली ऊपर बिछाकर मिलने की उत्कट अभिलाषा जगाई थी और राम की बहुरिया भी उसी तरह उतावली थी। अरब और खिस्तीय परंपरा की धार्मिक विधियों में भी देह का समर्पण भाव और उसकी लैंगिक प्रतीकों में अभिव्यक्ति मिलती है। अतः तान्त्रिक साधना का यह पक्ष शैवदृष्टि से कितना भी प्रधान हो, पर उसके मूल बीज वेद में ही नहीं, अपितु उसके विविधरूप अनेक सांस्कृतिक परंपराओं में मिलते हैं। जब ये रूप विकृत लगते हैं तो या तो प्रतीकवाद के द्वारा इनकी व्याख्या अथवा उप - व्याख्या की जाती है अथवा इन्हें सीधे बुरा बताया जाता है। पर सभ्यता उस नये दौर में धर्म के स्थान पर वाणिज्य देह का उपयोग अपनी सिद्धियों के लिए प्रारंभ कर देता है।

अभिनवगुप्त ने स्वयं भी कुलयाग में की जाने वाली क्रियाओं पर सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से उठाए जाने वाले प्रश्नों पर विचार किया है। स्वयं श्रौत एवं स्मार्तविधि से किए जाने वाले यज्ञों में भी मद्य, मांस एवं मैथुन सम्बन्धी क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। सौत्रामणि यज्ञ में मद्य का, नरमेध, अश्वमेधादि में मांस का उपयोग होता है। कुछ यज्ञ विधानों में यजमान-पत्नी के यज्ञीय पशु के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के संकेतों के माध्यम से मैथुन भी श्रौतयज्ञों में होता था। वैदिककाल में भी बृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष एवं स्त्री का पृथक्-पृथक् यज्ञ-सम्बन्धी उपकरणों से साम्य प्रस्तुत किया गया है--

"पुरुषो वा अग्निर्गोतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरंगाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्ननग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्याः आहुत्यै रेतः सम्भवति" -- (६. २. १२.)।

"योषा वा अग्निर्गोतम तस्या उपस्थ एवं समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽगांरा अभिनन्दा विस्फुलिंगस्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहत्यै पुरुषः सम्भवति" (६. २. १३.)। इसलिए इनके प्रयोग से कुलयाग में अशुद्धि की आशंका करना उचित नहीं है। शुद्धता एवं अशुद्धता वस्तुविशेष में न होकर उसके प्रयोक्ता में होती है, इसलिए क्रिया की शुद्धि व अशुद्धि का निर्धारण कर्ता की भावना एवं लक्ष्य के आधार पर किया जाना चाहिये (तन्त्रा., ३. २७२ः विवेक ,३. २६६)। जो संवित् के आनन्दस्वरूप के निकटतम है एवं उसकी प्राप्ति करवाने का उपाय है वह निश्चय ही शुद्ध है।

दूती, जो शक्ति का मानवीरूप है, को आदरपूर्वक यागस्थान पर लाकर उसकी शक्तिरूप में एवं स्वयं की शक्तिमान्रूप में अर्चना करके एवं परस्पर तर्पण (तृप्त) करके अन्तरंग क्रम से मुख्य चक्र का पूजन किया जाना चाहिये (तन्त्रा., २६. १०४स-५ब)। शक्ति एवं शक्तिमान् के, संघट्टवेला में, परस्पर औन्मुख्य से सृष्टि एवं अपने स्वरूप में विश्रान्ति से संहार होता है। इससे उद्‌भूत उभयमयी स्थिति का उल्लास तुर्यांश में होता है और यह स्वतः उदित होता है। इसलिए शक्ति एवं शक्तिमान् का मेलक उत्तम कहा गया है (तन्त्रा., २६. १०४अब)।

देवीरहस्य के अनुसार कुलयाग के अन्तर्गत करणीय कर्म निरूपित है-

मद्य का पुनः पुनः पान, संवित् के मनोमय होने पर्यन्त करना चाहिये, यदि उसमें विकार हो तो वह पान ब्रह्मघात के समान है। मधुपानपरायण मन्त्री शक्ति को रति में सन्तुष्ट करते हुए, देवी का रेतस् के द्वारा एवं शक्ति का पान के द्वारा तर्पण करे। शक्ति का मुखोच्छिष्ट मद्य पीना व वीर के द्वारा छोड़ा हुआ खाना चाहिये। यहीं पर मकार पंचक से संयुक्त श्रीचक्रमण्डल-निर्माण का विधान है। साधकों को भक्तिपूर्वक पान-भोजनादि से तृप्त करके, देवता को इच्छित मिष्टान्न, चर्वणदि से सन्तुष्ट करके, भक्तिपूर्वक गुरु की पूजा करनी चाहिये, शक्ति के माध्यम से तर्पण करके, दक्षिणा व वन्दना से गुरु को सन्तुष्ट करके नित्यकर्म में सिद्धिदायी उसकी आज्ञा को सिर पर धारण करना चाहिये (दे.र., १८. ६-१३)।

लुप्तागमसंग्रह (पृ0 ३८, भाग १) में संगृहीत, महार्थमंजरी में क्रमोदयशास्त्र के उद्धरण के अनुसार समस्त वर्णों की स्त्रियाँ निःसंशय योगिनी होती हैं। कुलयाग के अन्तर्गत, सामान्य याग में की जाने वाली देह-शुद्धि की भाँति लिंग की शुद्धि एवं आत्मा की शुद्धि की भाँति योनि-शुद्धि का विधान है। इसके लिए योनि में नवाक्षरी विद्या एवं लिंग में सप्तदशाक्षरी विद्या का न्यास किया जाता है। नवाक्षर मन्त्र के द्वारा लिंग की पीठ के समान स्थापना की जाती है। पुरुष एवं स्त्री स्वयं की शिव एवं शक्तिरूप में भावना करते हैं एवं मन्थक पुरुष अपनी शक्ति (शुक्लशोणित) का मधु के समान मन्थन करता है। यह योगिनीमेलन गुरु चक्र की पूजा के लिए किया जाता है।

दौतविधि के अन्तर्गत की जाने वाली क्रिया में लौकिक रिरंसा के प्रवेश की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। यद्यपि इसकी सम्भावनाओं के निराकरण का निरन्तर प्रयास किया गया है। इसके लिए दूती के रूप

में पत्नी का परिग्रहण नहीं किया गया है। साधक एवं साधिका को निरन्तर स्वयं के शिवशक्तिरूप की भावना करते रहने का निर्देश दिया गया है, साथ ही क्रिया में प्रवृत्त होने पर भी आवश्यकतानुसार वृत्तिप्रतिक्षेप का विधान है, जिससे लौकिक आनन्द-भोगकी सम्भावना नहीं रहती। तथापि यह कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे इस साधना में लौकिक कामभाव का प्रवेश होने लगा और यह व्यभिचार का रूप धारण करने लगी। सम्भवतः इस स्थिति के निराकरण के लिए मैथुन का प्रतीकात्मक अर्थ किया गया, जिसके अनुसार पराशक्ति का आत्मा से मिलन ही मैथुन है-

"पराशक्त्यात्ममिथुनसंयोगादानन्दनिर्भरः।
य आस्ते मैथुनं तत् स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः।। -कु०त०, ५. ११२

वृत्तिप्रतिक्षेप से तात्पर्य यह है कि जब अनुचक्ररूप इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के सम्पर्क से उच्चतम आनन्द का अनुभव कर रही हों, उस समय साधक उनसे असम्पृक्त होकर अपनी प्राणशक्ति को उन इन्द्रियों अथवा आनन्द की ओर से हटा कर मध्यधाम में प्रवेश कराते हुए स्वरूप-विश्रान्ति को प्राप्त कर सके। यह वस्तुतः आत्मावलोकन की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा साधक अपनी वृत्तियों एवं स्वयं पर अपने नियन्त्रण की परीक्षा करता है, कि वह एक अनुभूति के उच्चतर शिखर पर अवस्थित रहते हुए भी हठात् अपने आपको उससे विलग कर अन्यत्र स्थित कर सकता है कि नहीं।

चित्रगुसंघट्ट मुद्रा

श्रीयोगसंचरशास्त्र में योगिनियों के लिए प्रिय परम मुद्रा, जिसे चित्रगुसंघट्ट मुद्रा कहा गया है, निरूपित है। शक्ति - शक्तिमान् की संघट्टरूप इस मुद्रा का प्रतीकात्मक शब्दों के माध्यम से निरूपण किया गया है। परमतत्त्व का उदित (क्रियोन्मुख) रूप शक्ति, कुण्ड अथवा योनि -स्वरूप है। क्षोभाधार योनि में आह्लाद-प्रदाता सोम की अवस्थिति मानी गई है। शान्तरूप शिवलिंग स्वरूप है, इसमें सूर्य की अवस्थिति मानी गई है। शिव और शक्ति का मेलक परम पद है(विवेक ,२९.१५३)। शक्ति के उदित रूप से सृष्टि का, शिव के शान्तरूप से संहार का एवं दोनों के संघट्ट से समस्त अवच्छेदों को समाप्त करने वाले अनाख्य पद का उदय होता है। इस प्रकार गमशास्त्र द्वारा निरूपित इस त्रिविध विसर्ग(तन्त्रा ., २९.१४२-४३ब) में मेलक उत्तम पद को प्रदान करने वाला बताया गया है। प्रस्तुत मुद्रा मेलक स्वरूप है। इसके अन्तर्गत त्रिकोण शब्दवाच्य योनि पर आश्रित नित्य विकसित मण्डलच्छद कमल अर्थात् लिंग, जो षोडशदलात्मक चन्द्रकमल के मूलभागरूप नाल अर्थात् मध्यनाड़ी, जो सृष्टि का मूल उत्पत्तिधाम है, से सदैव गुम्फित है, ऐसे स्त्रीपुरुषसम्बन्धी सरोज युगल की रजोरेतस् - रूप चन्द्रमा एवं सूर्य की कलाओं के संघट्ट से अग्नि की उत्पत्ति होती है--

"शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः संघट्टात्सूर्यसोमयोः।"

इस प्रकार त्रिदल भगकमल के मध्य में रजोरेतस् के संग से चित्प्रसारात्मक विश्व को अभिव्यक्त करने में समर्थ अंकुर की सृष्टि होती है। चन्द्र एवं सूर्य-सम्बन्धी इस चित्रगुसंघट्ट मुद्रा से तत्काल तुर्य अथवा अनाख्य पद की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., २९. १५०स-५४ब)। इस मेलक से जो अंकुर सृष्टि होती है, उसके द्वारा शरीर धारण करने वाला बालक श्रीवीरावलीशास्त्र के अनुसार गर्भस्थ शिवरूप होता है एवं स्वतः समस्त शास्त्रों का ज्ञाता रुद्ररूप होता है। ऐसे बालक को "योगिनीभू" कहा जाता है। जयरथ के अनुसार

अभिनवगुप्त स्वयं भी योगिनीभू ही थे।

शक्ति एवं शक्तिमान् के प्रस्तुत खेचर मुद्रा में आविष्ट होने के पश्चात् उन्हें अपने पान, उपभोग, लीला, हास आदि क्रियाओं में जो अनुभव होता है, वह अष्टविध विमर्श परम मन्त्रवीर्य माना गया है। ये आठ प्रकार अव्यक्त, ध्वनि, राव, स्फोट, श्रुति, नाद, नादान्त एवं अनाहत हैं। इनसे सम्बन्धित चक्राष्टक पर आरुढ होकर, सहज जप का आचरण करने वाला साधक परमधाम में अष्टकलाभिन्न भैरवाष्टक पद को प्राप्त करता है। चक्राष्टक हैं- प्राणापान, बुद्धि, कान, नेत्र, दोनों लिंगों का स्पर्शमात्र, संघट्टावसर, द्वादशान्त एवं यामलचक्र। प्राणियों में हृदय से लेकर द्वादशान्त तक प्राणगमन की प्रक्रिया में हकार का सहज नाद होता रहता है, जो रति-सौख्य के प्रसंग में कान्ता के कण्ठ से स्थूल एवं अस्फुट रूप "हा हा" शब्दों के रूप में सुनाई देता है, उस कुचमध्यास्थित हृदयदेश से अष्टविध एवं अर्धचन्द्रादि अष्टकलाओं से उल्लसित होने वाले नादभैरव की प्राप्ति होती है। अर्धचन्द्र, नाद, स्पर्शात्मा शक्ति के माध्यम से होने वाली यह परमा मान्त्री व्याप्ति कही गई है (तन्त्रा., २९. १५४स-६०ब)।

कौलिक साधना की यह प्रक्रिया अलेख्य है क्योंकि यह मुख्यचक्ररूप आनन्दधाम योगिनीवक्त्र में स्थित है एवं वहीं से परम्परया संक्रमित होती है। योगिनीवक्त्र में होने वाली अनुभूति संवित्-स्वरूप होती है एवं संवित् का लेखन कथमपि संभव नहीं है (तन्त्रा., २९. १२५स-२६ब)।

आदियाग का प्रस्तुत विधान श्रौत एवं स्मार्तविधि के अनुसार किए जाने वाले गर्भाधानादि संस्कारों से तुलनीय है। धर्मशास्त्रकारों का मानना है कि इन संस्कारों के माध्यम से रजोवीर्य - सम्बन्धी दोषों का निराकरण होकर शुद्ध एवं योग्य सन्तति उत्पन्न होती है। संस्कारतत्त्व (पृ० ८५७) में दिए गए हारीत के उद्धरण के अनुसार जब कोई व्यक्ति गर्भाधान विधि के अनुसार सम्भोग करता है तो वह अपनी पत्नी में वेदाध्ययन के योग्य भ्रूण स्थापित करता है, पुंसवन संस्कार के द्वारा वह गर्भ को पुरुष या नर बनाता है, सीमन्तोन्नयन के द्वारा वह माता-पिता से उत्पन्न दोषों को दूर करता है, बीज, रक्त एवं भ्रूण से उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण एवं समावर्तन संस्कार से दूर होते हैं। इस प्रकार इन सब संस्कारों से सन्तान में विभिन्न दोषों का निराकरण कर के पवित्रता का आधान किया जाता है। ऐसी सन्तान तान्त्रिक विधि से उत्पन्न "योगिनीभू" के समकक्ष मानी जा सकती है।

मकार-त्रय और इसमें भी प्रमुखरूप से मैथुन को अपने शास्त्रसम्मत कर्मकाण्ड में सम्मिलित करने के कारण तान्त्रिकदर्शन की वेदानुयायियों द्वारा प्रायः निन्दा की जाती है। तन्त्रशास्त्रों में जिस साधना के अन्तर्गत मैथुन का निर्देश किया गया है वह एक उच्चस्तर की यौगिक साधना है जिसमें लौकिक काम-भावना का सर्वथा निषेध है। स्मार्तविधि में भी काम-भावना से रहित होकर किए जाने वाले स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के प्रमाण उपलब्ध हैं-

"घृतोनाभ्यज्य गात्राणि तैलेनापि घृतेन वा।

मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्।।

कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः ।
नियुक्तो गुरुभिर्गच्छेद्भ्रातुर्भार्यां यवीयसः ।।"

साथ ही वैदिक परम्परा में यज्ञों के सन्दर्भ में मिथुनीकरण की प्रवृत्ति प्रधानता से पाई जाती है। यज्ञीय द्रव्यों, मन्त्रों, कृत्यों एवं देवताओं सभी में प्रतीकात्मक मिथुन स्थापित किया गया है। यज्ञीय द्रव्यों के अन्तर्गत सुक् (स्त्री) एवं सुवा (पुरुष), वेदी (स्त्री) एवं अग्नि (पु0) का मिथुन प्रमुख एवं अनेकत्र निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त सोम के शुद्ध एवं मिश्रित रूप का भी मिथुन माना गया है। सोम भरने के मिट्टी एवं लकड़ी के पात्र भी मिथुनरूप हैं। चावल (पु0) एवं घी (स्त्री); शूर्प (पु0) एवं अग्निहोत्रवणी (स्त्री); स्फयकपाल (पु0) एवं शम्या (स्त्री); उलूखल (स्त्री) व मूसल (पु0); दृषद् (स्त्री) व उपल (पु0) आदि के मिथुन भी उल्लेखनीय हैं (श0 ब्रा0, ३.३८ एवं मै0स0, ४.६.३)।

यज्ञीयकृत्यों के अन्तर्गत दर्शपूर्णमास यज्ञ के लिए पानी लाने की क्रिया को प्रणयन एवं पानी को प्रणीता कहा जाता है। अग्नि एवं प्रणीता जल का मिथुनीकरण किया गया है। अग्नि उत्पन्न करने की क्रिया में स्त्री-पुरुष मथ्यमन्थक भाव को देखा जाता है (श0ब्रा0, १. १.१.१२ एवं २१)।

वैदिक मन्त्रों के अन्तर्गत प्रणव को पुरुष एवं उसके वाणीरूप को स्त्रीरूप माना है। स्वाहा को अग्नि की पत्नी के रूप में माना गया है। द्वन्द्व अथवा युगलरूप में अश्विनौ देवता, अग्नि एवं सोम स्वयं ही द्वन्द्वरूप माने गए हैं। मिथुनरूप में द्यावापृथिवी अनेकत्र उद्दिष्ट हैं।

शतपथब्राह्मण (११३.३.१) में वैदिक कर्मकाण्ड में प्रयुक्त प्रमुख मिथुनों का छः प्रकारों में निरूपण किया गया है-

१. यजमान एवं उसकी पत्नी
२. बछड़ा एवं अग्निहोत्री की गाय
३. वेदी एवं ज्वाला अथवा चिंगारी
४. स्रुक् एवं स्रुवा
५. आहवनीय अग्नि एवं समिधा
६. हवि एवं स्वाहाकार।

वेदों में मिथुनीकरण का प्रयोग प्रतीकात्मक रुप में अधिक है। दाम्पत्य-क्रीड़ा के परिचायक के रूप में मिथुनीकरण कुछ ही स्थलों पर किया गया है। महाव्रत में मागध द्वारा दाम्पत्य-क्रीड़ा का निरूपण है - "मागधं च पुश्चलूंच दक्षिणे वेद्यन्ते मिथुनीकारयन्ति - मिथुनत्वाय प्रजननाय" (जै0ब्रा0, ॥ ४०५)। यजमानपत्नी के मानवेतर संयोग-सम्बन्ध यथा अश्वमेध-यज्ञ में अश्व के साथ एवं अन्य स्थल पर वृषाकपि के साथ विचारणीय है। वे वास्तविक न होकर अभिप्रायात्मक या प्रतीकात्मक प्रतीत होते हैं।

उपनिषदों में परमतत्व के आनन्दात्मक स्वरूप को रामझाने के लिये लौकिक आनन्द के उदाहरण के रूप में स्त्री-पुरुष-सम्भोग को प्रस्तुत किया गया है-

"यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तररा, तथैवेदं तद् ब्रह्म" (बृ.उ.)।

नाटयशास्त्र की मान्यता के अनुसार शृंगार समरत इन्द्रियों को तृप्त करने के कारण ऐन्द्रिक आनन्द का वह

समन्वितरूप है जो हृदय को प्रफुल्लित करता है । यही स्थिति दूतीयाग में भी होती है जो परमानन्द की अनुभुति की ओर ले जाती है । स्पन्दकारिका में भी कहा गया है कि क्रोध, स्नेहादि भाव जब अपनी चरम सीमा पर होते हैं, तो इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं एवं स्पन्द तत्त्व की स्पष्ट अनुभुति होती है। यदि योगी इस अनुभूति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है तो इन भावों के उद्भूत होते समय वह अपनी इन्द्रियों को उस विषय से हटा कर अन्तर्मुखी करके, इसे प्राप्त कर सकता है -

"कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ।।"

अभिनवगुप्त के अनुसार आदियागरूप क्षोभ के प्रारम्भ, अन्त व विराम में होने वाले सीत्कारादि में ही अमृतस्वरूप परमधाम की अभिव्यक्ति होती है। सर्वप्रथम इन्द्रियादि करणचक्र के क्षोभोन्मुख होने से सीत्कारादि का उदय होता है, तत्पश्चात् उसी में विश्रान्ति से, परसामरस्यात्मक समावेश के द्वारा देहात्मक प्रमातृभाव का निमज्जन होता है एवं चित्प्रमातृता का उन्मज्जन होता है। यही वस्तुतः समाधि है (तन्त्रा. एवं विवेक, ३. १६६स-६७ब)।

मुख्य चक्रपूजन (आन्तरक्रम)

आदियाग के अन्तर्गत चक्रपूजन प्रधान है। चक्र से यहाँ विशेष अर्थ गृहीत है। जहाँ संवित् के आनन्द का दोहन होता है अर्थात् आनन्दरूपिणी संवित् जहाँ विकास अथवा उच्छलन को प्राप्त करती है, देह में स्थित उन स्थानों को चक्र कहा गया है। आनन्दसन्दोह की मात्रा अथवा प्रमुखता की दृष्टि से चक्र के दो प्रकार मुख्यचक्र एवं अनुचक्र माने गए हैं। इन स्थानों की अधिष्ठात्री शक्तियों के रूप में करणेश्वरी आदि देवियों की भी कल्पना की गई है। अनुचक्रदेवियों को तृप्त करने से मुख्य चक्र में विश्रान्ति मानी गई है। अनुचक्र के अन्तर्गत पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन-इन अक्षषट्क की गणना है एवं मुख्य चक्र जिसे योगिनीवक्त्र, आनन्दधाम आदि कहा गया है, देह में आनन्द की सर्वाधिक अभिव्यिक्त के स्थल कामेन्द्रिय को माना गया है।

चक्र शब्द की व्युत्पत्ति "कसी विकासे, चक तृप्तौ, कृतीच्छेदने, डुकृञ्करणे" आदि धातुओं से सिद्ध होती है। इस आधार पर विकास करने वाला, तृप्त करने वाला, काटने वाला अथवा करने वाला चक्र होता है (तन्त्रा. एवं विवेक, २६. १०६स-७ब)।

इस प्रकार मुख्यचक्र योगिनीवक्त्र का पूजन आनन्ददायी द्रव्यों से करने का विधान है। आनन्ददायी द्रव्य मद्य, मांस, मैथुनादि एवं इनके सहयोगी गन्ध, धूप, मालादि के द्वारा अनुचक्रों के माध्यम से मुख्य चक्र को तृप्त करते हुए विकास अथवा समुच्छलन को प्राप्त होती है (तन्त्रा., २६. १०८स-६ब)। इन्द्रियादि के माध्यम से संविद्देवी को तृप्त करने के कारण यह बाह्ययाग तर्पण कहा गया है--

"यागश्च तर्पणं बाह्ये विकासस्तच्च कीर्त्यते।।" (तन्त्रा., २६. १०७सद)।

आनन्दरूपिणी संवित् की प्राप्ति क्रम से भी होती है व अक्रम से भी। क्रमशः आनन्द की ओर गमन

बाह्येन्द्रियों को तदनुकूल विषयों के द्वारा सन्तुष्ट करते हुए होता है। इसके अन्तर्गत अनुचक्रदेवियों अर्थात् इन्द्रियगत संवित् को तदनुकूल आलिंगन-चुम्बनादि विषयों से सन्तुष्ट करके संविन्मरीचि के परिपूरण से वीर्ययुक्त होकर शक्तिमान् एवं शक्ति परस्पर उन्मुख होते हुए संघट्ट को प्राप्त करते हैं। त्रिशिरस्तन्त्र के अनुसार छहों इन्द्रियों में से जो संक्षोभ-काल में भी अपने विषय में आसक्ति नहीं रखते हुए अपने निर्मल स्वरूप में विश्रान्त रहती है, योगी को उसी का आश्रय लेकर मुख्य चक्रात्मक परप्रमातृदशा में समावेश करना चाहिये। अपने-अपने विषयों के आस्वादन के चमत्कार से उल्लसित अनुचक्रदेवियाँ संवित् के विश्रान्तिस्थान परमानन्दरूप मुख्य संविच्चक्र में विश्रान्त होती हैं (तन्त्रा., २९. १०९स-११३ब)। इस विश्रान्ति के बिना वे स्वरूपरहित एवं अपने-अपने अर्थों का आहरण करने में असमर्थ होती हैं, इसलिए वे अपने विषयों के आस्वादन-पूर्वक आनन्द की आकांक्षा रखते हुए स्वरूप-लाभ के लिए उन्मुख रहती हैं। ये करणरश्मिरूप देवियाँ संवित् के बाह्य आभासनरूप भावों का आस्वादन करती हुई, उनके माध्यम से संवित् के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर के उसमें विश्रान्ति प्राप्त करती हैं। बाह्यरूप में स्थित पदार्थों की अनुभूति को वे स्वात्मा में समर्पित करती हैं (तन्त्रा., २९. १३५स-३८ब)। प्रस्तुत दर्शन के अनुसार यह जड़ जगत् भी परासंवित् का आभासन है एवं उसकी प्राप्ति, अनुभूति का साधन भी है। इस जगत् के भोगों की अनुभूति का परमसंवित् को अर्पण वैष्णवादि अन्य दर्शनों की इन मान्यता (कि समस्त जगत् ईश्वर की रचना है, ईश्वर की भक्ति एवं उसे कुछ अर्पण करने वाला साधक, वस्तुतः उसी की वस्तु उसे लौटा रहा है) "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये" के अत्यधिक निकट है। इस अर्पण से चक्रेश्वर परमप्रमाता का भी वीर्य विक्षोभ होकर शीघ्र बाह्य समुच्छलन होता है (तन्त्रा., २९. १३८स-३९)। वैदिक प्रतीकात्मक मिथुन की भाँति यहाँ भी इन्द्रिय-शक्तिरूपिणी अनुचक्र देवियों एवं प्रामातृरूप चक्रेश्वर का मिथुन अभिनवगुप्त के द्वारा निरूपित है।

शक्ति एवं शक्तिमान् के सामरस्य के शान्त एवं उदित दोनों रूप एकसाथ उदभूत होते हैं। शान्त रूप आत्मगत होता है एवं उदित रूप परस्पर सम्मिलित रूप में स्थित होता है। इन दोनों रूपों से परे अनुत्तर धाम, जो इन दोनों का उत्पत्ति स्थान है, को परं कौल कहा गया है। इस स्थिति में प्रशम एवं उदयभाव का विलय हो जाता है। यह चितिदेवी का अनवच्छिन्न पारमार्थिकरूप है, इसे आत्मसात् करके साधक संवित् के अनवच्छिन्न पद को प्राप्त कर लेता है (तन्त्रा., २९. ११७-१२०ब)।

शक्ति एवं शक्तिमान् का यह यामल शान्त आत्मा में अभेद-भाव से विश्रान्त रहता है। शक्ति एवं शक्तिमान् दोनों में ही शान्तोदित स्वरूप-परामर्श समान रूप से रहता है, तथापि शक्ति ही शक्तिमान् से युक्त होकर सृष्टि उत्पन्न करती है, शक्तिमान् नहीं। इसीलिए शास्त्रों में शक्ति को "प्रविकस्वरमध्यप्रदा" अर्थात् जिसका मध्यधाम विकसित है, कहा गया है (तन्त्रा., २९. १२०स-२१ब)। लोकव्यवहार में भी स्त्री ही पुरुष से संयुक्त होकर सृष्टि उत्पन्न करती है एवं उसका मध्यधाम (पेट) विकसित होता है।

केवल अनुचक्र देवियों के माध्यम से मुख्य चक्र में विश्रान्ति ही नहीं होती, अपितु योगिनीवक्त्ररूप मुख्यचक्र में

संघट्टवेला में प्रविष्ट शक्तिशक्तिमान् के तारतम्य से देहाभिमान समाप्त हो जाता है एवं उस पूर्णता-लक्षण स्वात्मचमत्कार से उनके अनुचक्र (इन्द्रियादि) भी क्षुभित होते हैं अर्थात् एकात्म्य का अनुभव करते हैं। इस प्रकार भेद का विगलन हो जाने पर यह युगल यामल कहलाता है एवं क्रम अथवा तारतम्य होने पर संवित् का वही संघट्ट विसर्ग रूप होता है। यह शिव-शक्ति-सामरस्य शान्त एवं उदित अर्थात् विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय रूपों से परे है एवं उनका उत्पत्ति-स्थान है (तन्त्रा., २६. ११४स-१७ब)। सामरस्य की यह अवधारणा अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म से (जिसे विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय माना जाता है) सर्वथा भिन्न है।

शक्ति अथवा स्त्री को परमतत्त्व से भी उच्चस्तर प्रदान करना कौल-सम्प्रदाय की अपनी विशेषता है। परमतत्त्व का स्वरूप ही शक्तिमय होना है (न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता।। - विवेक, ३. ६७) एवं उसकी प्राप्ति के लिए जो साधना-मार्ग निर्दिष्ट है, उसमें शक्ति का सहयोग अनिवार्य है। अन्य दर्शन जैसे वेदान्त परमतत्त्व के स्तर पर शक्ति अर्थात् माया को अस्वीकार कर देता है, सांख्य की प्रकृति सक्रिय होने पर भी जड़ है, इस कारण सृष्टि-विकास को करने वाली होने पर भी उसका श्रेय पाने में असमर्थ है। काश्मीर शैवदर्शन में सृजनकारिणी शक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप स्थान एवं सम्मान प्रदान किया गया है।

साधना-मार्ग में भी अन्य धर्म-सम्प्रदाय नारी को हेय, मोक्षमार्ग की बाधिका स्वरूप मानते हैं। बौद्धधर्म के संघों में पहले स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था। जैनधर्म, हिन्दूधर्म, किसी में भी स्त्री को साधना या तपश्चर्या में सहायिका नहीं माना गया है। जबकि कुलज्ञान तो स्त्रीमुख में ही निहित माना गया है एवं उसी के माध्यम से ज्ञान-परम्परा का निर्वाह होता है--

"स्त्रीमुखे निक्षिपेत्प्राज्ञः स्त्रीमुखाद्ग्राहयेत्प्रिये।।"

यही नहीं, सामान्यसाधक को नियतव्रत धारण करते हुए साल भर में जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह स्त्रियों को एक दिन में ही प्राप्त हो जाती है एवं स्त्री के माध्यम से साधक को भी शीघ्र सिद्धि होती है--

"स्त्रीमुखाच्च भवेत्सिद्धिः सुसिद्धं तासु तत्पदम्।।" (विवेक)

किसी भी वर्ण अथवा जाति की क्यों न हो स्त्रियाँ सदैव योगिनीरूपा मानी गई हैं-

"स्त्रियः सर्वेषु योगिन्यः स्युर्न संशयः।" (म०म०प०, ८४)

इसीलिए कल्लटनाथ ने स्वशरीर से भी अधिक सद्भाव से संस्कृत शक्ति को साधना आथवा उपदेश में सम्मिलित करने का निर्देश दिया है (तन्त्रा., २६. १२३ब-२४स)।

इसीलिए स्वयं भगवान् महेश्वर ने भी योगिनीवक्त्र, जिसका दूसरा नाम पिचुवक्त्र भी है, को ही मुख्यचक्र माना है। उसी के माध्यम से प्रस्तुत साधनाक्रम एवं परसंवित् समावेश की प्राप्ति सम्भव है (तन्त्रा., २६. १२४स-२५ब)। योगिनीवक्त्र अथवा शक्ति का न केवल साधना में अपितु ज्ञानप्राप्ति एवं परम्परा को वहन करने में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि कुल-परम्परा में गुरु के साथ-साथ उसकी शक्ति का भी सदैव स्मरण-पूजन किया जाता है।

कुण्डगोलक-द्रव्य-

मुख्यचक्र का तर्पण कुण्डगोलक नामक द्रव्य से किया जाता है। सिद्धि के इच्छुक बुभुक्षु के लिए विशेष रूप से, कुण्डगोलक द्रव्य का आहरण करने और उसके द्वारा देवीचक्र का तर्पण अथवा संविन्नैकट्य का पूजन, अपने शुद्धतम शरीर के द्वारा करने का विधान किया गया है। जबकि मुमुक्षु के लिए स्वात्मा से उल्लसित शान्त एवं उदित धामों में इन अवस्थाओं की हेतुभूत संघट्टमयी, विसर्गमयी सत्ता के अनुसन्धान का विधान है (तन्त्रा., २६. १२६स-२८ब)। वह (कुण्डगोलकाहरण) भी परस्पर मुख से मुखगामी कहा गया है। अजर-अमरपद प्रदान करने वाला कुलसंज्ञक श्रेष्ठ (द्रव्य) है (तन्त्रा., २६. १२६स-२६ब)। कुण्डगोलक द्रव्य के आहरण की विधि विवेककार के उद्धरण के अनुसार इस प्रकार है। सर्वप्रथम गोलक (लिंग) एवं कुण्ड (योनि) को द्रवित करके, उनमें स्थित महारस का मुख से ग्रहण करे, तत्पश्चात् उसे शक्ति के मुख में ग्रहण करवाकर पुनः अपने मुख में लेकर, मद्य से पूरित पात्र में डालना चाहिये। इस प्रकार कल्पित अर्घपात्र समस्त सिद्धियों को देने वाला होता है। उसी द्रव्य के द्वारा चक्र को तृप्त भी किया जाना चाहिये।

"वक्त्राद्वक्त्रप्रयोगेण समाहृत्य महारसम्।
तेन सन्तर्पयेच्चक्रं देवतावीरसंयुतम्।"

कुण्डगोलक द्रव्य के द्वारा ही मन्त्रविद्या का यजन किया जाना चाहिये--- "उभयोत्थेन वीर्येण मन्त्रविद्यां यजेत्तथा।"

सिद्धि की इच्छा से संवित् के अभ्युदित रूप का यजन करने वाले ज्ञानरहित बुभुक्ष साधक भी चक्रस्थ देवताओं की परिकल्पना के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। उनके लिए शक्ति से सम्बन्धित योगिनीवक्त्ररूप मुख्य चक्र में आनन्दरसमय होकर, अपने उसी अभ्युदित रूप से, पूर्वोक्त क्रम से चारों दिशाओं में गणेशादि की पूजा का विधान किया गया है। मध्यम पद में कुलेश्वर एवं कुलेश्वरी की व उसके बाहर त्रिकोण के तीनों अरों में परादि देवियों की व उसके बाहर चतुष्कोण में, सिद्धादि चतुष्क एवं द्वादशार में द्वादशकाली एवं अष्टार में अघोर्यादि अथवा माहेश्यादि अष्टक की पूजा पूर्वतः निरूपित है। इस बाह्य पूजन के साथ स्वयं की देहरूप धाम में भी समस्त देवताओं एवं पीठादि की पूजा की जाती है (तन्त्रा., २६. १२६स-३२)।

संवित् के शान्तरूप की उपासना करने वाले मुमुक्षु शान्त निस्तरंग सागर की भाँति शान्तशिवपद को प्राप्त करते हैं। उस पद में समस्त चक्रस्थित देवतागण भी भावों का क्षय हो जाने से शून्य का आलम्बन करके निरानन्द अवस्था में विश्रान्त रहते हैं (तन्त्रा., २६. १३३स-३५ब)।

इस प्रकार साधक की इच्छा, भोग अथवा मोक्ष के आधार पर कुलयाग के अन्तर्गत साधना-प्रक्रिया में अन्तर निर्दिष्ट है। भोग अथवा सिद्धि के इच्छुक साधक के लिए निर्दिष्ट साधना भी भोगयुक्त है एवं ज्ञान-प्रधान अथवा संविद्रूपतापत्तिरूप मोक्ष के इच्छुक के लिए ज्ञानप्रधान साधना का ही निर्देश किया गया है। इस प्रकार कुलयाग शारीर एवं अशारीर, भोगात्मक तथा ज्ञानात्मक एक साथ हैं। ज्ञानप्रक्रिया के समय बाह्य देहसाधना

प्रतीक बन जाती है जैसेकि संहिता में प्रतिपादित कर्मकाण्ड आरण्यकों और उपनिषदों की साधना में बाह्य की अपेक्षा आन्तर अथवा चैत्त हो जाता है। तन्त्रालोक की साधना में कर्म एवं ज्ञान दोनों काण्ड एकसाथ प्रतिपादित है।



सप्तम परिच्छेद

मन्त्र, मण्डल एवं मुद्रा

मन्त्र

मन्त्र कर्मकाण्ड का अविभाज्य अंग है। वैदिक यागों में प्रत्येक कृत्य से पूर्व निश्चित मन्त्र का प्रयोग अनिवार्य होता है। श्रौतसूत्रों में ऋचाओं - साम, यजुष् आदि को मन्त्र की संज्ञा दी गई है (ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः - का०श्रौ०सू०, ३.१.)। वैदिक मन्त्रों के पाँच प्रकार माने गए हैं - करण मन्त्र, क्रियमाणानुवादी, अनुमन्त्रण, जपस्तुति एवं वस्तु-तत्वाख्यापक मन्त्र। तान्त्रिक कर्मकाण्ड में मन्त्रों का महत्त्व केवल यज्ञादि में उपयोग की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु ये स्वयं सिद्धि व मुक्ति प्राप्त कराने वाले महत्वपूर्ण साधन माने गए हैं, किंवा इन्हें परमार्थ-स्वरूप ही स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार वेद में देवता मन्त्रात्मिका है उसी प्रकार तन्त्र में भी मन्त्र के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध होता है। वेद स्वयं को ही छन्दस् कहा जाता है जबकि तान्त्रिक मन्त्र मातृका-मालिनीरूप होते हैं। कलियुग में विशेषरूप से तान्त्रिक मन्त्रों का ही महत्त्व स्वीकार किया गया है -

"कलौ तन्त्रोदिता मन्त्राः सिद्धास्तूर्णफलप्रदाः ।

शस्ताः कर्मसु सर्वेषु जपयज्ञक्रियादिषु।।" -म०नि०त०, २.१४. ।

तान्त्रिक ग्रन्थों में मन्त्र : स्वरूप

मन्त्र शब्द "मनु अवबोधने" एवं "तृ पालने" के द्वारा निष्पन्न माना गया है। निरुक्ति एवं स्वरूप दोनों दृष्टियों से इन्हें मननत्राणधर्मा कहा जाता है--

"मननत्राणधर्मा पूर्णाहंविमर्शपरमार्थो मन्त्रः" - स्व०चि०वि०, ८४

परात्रिंशिका विवृत्ति के अनुसार मन्त्र वे महिमामय वर्ण हैं जिनका स्वभाव मनन करवाना एवं त्राण देना है। ये लौकिक एवं लोकोत्तर (पारमेश्वर-रूप) होते हैं एवं क्रमशः विकल्प एवं संवित्-शक्ति से सम्बद्ध होते हैं ('मन्त्राः वर्णभट्टारकाः लौकिक पारमेश्वरादिरूपाः मननत्राणरूपाः विकल्पसंविन्मयाः' पृ० ३८४)।

स्वच्छन्दतन्त्र के टीकाकार क्षेमराज के अनुसार मननत्राणधर्मात्मक मन्त्र आन्तरिक गुप्त-भाषण- (जप) पूर्वक परम परामर्श तक पहुँचाते हुए परम तत्त्व की प्राप्ति के उपाय हैं एवं इस प्रकार वे स्वयं परमेश्वरात्मक ही होते हैं ('मन्त्रोऽपि अन्तर्गुप्तभाषणात्मकपरपरामर्श सतत्वेन मननत्राणधर्मा परतत्वप्राप्त्युपायः परमेशात्मैव' -स्व०त०उ०, ११.१३)।

शिवसूत्रों में चित्त को ही मन्त्र कहा गया है - "चित्तं मन्त्रः" (३.१)। वस्तुतः चिति शक्ति के स्वातन्त्र्य के संकोच की दशा ही चित्त है। चेतना - चित् से उपरक्त बुद्धि चित्त है। वह चित्त जब बाह्य वेद्य-समूह को उपसंहृत करके अन्तर्मुख हो अपनी चिद्रूपता के साथ अभेद-विमर्श स्थापित करता है, तब उसे मन्त्र कहा जाता है। इसीलिए इस सूत्र की व्याख्या में विमर्शिनीकार ने कहा है कि मन्त्र देवता के विमर्श में तत्पर एवं उस देवता से

जिसने सामरस्य प्राप्त कर लिया है ऐसे आराधक का चित्त ही मन्त्र है न कि विशेष वर्ण-विन्यास (मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यमाराधकचित्तमेव मन्त्रः न तु विचित्रवर्णसंघट्टनामात्रम् - शि०सू०वि०, ३.१)।

महार्थमंजरी की टीका परिमल (पृ० ८४) में उद्धृत क्रमसद्भाव के उद्धरण के अनुसार संवित् की सृष्टिस्थितिसंहारमयी अवस्थाओं में से स्थिति मन्त्ररूप होती है - "स्थितिर्मन्त्रः प्रकीर्तितः"। विवेककार जयरथ के अनुसार मन्त्र ओंकारात्मक होता है - "मन्त्रः अकारोकारमकारात्मा" (विवेक, १. ८३)।

तन्त्रालोक में मन्त्र का स्वरूप

प्रमातृ-भाग से सम्बन्धित अध्वा के स्थूल,सूक्ष्म एवं पर रूप पद, मन्त्र एवं वर्ण हैं। वर्णों को पर इसलिए कहा गया है कि ये पद एवं मन्त्र दोनों में व्याप्त होते हैं। वर्ण एवं मन्त्र दोनों शिवरूप हैं --

"सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।

शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।" शि.सू.वि.,पृ० ५१.

वर्ण जब स्थूल जगत् से सम्बन्धित होता है तो शोधन किए जाने योग्य होता है। उसी वर्ण का जब शिवरूप में ध्यान किया जाता है तब शोध्य बन जाता है-- "एवमेक एव वर्णः शिवात्मकतयानुध्यातः शोधकोऽन्यथा तु शोध्य इत्यत्र तात्पर्यम्" (- विवेक, १६.२१६)।

अभिनवगुप्त के अनुसार पद एवं मन्त्र एक ही हैं - "तदेव च पदं मन्त्रः।" पद बहिर्मुखता की स्थिति है जबकि मन्त्र अन्तर्मुखता की। प्रमात्रंश का आश्रय लेकर बहिर्मुखता से प्रक्षुब्ध होकर अध्वा का जो प्रमाणात्मक रूप है उसे ही पद कहा गया है। "पद्यते ज्ञायतेऽनेनार्थः" इस निर्वचन से भी पद अवगमात्मक ही ठहरता है। अध्वा का भी अवगति में समावेश होने से यही प्रमाणात्मकता में कारण है। प्रकाशावेश के बिना कुछ भी प्रकाशन-योग्य नहीं है और न ही प्रकाशनक्रिया है। इसलिए जब अध्वा का ही अंश बहिर्मुख हो कर प्रकाशनपरक होता है, तब वह प्रमाणरूप पद एवं वही जब प्रमाणात्मक रूप से च्युत होकर अन्तर्मुख होने के कारण अक्षोभ को प्राप्त होता है तब वह प्रमात्रात्मक मन्त्र होता है। क्षोभ का अभाव होने के कारण मन्त्र गुप्तभाषी, अन्तःपरामर्शात्मक होता हुआ मननपरक होता है (तन्त्रा. एवं विवेक, ११.४४-५)।

अभिनवगुप्त के अनुसार मननत्राणधर्मात्मक मन्त्र का प्रमुख लक्षण उसका अहंपरामर्शात्मक होना है (मननत्राणदं यत्तु मन्त्राख्यम् ...., ३७. १८ स)। अहं परामर्श से रहित मन्त्र शरत्कालीन बादलों की भाँति निरर्थक है।-

"आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राःस्यु. शरदभ्रवत्" - तन्त्रा., ३.२२अ.

प्रकाशरूप शिव की आत्मविश्रान्ति अहंभाव मानी गई है (प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः - अ०प्र०सि०, २२)। समस्त मातृकाओं का सूचक शब्द भी अहम् ही है। अ - अनुत्तर से प्रारंभ होने वाली पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति हकार तक स्वयं को स्थूल रूपों में आभासित करती है एवं पुनः अनुत्तर स्वात्मा में ही

विश्रान्त होती है। इसीलिए अहंपरामर्श सम्पूर्ण विश्व का सूचक, प्रमाता से अभिन्न एवं परम मन्त्रवीर्य माना गया है (विवेक, ३. २२२)। यहाँ तक कि श्लोक, गाथादि अन्य वृत्त भी आदिमानन्त्ययुक्त होने एवं उस (अहं.परामर्शात्मिका) दृष्टि से देखे जाने पर मन्त्ररूप ही माने गए हैं (तन्त्रा., ३. २२५)। वर्णों में अहंपरामर्श ही उसे मन्त्रात्मक बनाता है। वह वर्ण चाहे जितने रूपों या आकारों में आये, वह सब अहंपरामर्श के द्वारा मन्त्र माना जा सकता है। यह व्यापक दृष्टि एक प्रकार से समग्र वाङ्मय को मुक्ति का उपाय बना देती है। संगीत एवं साहित्य तथा अन्य ललितकलाओं को इसीलिए भारतीय दृष्टि में परमार्थ का साधक माना गया है।

इस प्रकार मन्त्र विचित्र वर्ण - संरचना मात्र न होकर उच्चतर भूमिका पर स्थित साधक का वह विकल्पहीन संवेदन है जिसके माध्यम से उसे अपनी भौतिक काया में छिपी हुई असीम आत्मशक्ति की अनुभूति होती है, एवं परमतत्त्व के परामर्शपूर्वक परमपद की प्राप्ति होती है। अभिनवगुप्त ने तो उन सामान्य साधकों, जो शिवशक्ति के सामरस्यरूप विमर्श को प्राप्त नहीं कर सकते, के लिए मन्त्रों का उपदेश किया है जिससे उन्हें पूर्णाहंविमर्श की सिद्धि हो सके। इस विमर्श की सामर्थ्य मन्त्र के कलेवर में विद्यमान नहीं है, वे तो स्वयं करणस्वरूप हैं, तथापि प्रतिबुद्ध किए जाने पर ये स्वतन्त्र, चित्स्वरूप, साधक के स्वातन्त्र्य से आविष्ट होकर कर्तृत्व को प्राप्त कर लेते हैं। आराधक की शक्ति से ऊर्जित होकर मन्त्र उसी प्रकार कार्य - सम्पादन में समर्थ होते हैं जिस प्रकार देहधारियों की इन्द्रियाँ कार्य करती हैं (स्प० का०, २६)।

मन्त्र का वास्तविक स्वरूप चिदाविष्ट होना या साधक की संवित् से अभिन्न होना ही है। इसीलिए इसे विमर्शनपरक कहा गया है (मन्त्रश्च विमर्शनात्मा - ई०प्र०वि०, १. ५. १४)। विमर्शन अथवा चैतन्य को लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता इसलिए लिखित मन्त्रों को निर्जीव माना गया है-- "लिपिस्थस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः" (तन्त्रा., ४. ६६)। न केवल लिखित अपितु उच्चारण किया जाने वाला वाचिकरूप भी मन्त्र का वास्तविक स्वरूप नहीं होता है-- "उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तद्विदुः" (शि०सू०वि०, १)।

केवल वर्णरूप मन्त्र चाहे वे लिखित रूप में हों या उच्चरित रूप में पशुभाव में स्थित माने गए हैं। जब उनका सुषुम्ना के मार्ग अर्थात् मध्य-धाम में उच्चारण किया जाता है तब वे पतित्व को प्राप्त करते हैं (स्प० प्र०, पृ० ३३)। यह विवेचन मन्त्रों की आंगिकता, बौद्धिकता या वाचनिकता से भिन्न साधना द्वारा उसकी चिन्मयता की सिद्धि पर बल देता है।

मन्त्रों में प्रयुक्त वर्णों के आधार पर उनके अंगों की कल्पना की गई है। मन्त्र बीज जो सर्वाधिक प्रमुख होता है, हृदय माना गया है। मन्त्र में प्रयुक्त किसी विशिष्ट वर्ण को ह्रस्व स्वरों से संयुक्त करने पर वे आननस्वरूप होते हैं एवं दीर्घ स्वरों से संयुक्त किए जाने पर अन्य अंगभूत माने जाते हैं।

मन्त्र वर्णात्मक होते हैं एवं वर्ण परामर्शात्मक होते हैं। परामर्श गुरु की संवित् से अभिन्न होता है एवं मन्त्र प्रदानकाल में गुरु की संवित् ही शिष्य में संक्रमित होती है। संवित् का लेखन सम्भव न होने से तन्त्रालोक में अनेकत्र (तन्त्रा., ४. ६७; १५. ५६४; २६. २०) मन्त्र-लेखन का निषेध किया गया है। यदि अनिवार्य हो तो मन्त्रों

का निरूपण संकेतों या उसके अंगों के माध्यम से किया जाना चाहिये।

संविदभिन्न होने के कारण ही मन्त्रों की गोपनीयता पर विशेष बल दिया गया है। साधक को अपने मन्त्र का दर्शन गुरु को भी नहीं कराना चाहिये--

"स्वमन्त्रमक्षसूत्रं च गुरोरपि न दर्शयेत्"

मन्त्रों को गोपनीय रखने का (लिखित रूप में न रखने का) एक कारण यह भी है कि सांसिद्धिक संवित् व्यक्तियों को पुस्तकस्थित मन्त्र के भी वीर्य की प्राप्ति हो जाए, तो वो दीक्षासम्बन्धी नियमों से बद्ध न होने के कारण उन मन्त्रों का प्रयोग परहिंसादि अनुचित कार्यों के लिए भी कर सकते हैं --

"ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते।

ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति"। (विवेक, ४. ६८)

मन्त्र में प्रयोजन-सिद्धि की सामर्थ्य साधक के द्वारा निरन्तर मन्त्रदेवता का विमर्श करते हुए मन्त्र जप के द्वारा, उससे तादात्म्य स्थापित कर लेने पर ही आती है। साधक के निर्मल चैतन्य से अनुप्राणित मन्त्र ही वस्तुतः मन्त्र हैं। गुरु द्वारा शिष्य को दीक्षापूर्वक मन्त्र प्रदान किए जाने के काल में वह अपनी विशिष्ट शक्ति के साथ ही शिष्य में संक्रमित होता है। मन्त्र की यह शक्ति उसके वर्णों में निहित नहीं होती, इसलिए उनका लेखन सम्भव नहीं है। साथ ही मन्त्रों को प्राणों के समान गोपनीय भी माना गया है। इसलिए भी इनके लेखन का निषेध किया गया है। यदि अपरिहार्य हो तो मन्त्र का संकेतों के माध्यम से निरूपण किया जाता है (तन्त्रा., १५. ५६४)। स्वयं तन्त्रालोककार ने कहीं पर भी मन्त्रों का साक्षात् कथन नहीं किया है। यहाँ तक कि उनकी व्याख्या करने में जयरथ ने भी संकेतों का ही प्रयोग किया है। साथ ही त्रुटि की सम्भावना का निराकरण करने के लिए संकेताक्षरों से बनने वाले पदों एवं मन्त्रों के वर्णों की संख्या भी दे दी है। केवल व्यंजन को अर्धवर्ण एवं स्वर अथवा सस्वर व्यंजन को एक वर्ण के रूप में गिना गया है। जयरथ ने केवल एक स्थल दीक्षा के अन्तर्गत वर्णित पारमेश्वरी एवं परब्रह्म विद्या का साक्षात् कथन किया है। अन्यथा उन्होंने अभिनवगुप्त द्वारा प्रयुक्त कूटाक्षरों के निहित अर्थ अथवा वर्ण को ही प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा विवृत्त संकेतों एवं विवरणों के आधार पर मन्त्रों का उद्धार किया गया है (विवरण के पूर्ण स्पष्ट न होने के कारण एवं परंपरा-प्राप्त न होने के कारण, अनेकंत्र त्रुटि एवं मतभेद संभव है)।

मन्त्रों का प्रामाण्य-

तन्त्रालोक (३0वें आह्निक) में मन्त्रों का निरूपण काश्मीर शैवदर्शन की त्रिक, कुल एवं क्रम तीनों शाखाओं के अनुसार है। अभिनवगुप्त ने मन्त्रनिरूपण के प्रसंग में शास्त्रों का, जिनके अनुसार वे प्रस्तुत हैं, उल्लेख नहीं किया है। जयरथ ने अवश्य मत-मतान्तरों के प्रदर्शन के लिए कुछ शास्त्रों का नामोल्लेख किया है। ये शास्त्र हैं- त्रिशिरोभैरव, देव्यायामल, श्रीपूर्वशास्त्र आदि। तन्त्रालोक में मन्त्र - निरूपण के अन्तर्गत बिन्दु की मूर्तिसंज्ञक महाव्याप्ति श्रीमत्त्रैशिरस् से एवं चत्वारिंशत्संख्यात्मक देवताचक्र सिद्धयोगीश्वरी मत के अनुसार निरुपित है।

अन्यत्र (१५वें एवं १६वें आहिनक में). मन्त्रों के प्रसंग में श्रीयोगसंचर, श्रीनिर्मर्यादशास्त्र, श्रीमन्मालाशास्त्र, कुलगहृवर, सारशास्त्र, पौष्कर, मतंग, श्रीपूर्वशास्त्र, गमशासन एवं मालिनी मत का उल्लेख मिलता है।

तन्त्रालोक में निरुपित विविध मन्त्र -

तन्त्रालोक में प्रमुखरूप से भैरवादि तीनों देवताओं, रतिशेखर, भैरव-सद्भाव एवं नवात्मभैरव एवं परा, परापरा एवं अपरादि देवीत्रय के मन्त्र निरुपित हैं। साथ ही विघ्नहर्ता गणेश एवं माता वागीश्वरी के लिए सामान्य मन्त्र बताए गए हैं। विष्णु, प्रजापति, इन्द्रादि देवताओं को कल्पित करने के लिए भी मन्त्रों का निर्देश किया गया है। अन्य ब्रह्मशिरः, शिखा, पुरुष्टुत, पाशुपतादि मन्त्र भी निरुपित हैं। इनमें से कुछ मन्त्र अस्त्र, कवच आदि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सद्यः प्रत्ययदायिनी विद्या के द्वारा दीक्षा देने के प्रसंग में परब्रह्मविद्या, दीक्षा विद्या एवं पारमेश्वरी विद्या निरुपित है। मन्त्र-निरुपण से तात्पर्य मन्त्रों का कूटाक्षरों के माध्यम से संकेत है। जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, अभिनवगुप्त ने तत्कालीन परम्परा का निर्वाह करते हुए मन्त्रों का कहीं भी साक्षात् कथन नहीं किया है। मन्त्रों में कहीं - कहीं अधोवक्त्र चन्द्रखण्ड "ँ" का प्रयोग उल्लेखनीय है।

तन्त्रालोक में मन्त्रनिर्देश के प्रसंग में सर्वप्रथम आन्तर - याग के अन्तर्गत देह के विभिन्न स्थानों में पृथ्वी आदि विभिन्न तत्वों का न्यास बताया गया है। इस पृथगासनपूजा में प्रस्तुत मन्त्र प्रयोज्य हैं:

आधारशक्ति में "ह्रीं" इस मायाबीज का न्यास करके तत्पश्चात् पृथ्वी, जल, तेज, और वायु में क्रमशः "क्ष्लीं" "क्ष्वीं" "वँ" "क्षँ" मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। त्रिशूल दण्ड में "हं" एवं इसके ऊपर स्थित मायामय ग्रन्थि जिसमें धर्मादि चतुष्टय एवं अधर्मादि चतुष्टय का ध्यान किया जाता है में, क्रमशः धर्म में "यं", ज्ञान में "रं" "वैराग्य में "लं" एवं ऐश्वर्य में "वं" एवं अधर्म में "ॠं", अज्ञान में "ॠं" अवैराग्य में "ॢं", अनैश्वर्य में "ॣं" मन्त्रों का प्रयोग होता है। चतुष्किका रुपिणी - विद्या एवं उस पर अधःस्थित छादनरूप माया एवं ऊर्ध्वछादनरुपिणी कला में "ओं" "औं" एवं "हः" का क्रमशः प्रयोग होता है। इसके ऊपर स्थित विद्या एवं ईश्वर तत्त्व में "अं" एवं "अः" नियोजन होता है। विद्यापद्म के आठ दलों में स्थित चौबीस केसरों में अनुस्वारयुक्त "क" से प्रारम्भ कर "भ"-पर्यन्त वर्णों का एवं आठों दलों में आठ स्वरों से युक्त सानुस्वार "ह" - "हं" "हां" "हिं" "हीं" "हुं" "हूं" "हें" "हैं" का नियोजन किया जाता है। कर्णिका में स्थित शक्तियों के नव-समूह में भी "हौं" सहित इन्हीं मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। अपने - अपने अधिष्ठाता अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रसहित मण्डलत्रय में क्रमशः "शं" "षं" "सं" का, प्रेतरूप सदाशिव में "क्ष्मं" का एवं शूलशृंगों में "ज्र" प्रयोज्य है। ये मन्त्र पृथगासनपूजा के लिए निर्दिष्ट हैं। संक्षेप - पूजन में आद्यमन्त्र "ह्रीं" एवं अन्त्य "जूं" का ग्रहण करके आधारशक्ति से प्रारम्भ करके शूल शृंगपर्यन्त "ह्रीं जूं आसनपक्षाय नमः" का प्रयोग किया जाना चाहिये (तन्त्रा., ३०. ४-१०ब)।

रतिशेखर का मन्त्र

अग्नि अर्थात् र, मारुत-य, पृथ्वी - ल एवं अम्बु - व को षष्ठस्वर ऊ एवं अनुस्वार से संयुक्त करने पर

"र्य्ल्वूं" यह रतिशेखर का मन्त्र होता है। इन्हें ह्रस्व स्वरों अ, इ, उ, ए, ओ से एवं दीर्घ स्वरषट्क आ, ई, ऊ, ऐ, औ, अः से संयुक्त किए जाने पर ये इसके वक्त्र एवं अंग होते हैं।

आचार्य नीलकण्ठ गुर्टू के अनुसार भी रतिशेखर मन्त्र "र्य्ल्वूं" होता है (परात्रिंशिका, पा० टि०, पृ० १६३)।

नवात्मदेव का मन्त्र -

अग्नि - र, प्राण - ह, अग्नि - र, संहार् - क्ष, काल - म, इन्द्र - ल, अम्बु - व, समीरण - य, षष्ठस्वर - ऊ, बिन्दु एवं अर्धचन्द्र से संयुक्त होने पर नवात्मदेव के मन्त्र होते हैं। इस प्रकार "र् ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ऊँ" यह नवात्मदेव का मन्त्र सिद्ध होता है (तन्त्रा., ३०. ११स-१२ब)। पं० बलजिन्नाथ शास्त्री से विचार-विमर्श के अन्तर्गत उन्होंने नवात्मदेव के मन्त्र का स्वरूप "ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ऊँ " बताया था। तन्त्रालोक के निर्देशों से इसका स्वरूप किंचित् भिन्न होने के कारण दोनों मन्त्र प्रस्तुत हैं।

भैरवसद्भाव मन्त्र -

झकार - झ, संहार - क्ष एवं प्राण - ह, षष्ठ स्वर - ऊ एवं बिन्दु से युक्त होने पर भैरवसद्भाव मन्त्र होते हैं। इस आधार पर "झ् क्ष् हूं" यह इस मन्त्र का स्वरूप सिद्ध होता है। इसके हृदय एवं वक्त्रों की कल्पना दीर्घ षट् स्वरों आ, ई, ऊ, ऐ, औ, अः एवं हृस्वपंचक स्वरों के योग से की जाती है। क्ष य र व ल ये बीज दीप्त एवं बिन्दु से विभूषित होने पर इसके अंगवक्त्र रूप होते हैं। बीजों के दीप्त होने के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत है कि ओकार एवं अकार ये हृस्व स्वर आग्नेयस्वभाव वाले होते हैं, अतः इनसे युक्त बीज दीप्त होंगे, जबकि लक्ष्मणगुप्त के अनुसार रेफयुक्त बीज दीप्त होते हैं (तन्त्रा. एवं विवेक, ३०. १५स-१७ब)। आचार्य नीलकण्ठ गुर्टू ने अपनी परात्रिंशिका (पृ० १६३) में भैरवसद्भाव मन्त्र "झ् क्ष् हूं" को कुलेश्वर मन्त्र के नाम से प्रस्तुत किया है।

मातृका मालिनी के मन्त्र -

ये विस्तार से तन्त्रालोक के पन्द्रहवें आह्निक में निरूपित हैं। मातृका मन्त्र शक्तिमान् के वाचक माने गए हैं एवं इनका संक्षिप्त रूप -ह्रीं अक्ष ह्रीं" है एवं मालिनी मन्त्र शक्ति के वाचक हैं। इनका संक्षिप्त रूप "ह्रीं नफ ह्रीं" बताया गया है (द्र. नी.क. गुर्टू, परात्रिंशिका, पा०टि०, पृ० १८७)।

गणेशादि के मन्त्र, जिनके बीज बताए नहीं गए हैं, उनके लिए प्रारम्भ में ओंकार, तदनन्तर चतुर्थ्यन्त संज्ञा व अन्त में "नमः" के प्रयोग का निर्देश है। संज्ञा से पहले नाम के आद्यक्षर को "आ" व "चन्द्रबिन्दु" से दीप्त करके रखा जाता है। इस प्रकार "ओं गाँ गणेशाय नमः," "ओं वाँ वागीश्वर्यै नमः" आदि मन्त्र सिद्ध होते हैं। समस्त बीजों (नामों) का आद्यक्षर चतुर्दश स्वर "औ" व षष्ठस्वर "ऊ" एवं बिन्दु से युक्त अर्थात् "गौं" होता है (तन्त्रा. एवं विवेक, ३०. १८-१६)।

परापरा के मन्त्र-

सर्वप्रथम अघोरी आदि तीनों देवियाँ (अघोरी, परमघोरी, घोररूप) ओंकारपूर्वक क्रमशः विसर्गयुक्त मायाबीज "ह्रीः" "हुं" एवं "हः" से युक्त करके आमन्त्रित की जाती हैं। परादि देवीत्रय के आमन्त्रण के पश्चात्

घोरमुखि, भीमे, भीषणे में से दूसरे पद के एकार के स्थान पर अकार अर्थात् भीम, इसके पश्चात शक्तिद्वय का आमन्त्रण वमनि पिवनि में से अन्त्याक्षर का लोप करके अर्थात् वम,पिव,को,हे, पंच स्वर –उ से युक्त दो अग्निवर्ण–र अर्थात रुरु, पृथक् अकारयुक्त दो अग्निवर्ण–र र,अस्त्र–फट्, हुं विसर्गयुक्त ह– अर्थात् हः, पुनः शर अर्थात द्वितीय अस्त्र–फट्, प्रारम्भ में स्थित प्रणव–ओंकार–सहित यह अर्धार्णद्वयाधिक अष्टत्रिंशदक्षरात्मक परापरा देवी की विद्या त्रिकशासनानुसार है(तन्त्रा.,३०.२१–२४अब)। "ओं अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं घोररूपे हः घोरमुखि भीम भीषणे वम पिव हे रुरु रर फट् हुं हः फट्।"

देवताचक विन्यास–

सिद्धयोगीश्वरी मत में परापरा देवी के आमन्त्रणमन्त्र(ओं अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं घोररूपे हः घोरमुखि भीमभीषणे वम पिव हे रुरु रर फट् हुं हः फट्) के प्रत्येक वर्ण को देवता के विशिष्टरूप से संयुक्त करके देवताचक न्यास का निरूपण किया है, जिसके अनुसार "ओं" में भैरव, जो चक की कर्णिका में स्थित है, का न्यास हो, इसके पश्चात् कमशः आकार में उत्फुल्ल नेत्रों वाली देवी, घोकार में विशाल स्तनों वाली, रेकार में त्वष्टारूप, ह्रीः कार में व्याघ्ररूपिणी, पकार में सिंह–रूपिणी, रकार में पान में लगी हुई,मकार में राक्षसी, घोकार में मांसभक्षिणी, रेकार में रणाशिनी, हुंकार में रेतोवहा, घोकार में निर्भय, रकार में घोर–दन्तिनी, रुकार में रुरुरुन्धती, पेकारमें प्रियवाहिनी, हः कार में उग्ररूपिणी, घोकार में नग्नरूपिणी, रकार में रक्तनेत्री, मुकार में चण्डरूपिणी, खिकार में पक्षिरूपिणी, भीकार में भस्मोज्ज्वला, मकार में मारणी, भीकार में शिवा, षकार में शाकिनी, ठोकार में यन्त्रलेहा, वकार में वशकारिका, मकार में कालदमना, पिकार में पिंगली, वकार में वर्धनी, हेकार में हिमशीतला, रूकार में रूक्मिणी एवं द्वितीय रूकार में हलायुधा, रकार में वह्निरूपिणी एवं रकार में तेजोरूपिणी, पकार में योनीरूपिणी और टकार में पररूपिणी, हुंकार में हुतवहा, हः कार में वरदायिका, फकार में महारौद्रा एवं टकार में पाशदायिका स्वरूपों का न्यास होता है (द्र. विवेक, ३०.२८)।

अपरामन्त्र –

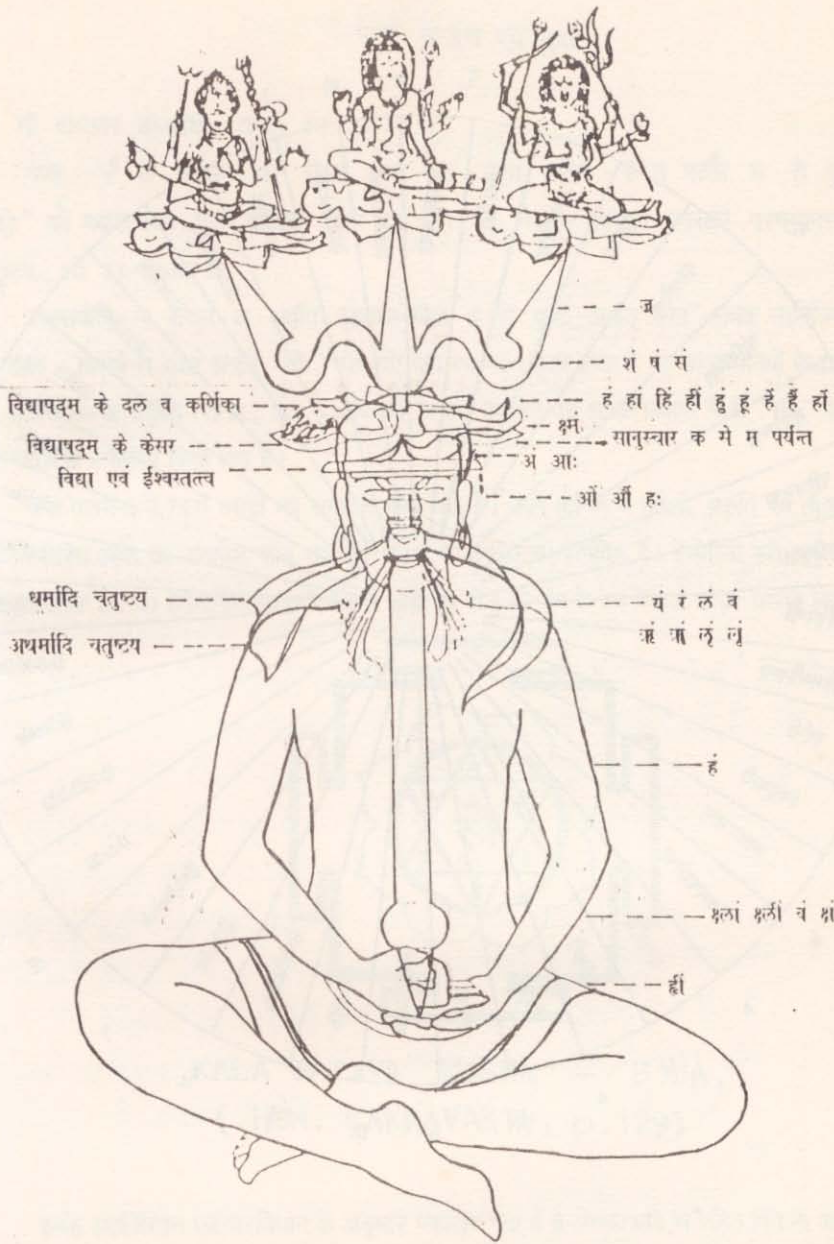
अपरात्मक मन्त्र विसर्गयुक्त मायाबीज–ह्रीः हुं फट् से युक्त होता है(तन्त्रा.,३०.२६ सद) अर्थात्" ह्रीः हुं फट्" यह अपरादेवी का मन्त्र होगा।

परामन्त्र –

परामन्त्र जीव– स, चतुर्दशस्वर औ से युक्त, इस प्रकार "सौ" होता है। इसे ही अमृतबीज भी कहा जाता है। अभिन्न होने पर भी इसके अनेक प्रकार की व्याप्ति त्रिशिरस्शास्त्र में बताई गई है जिसके अनुसार चतुर्दशस्वर– औ युक्त, जीव– स, प्राण– ह से युक्त हो अर्थात् स्नहोः अथवा प्राण– ह, जीव– स से युक्त अर्थात् हसौः हो (तन्त्रा.,३०.२७–२८)।

परामन्त्र के अन्य प्रकार निम्नलिखित हैं–

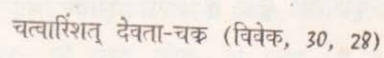
अमृत–स(दो स) के मध्य में स्थित व कालरुद्र– औ के द्वारा भेदित हंस– ह, भुवनेश– औ व अनंगद्वयः से युक्त इस प्रकार "स्हसौ" यह मन्त्र षट्चक में योजित किए जाने पर दीप्त



पृथगासन पूजा के लिए निर्दिष्ट मंत्र

ॐ भैरव

पल्लविणी
योनिरूपा
तेजोरूपा
वहिनरूपा
रुक्मिणी
हिमशीतला
वर्धनी
पिङ्गली
कालदमना
वशकारिका



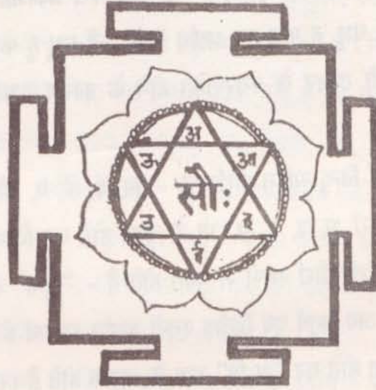
चत्वारिंशत् देवता-चक्र (विवेक, 30, 28)

से भी दीप्ततर होता है (तन्त्रा., ३०. २६-३०)।

दण्ड - र के आसन पर स्थित प्राण - ह, गुह्य शक्ति - ई व इच्छा अः से युक्त होकर "ह्रीः" यह महाज्ञानरूप परा वाचिका कही गई है। यह भैरव - हृदयरूप एकाक्षर परमज्ञानरूप मन्त्र है (तन्त्रा., ३०. ३१-३२अब)।

अमृतबीज स केवल ख अर्थात् आकाश-बीज ह से युक्त अर्थात् "सह" अथवा सावित्रिका - औ व शून्यद्वय - विसर्ग से युक्त अर्थात् "सौः" होने पर परा का परम हृदय होता है जो तत्त्वज्ञानियों के द्वारा युग्मयाग में अवश्य करना चाहिये (तन्त्रा., ३०. ३२अब-३३)। इस आधार पर अनेक प्रकारों में से "सौः" इस मन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।

इस परामन्त्र में चारों अण्डों का समावेश माना गया है। प्रथम वर्ग स में पृथिवी, प्रकृति एवं मायाण्ड का एवं औ में शक्ति अण्ड का समावेश माना गया है। विसर्ग में अनुत्तर का समावेश है। इसीलिए इसे अमृत-बीज माना जाना सार्थक है। पं० हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने इस सृष्टिमय बीज को यंत्र के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है--



KALA TATTVA KOSHA - BIJA,
(H.N. CAKRAVARTY, p.129)

इनके अतितिरिक्त एकवीरविधान के अनुसार एकाक्षर मन्त्र हैं वे अंगवक्त्रादि से रहित होने के कारण गुप्ततर हैं। उन सिद्धिदायी मन्त्रों का कुलस्थित साधक-श्रेष्ठ के द्वारा यजन किया जाना चाहिये। स्त्री अथवा पुरुष (अधिकारी के लिए लिंगभेद नहीं) के द्वारा कुलक्रम शाखाओं के विधानानुसार सूक्ष्मविज्ञानयोगपूर्वक इनका अनुष्ठान किया जाना चाहिये (तन्त्रा., ३०. ३४-३६ब)।

विद्यात्रय के मन्त्र के मुखरूप छः दीर्घ स्वरों आ, ई, ऊ, ऐ, औ, अः से युक्त जीव-स अर्थात् सा, सी, सू, सै, सौ, सः होते हैं एवं वक्त्र पाँच हृस्व स्वरों अ, इ, उ, ए, ओ से युक्त जीव अर्थात् स - ख अर्थात् बिन्दु एवं पाँच

ओंकार से युक्त होने पर विद्या का हृदयस्वरूप होता है।

तन्त्रालोक (३०. ३८-४१) एवं मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (३. ६२-६५) में निर्दिष्ट कुछ अन्य मन्त्र इस प्रकार हैं -

ब्रह्मशिरः मन्त्र एकादशाक्षरात्मक होता है प्रणवपूर्वक अमृत एवं स्वाहान्त तेजोमालिनि इस प्रकार "ओं अमृते तेजोमालिनि स्वाहाः" इसका स्वरूप बताया गया है।

रुद्राणी नाम से उल्लिखित विद्यागणों की शिखा अष्टाक्षरात्मक होती है। इसका स्वरूप "ओं वेदवेदनि हुं फट्" निर्दिष्ट है।

पुरुष्टुत मन्त्र कवचस्वरूप माना गया है। इसमें एकादश अक्षर - "ओं वज्रिणे वज्रधराय स्वाहा" इस प्रकार होते हैं।

पाशुपत मन्त्र का स्वरूप तन्त्रालोक के अनुसार "ओं श्लीं पशवे हुं फट्" एवं मालिनी विजयोत्तरतन्त्र के अनुसार "भव श्लीं पशुं हुं फट्" होता है। दोनों में अर्ध-सप्ताक्षर होते हैं। तार-प्रणव, द्विजिह्व - ज, ख - बिन्दु एवं शरस्वर - उ से युक्त जीव - स अर्थात् "ओं ज्सुं" यह मन्त्र प्रकाशात्मक है एवं सर्वसाधारण मन्त्रों का नेत्रभूत माना गया है। तार, श्लीं, पशु, हुं फट् रूप अर्थात् "ओं श्लीं पशु हुं फट्" यह रस अर्थात् छः वर्णों वाला मन्त्र अस्त्ररूप माना गया है। यहाँ टकार के स्वररहित होने के कारण उसकी वर्णों में गणना नहीं की गई है (तन्त्रा., ३०. ४०स-४१)।

ल, र, ट, क्ष, व, य - ये वर्ण बिन्दु सहित दीर्घषट्क - आ, ई, ऊ, ऐ, औ, अः से युक्त होने पर इन्द्रादि के अस्त्र रूप होते हैं एवं ये हृस्व स्वरों अ, इ, उ, ए, ओ से युक्त होने पर विष्णु एवं प्रजापति के अस्त्र होते हैं। सकार एवं मकार जब षष्ठ एवं द्वितीयदीर्घ स्वरों से युक्त होते हैं - "सूमा" तो उनसे युक्त उपर्युक्त वर्ण कुबेर एवं ईशान के अस्त्र होते हैं एवं ये जब चतुर्थ एवं द्वितीय स्वरों अर्थात् आ एवं ई से युक्त होते हैं अर्थात् "सा मी" तो पद्म के एवं हृस्व अ, इ से युक्त होने पर "स मि" चक्र के वाचक होते हैं (तन्त्रा., ३०. ४२-४३ब)।

स्मृति में नमः, स्वाहा, वौषट्, हुं, वषट्, जातियाँ क्रमशः जप, होम, आप्यायन, समुच्चाटन, शान्ति, अभिचारादि में एवं मन्त्रों के अंगों में नमस्कारादि तदात्मक जातियाँ प्रयुक्त की जाती हैं (तन्त्रा., ३०. ४३-४५अब)।

अक्षि - वर्णमाला का द्वितीय वर्ग अर्थात् कवर्ग : पड् - षष्ठ प वर्ग, मुनि - सप्तम यवर्ग के द्वितीय (वर्गों के द्वितीय) वर्ण ख फ र को बिन्दु एवं योन्यर्ण - ए से संयुक्त करने पर "ख फ्रें" यह कालकर्षिणी मातृसद्भावरूप है। यही पंचपिण्डनाथ कहलाता है (विवेक)। इनमें से आद्य वर्ण को छोड़ देने पर "फ्रें" एवं आद्य व अन्त्य दोनों वर्णों को छोड़ने पर "फें", प्राणपुट - दो हकार के मध्यस्थित जीव - स, कालानल - र, के समान चमक वाला अतिदीप्त - अधोवर्ती र, वामांघ्रि - फ, सिर पर बिन्दु एवं दक्षजानु - ए से युक्त "ह्स्ह्फ्रें", समस्त मातृगणों के द्वारा अर्चित है, इसके द्वारा प्राणयुक्त होकर सभी (देवतादि) इच्छित फल प्रदान करते हैं। यह मातृ

(का) ओं - माताओं व भैरव का परम सद्भाव है। जो उत्तम सिद्धि की इच्छा रखता है वह मन्त्री इसका जप करे (तन्त्रा., ३०. ४५स-४६)।

यहाँ (इस मन्त्र में) नित्य रुद्रशक्ति-समावेश प्रतिष्ठित है, इसीलिए यह पराशक्ति अनेक भेदपूर्वक कही गई है। तन्त्र में जितनी सिद्धियाँ हैं वे सभी यह प्रदान करती हैं। पूर्ववत् हृस्व-दीर्घ स्वरनियोग द्वारा इसके भी अंग वक्त्रों की कल्पना की जाती है (तन्त्रा., ३०. ५०-५१)।

दण्ड - र, जीव, - स, त्रिशूल - ज, दक्षांगुलि - भ, वामस्तन - ल, नाभि - क्ष, कण्ठ - व, मरुद् - य, रुद्र - ऊ एवं त्रिशूलयुक्त विसर्ग-औः अर्थात् र्स्ज्भ्ल्क्ष्व्य्रौः सभी योगिनीचक्रों के अधिपति कहे गए हैं, इसके भी उच्चारण से पूर्वोक्त संवित्ति (संविदैकात्म्यानुभूति) हो जाती है (तन्त्रा., ३०. ५२-३)। अष्टवर्गक महाचण्ड योगेश्वरी ही पिण्डनाथ के साथ व्याप्त होकर नवार्णा गुप्ततरा कालकर्षिणी है। विवेक के अनुसार काल - म और सर्वगत - ह, मस्तक पर स्थित दारणा - आ युक्त, तृतीयाद्यक्षर - च, तरंग - ण, डाकिनीमर्म - ड से युक्त, पवन - य, नवमस्वर - ओ से युक्त एवं उससे सप्तम - ग एकार से युक्त, लक्ष्मी - बीज -श, उदधीश - व से युक्त एवं सोम से सप्तम - ऋ का उद्धार करने पर यह नववर्णा कुलेश्वरी है (विवेक, ३०. ५४)।

श्रीडामरमहायाग में परा से परापर विद्या का उपदेश दिया गया है जो तत्काल परतत्त्व से संयुक्त कराती है। यह सद्यो निर्वाणदा दीक्षा के अन्तर्गत प्रयोज्य है। सुधा - स, छेदक - क, शण्ठाद्य - ऋ एवं स्वररहित छेदक के द्वारा "स्कृक्" यह मालिनीमत में मर्मनिकृन्तिनी - क्षुरिका, कालरात्रि कही गई है। इसकी सौ बार (मा.वि. १७.३१ के अनुसार शतार्ध - पचास बार) आवृत्ति से मूर्धा में वेदना उत्पन्न हो जाती है, दीर्घ जीवन के इच्छुक साधक के लिए इसका उच्चारण नहीं करने का निर्देश दिया गया है। इस प्रत्यय की आलोचना करके मृत्युंजित् के ध्यान का आश्रय लिया जाना चाहिये (तन्त्रा., ३०. ५५-५७)।

तन्त्रसद्भावशासन में शिव ने कहा है कि दो दण्ड - र एवं दो अग्नि - र अर्थात् "र्ः" "र्ः" प्राण - ह, नभ - क्ष एवं शूल - ज अर्थात् "ह्क्षजः" छेत्ता - क एवं अनल - र अर्थात् "क्रः", कूट - क्ष एवं अग्नि - र अर्थात् "क्ष्रः", ये पाँचों पाँच शून्यों में नियोजित किए जाने पर छेदिनी क्षुरिका स्वरूप होते हैं जिससे जीव को परतत्त्व से संयुक्त किया जाता है (तन्त्रा., ३०. ५८-६)।

इन्दु - स, अनल - र, कूट - क्ष, अग्नि - र, मरुत् - य, षष्ठ स्वर ऊ एवं बिन्दु से युक्त "स्र्क्ष्र्यूं" - इस ज्वलनशील अस्त्र का पैरों से लेकर सिरपर्यन्त स्मरण करना चाहिये। अंगुलियों को संकुचित करके फिर फैलाना चाहिये और जानु से प्रारम्भ करके अपरचक्र पर्यन्त चक्र से चक्र को संकुचित करना चाहिये जिससे तत्काल निर्वाण प्राप्ति होती है। यह सद्योनिर्वाणक परम ज्ञान रहस्यसहित उपदिष्ट है (तन्त्रा., ३०. ६० - ६२ब)।

सप्रत्यया दीक्षा के अन्तर्गत स्तोभकारी तीन मन्त्र निरुपित हैं। इनमें से प्रत्येक मन्त्र स्तोभ करने में समर्थ है।

सुधा - स, अग्नि - र, मरुत् - य षष्ठ स्वर ऊ एवं बिन्दु से संयुक्त होकर "स्र्यूँ", दूसरा मन्द - ड, उसके पश्चात् आने वाला वर्ण ढ, अन्तक - म, अग्नि - र, वायु - य आदि वर्ण षष्ठ स्वर ऊ एवं बिन्दु से मिल

कर "ड्ढ्म्र्यूँ" एवं तीसरा पिण्डरूप मन्त्र है : वह्नि -र, सोम - स, असु - ह, कूट -क्ष, अग्नि - र, वायु - य एवं बिन्दुसहित षष्ठस्वर - ऊ को मिलाने पर "र्स्हक्ष्र्यूं" मन्त्र सिद्ध होते हैं (तन्त्रा., २६. २१२स - १३)।

ब्रह्म विद्या-

शिवस्वरूप श्रीभूतिराज द्वारा प्रतिपादित सद्यःप्रत्ययदायिनी ब्रह्मविद्या समस्त भूतों के मरण काल उपस्थित होने पर जिसके पढ़ने से उत्क्रमण करके जीव निरंजन पद को प्राप्त कर लेता है, का वर्णन किया जा रहा है (तन्त्रा., ३०. ६२स - ६४ब)।

यह विद्या कृतकृत्य ज्ञानी के द्वारा भी सुनी जाने पर प्राणादि के छेदन से उत्पन्न मृत्यु - व्यथा को तत्काल दूर कर देती है। इसके कानों में पड़ने मात्र से महामोह से विवश व्यक्ति भी क्रम से बोध को प्राप्त करके स्वयं वेगपूर्वक वक्ता के सम्मुख पहुँच जाता है। यह ब्रहमविद्या सकला एवं निष्कला दो प्रकार की होती है। सकला ब्रह्मविद्या पन्द्रह आर्यावाक्यों के द्वारा कही जाती है एवं निष्कला में उन आर्यावाक्यों के पूर्व एवं पश्चात् निश्चित मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। यह तुलाशुद्धि दीक्षा के अन्तर्गत प्रयोज्य (एवं वर्णित) है।

तार - प्रणव अर्थात् "ओं", माया - "ह्रीं", चतुष्कल - हूं, मातृता - फ्रें, बिन्दु, प्राण - ह, दण्ड -र, नाभि - क्ष, वामस्तन - य, कण्ठ - व, वाम स्कन्ध - य, वामकर्णाभरण - ऊ रूप नवात्मा - ह् र् क्ष् य् ल् व् य् ऊँ । इस प्रकार पूर्वोक्त व्याप्ति के अनुसार पाँच अक्षर होते हैं। इस प्रकार ऊँ ह्रीं हूं फ्रें ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ऊँ " मन्त्र का तुलाशुद्धि दीक्षा के अन्तर्गत निरूपित पंचदश आर्यावाक्यों से पूर्व एवं अनन्तर प्रयोग किए जाने पर यह निष्कला ब्रह्मविद्या होती है।

बिन्दु - शून्य, प्राण - ह, अमृत - स, जल - व, मरुत् - य षष्ठ स्वर ऊ से अन्वित होकर - "हस्व्यूं", इस शक्त्युच्चार-स्थित बीज से पशु का आलम्भन किया जाता है। पूर्वतः ब्रह्महत्यारा भी तुलाशुद्धि दीक्षाविधि करने पर शुद्ध हो जाता है। संक्षिप्त होने के कारण तुला शुद्धि दीक्षा सद्यःप्रत्यय कारिणी होती है (तन्त्रा., ३०. ६०स-६२ब)।

तन्त्रसद्भावशासन में शम्भुनाथ द्वारा उपदिष्ट तुलामेलक योग का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत है--

प्रणवपूर्वक श म र य के पिण्ड और नमः अर्थात् "ओं श्म्र्यूं नमः", यह शाकिनीस्तोभनात्मक मर्म, जीवित हृदय है। इस मन्त्र के द्वारा शाकिनियों को वश में किया जाता है। षष्ठ स्वर - ऊ, प्राण - ह, त्रिकूट - क्ष, ऊर्ध्वबाहु - ज, शूल - औ, बिन्दु शून्य, अनच्क नाद, अधोवक्त्रनासाशक्ति अर्थात् चन्द्र बिन्दु से युक्त अर्थात् "ह्क्ष्ज्रौँ" यह भैरव नामक सर्वसंहारक हृदय है। अग्निमण्डल के मध्यस्थ इस भैरवाग्नि से प्रतप्त शाकिनियाँ वश में आ जाती हैं अर्थात् हठपूर्वक मेलाप करती हैं। यदि इस स्थान का दहन करना हो तो पहले (मेलाप के पश्चात्) उनका विसर्जन करदें अन्यथा वे दोष उत्पन्न करती हैं। हठमेलाप के अन्तर्गत चूंकि शाकिनियों को बलपूर्वक वश में किया जाता है इसलिए उनका तुरन्त विसर्जन आवश्यक है (प्रियमिलाप के अन्तर्गत शाकिनियों को प्रेमपूर्वक वश में किया जाता है और उनसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है)। बारहों स्वरों से विभूषित ह्रीं, क्लीं,

व्लें, क्लें इन वर्णों के द्वारा प्रियमेलापन नामक हृदय सम्पुट का प्रत्येक स्वर अथवा दो स्वरों अथवा सभी स्वरों के द्वारा जप उत्तम विधि है। जप---

"क्लं व्लं क्लं ह्रीं क्लं व्लं क्लं

क्लां व्लां क्लां ह्रीं क्लां व्लां क्लां

क्लि व्लि क्लि ह्रीं क्लि व्लि क्लि

क्लीं व्लीं क्लीं ह्रीं क्लीं व्लीं क्लीं

क्लुं व्लुं क्लुं ह्रीं क्लुं व्लुं क्लुं

क्लूं व्लूं क्लूं ह्रीं क्लूं व्लूं क्लूं"

श्रीसन्तत्यागम में पातालाधिप के द्वारा उपदिष्ट, हाटकेश द्वारा निरुपित विद्यात्रय के माध्यम से दी जानी वाली दीक्षा का वर्णन है (तन्त्रा.,३०.१००-१)। यह दीक्षा वित्तहीन एवं आश्रितों को, देशकाल आदि के दोष से परमतत्त्व के ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ किन्तु मोक्ष के लिए कृतसंकल्प व्यक्तियों को दी जाती है। इसके अन्तर्गत कन्द आधार में श्रीनाथ, आर्य व भगवान् इन तीनों की, वरुण, मच्छन्द एवं भगदत्त इन तीनों की हृदय में एवं कण्ठ देश में स्थित धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की "ह्रीं श्रीं" - पूर्वक सम्बोधन सहित अन्त में पाद शब्द लगा कर पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार "ह्रीं श्रीं श्रीधर्मनाथपादः अर्थनाथपादः नमः" यह प्रयोग होगा (तन्त्रा.,३०.१०२)।

मूर्धातल में परा, परापरा व अपरा इस विद्यात्रय का भावी विधि से अथवा अनुसन्धान की दृढता से, आन्ददायी सुरादि पुष्पों से अथवा केवल भावना से, तत्त्वज्ञानी गुरु के द्वारा पूजा की जानी चाहिये। यह परोपनिषद् में वर्णित मोक्षमात्र में निष्ठा रखने वाले शिष्य के लिए मोक्षमात्र प्रदान करने में समर्थ दीक्षा है (तन्त्रा., ३०.१०३)।

विद्यात्रय-

विद्यादीक्षा के अन्तर्गत विद्यात्रय प्रयोज्य है। श्रीमद्भूतिराज जो साक्षात् श्रीकण्ठ के मनुष्यावतार ही थे, ने अभिनवगुप्त को विद्यात्रय का उपदेश दिया था जिसका स्मरणमात्र करने से शिष्य को बाहृय कर्मकाण्ड के बिना भी परमपद की प्राप्ति होती है। ये विद्यात्रय परब्रहृम विद्या, दीक्षाविधा एवं पारमेश्वरी विद्याएँ निरुपित हैं।

परब्रहृम विद्या-

परब्रहृम विद्या कल्याणकारिणी एवं मोक्षदायिनी होती है। इसमें पदपंचक। सिद्धसाधनि, शब्दब्रहृमस्वरुपिणि, समस्तबन्धनिकृन्तिनि,बोधनि एवं शिवसद्भावजननि, जो क्रमशः पाँच, आठ, नौ, तीन एवं आठ वर्णों वाले हैं, के पूर्व में प्रणव-ओं, मायाबीज - ह्रीं, बिन्दु - हूं एवं अन्त में स्वाहा का प्रयोग किया जाता है (तन्त्रा., १०७-११०ब)। इस आधार पर पंचाशत् वर्णात्मिका परब्रहृम विद्या का निम्नलिखित स्वरुप सिद्ध होता है--

"ओं ह्रीं हूं सिद्धसाधनि, ओं ह्रीं हूं शब्दब्रहृमस्वरुपिणी, ओं ह्रीं हूं समस्तबन्धनिकृन्तिनि, ओं ह्रीं हूं बोधनि,

ओं ह्रीं हूं शिवसद्भावजननि स्वाहा।"

दीक्षा विद्या (४९ वर्णात्मक)

इस विद्या के अन्तर्गत अनुत्तर -अ, इच्छा - ई, त्रयोदश स्वर - ओ से संयुक्त घान्त - ड अर्थात् डों - इस वर्णत्रय के अन्त में अन्तःस्थ चतुष्टय य व र ल, वर्ग का आरम्भाक्षर - अ, अश्व -ण, त्र्यस्र - ए व बिन्दु से युक्त पान्त - फ अर्थात् फें इस अर्णत्रय के पश्चात् सम्बोधित महाहाटकेश्वरि ये सप्तार्ण क्षमस्व ये त्र्यर्ण, पापान्तकारिणि ये षडर्ण, तदनन्तर पापविमोहनि, पापं हन हन, धुन धुन ये दशार्णपद, रुद्रशक्तिवशात् यह पंचम्यन्त षडर्ण पद हो, इसके पश्चात् एकाक्षर जो विसर्गब्रह्म कहागया है - स, उसे अनच्क् (हलन्त) त् के साथ एकीभावपूर्वक पढ़ा जाता है। इस प्रकार "अइडोयरलवअणफें महाहाटकेश्वरि क्षमस्व पापान्तकारिणि पापविमोहनि पापं हन हन धुन धुन रुद्रशक्तिवशात् सत्" एकान्नपंचाशत् वर्णात्मिका यह दीक्षा विद्या कही गई है (तन्त्रा., ३०. ११०स-११५)।

पारमेश्वरी विद्या (५० वर्णात्मक)

इस विद्या में मायार्ण ह्रीं परब्रह्में चतुर्विद्ये ये अष्टार्ण पदत्रय, इनके पश्चात् योगधारिणि ये पंचार्ण आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा ये तीन पद सम्बोधनस्थ होने के कारण एकारान्त - आत्मे, अन्तरात्मे, परमात्मे - दशार्ण बताए गए हैं, रुद्रशक्ति ये चार वर्ण, तदनन्तर रुद्रदयिते में पापं दह दह यह द्वादशार्ण चतुष्पदी, सौम्ये सदाशिवे ये दो पद, बिन्दु - हूं इपु - फट्, सावहा - स्वाहा - इन सार्धवर्ण चतुष्क का क्रमशः वाचन किया जाता है। इस प्रकार "ह्रीं परे ब्रह्मे चतुर्विधे योगधारिणि आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे रुद्रशक्तिरुद्रदयिते में पापं दह दह सौम्ये सदाशिवे हूं फट् स्वाहा" यह पंचाशत् वर्णात्मिका समयापहा पारमेश्वरी विद्या है (तन्त्रा., ३०. ११६-१२०अब)।

मन्त्र - विनियोग -

दीक्षाकर्म में सर्वत्र मायान्तर्गत मार्ग की संशुद्धि में की जाने वाली क्रियाएँ जिनके मन्त्र नहीं बताए गए हैं, उनमें अपरा मन्त्र नियोजित करना चाहिये। विद्या से प्रारम्भ कर सकल पदपर्यन्त शुद्धि के लिए परापरा मन्त्र एवं ईश्वर से ऊपर शुद्धि के लिए पिवन्यादि अष्टक मन्त्र का नियोजन करना चाहिये। बुद्धिमान् को सकल पद से ऊपर अंगषट्क का योजन नहीं करना चाहिये एवं निष्कल पद में परामन्त्र से निर्दिष्ट विधि के अनुसार योजना करनी चाहिये (मा०वि०, ६. ७२-४ब)।

तन्त्रालोक के अनुसार गर्भाधानादि संस्कारों के जो चार भाग किए गए हैं, उनमें क्रमशः अपरा, परापरा, मन्त्रपंचदशक एवं परा मन्त्र का नियोजन करें। मन्त्रपंचदशक के अन्तर्गत पिवन्यादि आठ, शस्त्रादि छः एवं परा मन्त्र माने गए हैं। (पिवन्यादि एवं शस्त्रादि मन्त्रों से सम्बन्धित सामग्री तन्त्रालोक में अथवा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होने से इनका उद्धार सम्भव नहीं है।)

अनुत्तर त्रिकशास्त्र के सिद्धा, नामक व मालिनीरूप त्रिप्रकार क्रम में जो मन्त्र कहे गए हैं, वे सभी सर्वदा (सब विधियों में) नियोजित किए जाने योग्य हैं, किन्तु इनमें से किसी की किसी विशिष्ट स्थान, प्रसंग में मुख्यता होती है (तन्त्रा., ११. ८८)। समस्त मन्त्रों में अनिवार्यतया प्रयुक्त बिन्दु की संवित् के विभिन्न स्तरों में व्याप्ति मानी गई है। भिन्न - भिन्न स्थानों पर इसके नाम भिन्न हैं।

श्रीमन्त्रैशिरस् मत के अनुसार बिन्दु की अर्धचन्द्र निरोधिका व नाद में व्याप्ति होती है। बिन्दु का बाह्य उल्लास क्षेप, बहिरुल्लसित विश्व का अन्तः आक्रमण आक्रान्ति, इदन्ता के लीन हो जाने पर अहन्ताप्रधान नादान्त में प्रमातृरूप संवित् का प्रबोध चिदुद्बोध, प्रबुद्ध संवित् का शक्तिदशा में उद्रेक दीपन व्यापिनी में किंचित् उद्रिक्त संवित् का उसी प्रकार अवस्थान - स्थापना, योगियों को समना पद में उसका साक्षात्कार तत्त्संवित्ति और उन्मना भूमि में तदैकात्म्य तदापत्ति कहलाता है। इस सम्पूर्ण महाव्याप्ति को मूर्ति कहा जाता है (तन्त्रा., ३०. १२सद-१४अब)।

मूर्ति के समान ही मन्त्रदीपक के रूप में स्वीकृत नमस्कार की भी व्याप्ति मानी गई है। यह नमस्कार करने वाले के देहात्मक प्रमातृभाव का हरण करने एवं उसमें चित्प्रमातृता का आधान करने के कारण परिणाम भी कहा जाता है। इस स्थिति से पुनः च्युति की सम्भावना नहीं होने से इसे लयरूप भी माना गया है। यह ज्वर्ण - व, य, ऊ से रहित होता है।

प्रकार -

तन्त्रग्रन्थों में मन्त्रों के चार प्रकार माने गए हैं --"बीजैः कूटैस्तथा पिण्डैर्मालामन्त्रैरशेषतः"। (ने.त., १६. ७अब.)

१. बीज
२. कूट
३. पिण्ड एवं
४. मालामन्त्र

१. बीजमन्त्र स्वर - रूप होते हैं एवं परावाक् के वाचक माने गए हैं।
२. कूटमन्त्र पदात्मक एवं पिण्डस्वरूप होते हैं एवं पश्यन्ती वाक् के वाचक माने गए हैं।
३. पिण्डमन्त्र नवात्मादि विशिष्ट देवताओं से सम्बन्धित होते हैं एवं मध्यमा वाणी के वाचक होते हैं।
४. मालामन्त्र पद-समुदायरूप होते हैं एवं वैखरी वाणी के वाचक माने गए हैं।

शारदातिलकतन्त्र के द्वितीय पटल में मन्त्रों के प्रकारों का विभिन्न आधारों पर निरूपण है-

१. पुंमन्त्र स्त्रीमन्त्र एवं नपुंसकमन्त्र -- मन्त्रों के इस विभाजन का आधार मन्त्रों के अन्त में प्रयुक्त पद बताया गया है। "हुं", "फट्" से अन्त होने वाले मन्त्र पुंमन्त्र, "स्वाहा" न्त स्त्री मन्त्र एवं "नमः" से समाप्त होने वाले नपुंसक मन्त्र बताए गए हैं (शा०ति०, २. ५८-६)।

२. सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध व शत्रुमन्त्र -- साधक के नाम के आदि वर्ण एवं राशि-चक्र में निर्दिष्ट वर्णों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के आधार पर मन्त्रों के सिद्धादि रूप होते हैं। सिद्धि मन्त्र बन्धुरूप, साध्य सेवकवत् सुसिद्ध पुष्टिकारी एवं शत्रुमन्त्र अनिष्टकारी होते हैं (शा०ति०, २. १३१)।

३. पिण्ड, कर्तरी, बीज एवं माला मन्त्र -- मन्त्रों के इस विभाजन का आधार उनमें प्रयुक्त वर्णसंख्या है।

एकाक्षर मन्त्र पिण्डमन्त्र, द्व्यक्षर मन्त्र कर्तरी, तीन से लेकर नौ वर्णों तक बीज मन्त्र एवं दस से बीस वर्णों वाले साधारण मन्त्र होते हैं। बीस से अधिक वर्णों वाले मालामन्त्र कहलाते हैं (सौभाग्यभास्कर)।

मन्त्रविनियोग-

विनियोग के आधार पर मन्त्र ग्यारह प्रकार के होते हैं (ने०त० एवं उ०, १८. १०-१२अब.)---

१. संपुट-- प्रारम्भ एवं अन्त में संपुट की भाँति मन्त्रन्यास।
२. ग्रथित-- मन्त्र के प्रत्येक अर्ण के संपुटीकरण के द्वारा मन्त्र ग्रथित होता है।
३. ग्रस्त-- मन्त्र का दिक्चतुष्टय (ऊपर, नीचे तिर्यक् व मध्य) में निवेश।
४. समस्त-- मन्त्र के पश्चात् साध्य-नाम व पुनः मन्त्र प्रयोग करने पर मन्त्र समस्त होता है।
५. विदर्भित- साध्य नाम के पश्चात् एक बार मन्त्र का प्रयोग।
६. आक्रान्त- मध्य में स्थित साध्य नाम को मन्त्र आक्रान्त करके चारों ओर से ढक ले तो वह आक्रान्त मन्त्र होता है।
७. आद्यन्त-- मन्त्र के पश्चात् साध्य नाम व पुनः तीन मन्त्रों का प्रयोग आद्यन्त मन्त्र में होता है।
८. गर्भस्थ- मध्यस्थ मन्त्र की चारों दिशाओं में साध्य - नाम का न्यास करने पर गर्भस्थ की भाँति आच्छादित मन्त्र गर्भस्थ कहलाता है।
९. सर्वतोवृत्त- मन्त्र के प्रारम्भ एवं अन्त में साध्य नाम का निवेश होने पर सर्वतोवृत्त मन्त्र होता है।
१०. युक्तिविदर्भ- पश्चान्न्यस्तमन्त्र के नाम का चारों ओर सन्निवेश करने पर - मन्त्र युक्तिविदर्भ होता है।
११. विदर्भग्रथित- नाम के पश्चात् मन्त्र का तीन बार न्यास विदर्भग्रथन होता है।

मन्त्रदोष--

मन्त्रों को गोपनीय रखने का एक प्रयोजन उन्हें शत्रु द्वारा उद्‌भावित किए जा सकने वाले निम्नलिखित दशविध दोषों से बचाना भी है (ने० त०, १६. ३३-४)

१. कीलन- अन्य के समान बना देना।
२. भेदन- साध्य के साम्मुख्य का त्याग।
३. मोहन- निर्वीर्य बना देना।
४. सन्त्रास- भयभीत करने वाला बना देना।
५. ताडन- पीडादायी बना देना।
६. जम्भन- कार्य करने में असामर्थ्य का आधान।
७. स्तम्भन- निश्चेष्ट कर देना।
८. रिपुत्वकरण- शत्रुरूप बना देना।
९. प्रत्यंगिरत्व- भूतादि के दमन के लिए प्रयुक्त मन्त्र को प्रयोक्ता के प्रति प्रेरित कर देना।

१०. सर्वहानिविधायत्व - मन्त्र को सभी प्रकार की हानि करने वाला बना देना।

मन्त्रवाद - मन्त्रदोषों के परिहार के लिए निम्नलिखित प्रयोगविधि उपदिष्ट है (ने. त., १८.६-८)

१. दीपन -

मन्त्र के प्रणव से युक्त करना।

२. बोधन -

नमः शब्द से संयुक्त करना।

३. ताडन -

फट्कार से संयुक्त करना।

४. अभिषेचन -

वीषट्पूर्वक मन्त्र का प्रयोग करना।

५. विमलीकरण -

स्वाहा का प्रयोग मन्त्र के साथ

इन्धन निवेशन -

दाहयपाश विषादि दहन में विनियोज्य मन्त्र को हुं से संपुटित - (आद्यन्त प्रयोग) करना।

संतर्पण -

मन्त्र में बलवत्ता का आधान करना (प्रत्येक वर्ण को लांकार से संपुटित करने के द्वारा)।

गुप्तिभाव -

मन्त्ररक्षा (नेत्रनाथ से संपुटित करके अयुत जप करने से मन्त्र की रक्षा होती है)।

आप्यायन -

जिसमें बल उत्पन्न हो गया है, उसमें पुनः (वांकार के द्वारा प्रतिवर्ण को संपुटित करके) पुष्टि का आधान।

इस नवधा मन्त्रवाद को जानने वाला ही सिद्धि के साधनों को अपने अधीन करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मन्त्रों के ये संस्कार यत्किंचित् अन्तर के साथ शारदातिलक (२. ११२-१२३) में निरूपित हैं। तन्त्रालोक एवं अन्य तान्त्रिक में निरूपित मन्त्र साधक की संवित् से अभिन्न होकर इच्छित फल प्रदान करने की सामर्थ्य रखते हैं।

मण्डल

याग–स्थान पर विशिष्ट विधि से निर्मित रेखाचित्र मण्डल कहा जाता है। वह दण्ड, चक्र अथवा व्योम, त्रिशूल, कमलादि प्रतीकों से समन्वित एवं देवी–देवताओं के आह्वान के द्वारा चिच्छक्ति से सम्पन्न होता है। यह पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के एकत्व को प्रदर्शित करने वाला मानचित्र कहा जा सकता है। शिवशासन में इसे सारभूत कहा गया है क्योंकि यह शिव के आह्वानरूप सार को लाता है– "मण्डलं सारमुक्तं हि मण्डश्रुत्या शिवाह्वयम्"– (तन्त्रा., ३७. २१अब.)। जयरथ के अनुसार "मण्ड" शिव का वाचक है एवं उसे लाने वाला मण्डल है। तन्त्रालोक में मण्डलों का निरूपण सिद्धातन्त्र, श्रीपूर्वशास्त्र, त्रिशिरोमत, त्रिककुल, देव्यायामल, सारशास्त्र, तन्त्रसद्भावादि शास्त्रों के आधार पर किया गया है। ये ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। स्वच्छन्दतन्त्र के तृतीय पटल में दीक्षा के प्रसंग में मण्डल का नामोल्लेख मिलता है। मण्डल–निर्माण की विधि का यत्किंचित् निरूपण मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के नवम अधिकार में मिलता है। मण्डल–निर्माण की परम्परा दक्षिण शैवशासन में भी उपलब्ध होती है। रौरवागम के क्रियापाद के पच्चीसवें पटल, अघोरेश्वराचार्य की क्रियाक्रमोद्योतिका एवं त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावली में दाक्षिणात्य मण्डलों का विवरण प्राप्त होता है।

प्रकार–

सिद्धातन्त्रमें मण्डलों के सौ प्रकार निरूपित हैं। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध होने से इनका नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है। विवेककार के उद्धरणों के आधार पर इनके नाम हाहाराव, घन, रुद्ध, सामय, चित्रकण्टक आदि से प्रारम्भ होकर ,मध्य में शूल से सम्बन्धित मध्यशूल, त्रित्रिशूल एवं नवशूल हैं। अन्तिम सौवें मण्डल का नाम अश्वमेध रखा गया है। सद्भावक्रमशास्त्र में मण्डल के अन्तर्गत शूल–निर्माण के अनेक प्रकार बताए गए हैं जिनके आधार पर मण्डलों के अनन्त भेद हो जाते हैं (तन्त्रा. एवं विवेक, ३१. ७स--१०ब)। मण्डल चतुरस्र, आयत अथवा गोलाकार होते हैं। शृंगवर्तना के अनेक भेदों के अन्तर्गत चौबीस प्रकार से चन्द्र–रचना निरूपित है। उन्मुख, चतुर्थमर्म से संलग्न अथवा इन दोनों को दो बार विभाजित करने से चार प्रकार होते हैं। इनके अतिरिक्त कुटिल, मध्य से स्पष्ट आकार, अधोमुख, पार्श्ववर्ती, उत्तान, आधा विषम, पूर्णतः अन्योन्यासंगपूर्वक स्थित एवं ग्रन्थिगामी अर्थात् अर्धचन्द्र के प्रान्तभाग से संश्लिष्ट–ये आठ भेद होते हैं। इन बारह प्रकारों के अन्तर्मुखत्व एवं बहिर्मुखत्व के आधार पर चौबीस प्रकार होते हैं (तन्त्रा.३१.३३--३६ब)।

उक्त भेदों के भी पुनः असंख्य भेद तन्त्रालोक में निरूपित हैं जिन्हें जयरथ की व्याख्या से भी समझ पाना कठिन है। विवेककार द्वारा निर्दिष्ट पूर्ववर्णित प्रकार षट्क अस्पष्ट है। तन्त्रालोक में पूर्व में मध्यशूल, त्रित्रिशूल एवं नवशूल इन तीनों मण्डलों का ही वर्णन है, इनके अथवा इनके अतिरिक्त पूर्ववर्णन में मण्डलों के छः प्रकारों को बताना दुःसाध्य है। इन छः प्रकारों को अपने समान रूप वाले द्विकों (अस्पष्ट) से मिलाने पर एवं पद्मचक्र के एक अर से प्रारम्भ कर छः पर्यन्त एवं व्योम की स्थिति के आधार पर अट्ठारह प्रकार एवं चक्रव्योम के अट्ठारह प्रकार मिलाकर कुल चौपन प्रकार होते हैं। इन्हें सात अरों के कारण सात से गुणा करने पर तीन सौ अठहत्तर प्रकार होते हैं। इनके भी द्वार के आधार पर दो से गुणा करने पर सात

सौ छप्पन प्रकार होते हैं। इन्हें पुनः चन्द्रमा के आधार पर चौबीस से गुणा किया जाता है जिससे अट्ठारह हजार एक सौ चबाँलीस भेद प्राप्त होते हैं। इन्हें पुनः पीठ के भाव एवं अभाव के आधार पर द्विगुण करने पर छत्तीस हजार दो सौ अट्ठासी भेद होते हैं। इनके पुनः वीथी के भाव-अभाव के आधार पर बहत्तर हजार पाँच सौ छहत्तर भेद होते हैं। इसी प्रकार अन्य विकल्पों से तीन करोड़ इकहत्तर लाख अट्ठावन हजार नौ सौ बारह भेद होते हैं। इस प्रकार पद्म, चक्र, व्योम, अरा आदि के विविध विधान के आधार पर अनन्त भेद होते हैं जिनकी गणना सम्भव नहीं है (तन्त्रा., ३१. ३६स-३८)। जयरथ का कथन है--

"प्रभेदान्तराणां तु तथागुणने कियती संख्येति कष्टश्रीधर एवं प्रष्टव्यः।"

इसका कारण सम्भवतः यह हो कि सिद्धातन्त्र, त्रिशिरोमत, देव्यायामल आदि में निरूपित मण्डलों की जो समृद्ध परम्परा थी वह कदाचित् जयरथ के काल तक लुप्त हो चुकी थी। विवेक में स्पष्ट शब्दों में कहा है - "प्रागिव अस्पष्टम्"। यह अस्पष्टता मण्डलों का विवरण अन्यत्र न मिलने के कारण हो सकती है। यदि अभिनवगुप्त की भाषा के कारण अस्पष्टता की आशंका की जाए तो यह समस्या अन्यत्र भी होनी चाहिये, जबकि अन्यत्र ऐसा दिखाई नहीं देता।

सामान्य स्वरूप-

तन्त्रालोक के निरूपण के आधार पर मण्डलों का सामान्य स्वरूप निरूपित है। मण्डल प्रायः चतुष्कोण होते थे। उनके भीतर एक दो या अनेक त्रिशूलों की रचना होती थी। त्रिशूल के शूलों पर कमल एवं कमल के ऊपर का दण्ड भी बनाया जाता था। कहीं - कहीं दण्ड को एक शूल का रूप देकर त्रिशूलों की अभीष्ट संख्या को प्राप्त किया जाता था। मण्डल के विभिन्न स्थानों में, मुख्यरूप से त्रिशूल के अरों पर देवताओं को स्थापित किया जाता था। इसके बिना याग पूर्ण नहीं होता।

महत्व ----

मंण्डल-दर्शन से देवियाँ अत्यधिक प्रसन्न हो जाती हैं। यद्यपि अदीक्षित शिष्य उनकी अर्चना नहीं कर सकता तथापि मण्डल-दर्शनमात्र से वह मण्डलस्थित देवियों के द्वारा दीक्षित हो जाता है। मण्डल-दर्शन से भूत-वेतालादि दूर भाग जाते हैं एवं शिव स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं। मन्द शक्तिपात का भाजनभूत शिष्य भी निरन्तर मण्डल-पूजन से छः मास में त्रिकशास्त्र के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है जिससे वह स्वयं हेयोपादेय का विचार करके व्यवहार करता है एवं अन्त में भैरवात्मता को प्राप्त करता है। सिद्धि का इच्छुक साधक मण्डल -पूजन से इच्छित सिद्धि को प्राप्त करता है (तन्त्रा., ३१. ४१स-५०ब)। समय दीक्षा के अन्तर्गत मण्डल-दर्शन एक प्रमुख कृत्य है। जो मण्डल की वर्तना, व्याप्ति एवं देवतान्यास को जानता है, वही त्रिकशासन में गुरु है। शिवरूपता को प्राप्त करने के इच्छुक शिष्य को उसकी चरण-रज सिर पर धारण करनी चाहिये (तन्त्रा., ३१. ५०ग-५१)।

वेदों में मण्डल--

ऋग्वेद (४. २८.२ एवं २.३३) में मण्डल शब्द से चक्राकार आकृति का अर्थ ग्रहण किया जाता था। मण्डल - नृत्य, मण्डल-न्यास, मण्डलासन, मण्डल-नाभि आदि शब्द-प्रयोगों से यही सूचित होता है। न केवल

मण्डल अपितु मण्डल-निर्माण के काम में आने वाली ईंटें जिन्हें मण्डलेष्टक कहा जाता था, भी गोलाकार होती थीं (तै.सं., ५.३. ८२ एवं श. ब्रा., ४.१.१.२५)। शुल्बसूत्रों में चक्राकार मण्डल के स्थान पर त्रिकोण, चतुष्कोणादि मण्डलों की निर्माण-विधि निरुपित है। इस प्रकार शनैः शनैः चक्राकार मण्डलों के स्थान पर अनेक आकार प्रचलित हो गए किन्तु उन सभी में केन्द्र जिसे ब्रह्म-स्थान कहा जाता है, ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था।

इस प्रकार वैदिककाल से ही मण्डल यागादि कर्मकाण्ड का केन्द्र स्थानीय था। तान्त्रिक कर्मकाण्ड में तो इसका महत्त्व इतना बढ़ गया कि इसे स्वयं देवता का वाचक माना जाने लगा एवं दर्शन-मात्र से फल-प्राप्ति होने लगी।

मुद्रा

भारतीय संस्कृति में शरीर के विशिष्ट हाव-भावरूप मुद्रा का प्रयोग अतिप्राचीन है। मूर्तिकला, नृत्यकला आदि में मुद्रा का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुद्राओं का सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। नाट्य में मुद्राओं का प्रयोग विशिष्ट भावों को सम्प्रेषित करने के लिए होता है जबकि दर्शन के क्षेत्र में मुद्राएँ ज्ञान अथवा योग की निश्चित प्रणालियों की वाचिकाएँ होती हैं। न केवल तान्त्रिक-दर्शन अपितु हिन्दू, बौद्धादि दर्शनों में अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार मुद्राओं का उपयोग होता है। उत्तरशैवदर्शन की भाँति दक्षिण शैव परम्परा में भी मुद्रा का अपना स्वरूप एवं महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावविशेष के उदय के साथ शरीर की और उसके विभिन्न अवयवों की स्थिति भिन्न हो जाती है। क्रोध में शरीर की जो आकृति होती है वह चिन्तन या प्रेम की स्थिति में नहीं होती। अतः भावना के अनुसार देह की आकृति (चेष्टा, स्थिति) का स्वरूपविशेष होना अत्यन्त स्वाभाविक है। चिन्मय देह की साधना में मुद्रा का और भी अधिक महत्त्व है। विभिन्न मुद्राओं में अवस्थित योगियों के अनेक चित्र, स्थापत्य आदि हमें मिलते हैं। पुनश्च एक ही भाव में धीर, अधीर या कोमल और कठोर व्यक्ति की मुद्रा में भी अन्तर होता है। प्रत्येक धर्म की साधना की जो भावभूमिका होती है उसी के अनुसार मुद्रा का निरूपण हमें मिलता है। इसी आधार पर तान्त्रिक मुद्रा का अपना वैशिष्ट्य है।

कर्मकाण्ड के एक अंग के रूप में मुद्रा वैदिककाल से ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वैदिक यज्ञों में मन्त्रोच्चारण के समय हाथों के विशिष्ट सन्निवेश के द्वारा उनके स्वरवर्णादि को सूचित किया जाता है। इस प्रकार तान्त्रिक मुद्रा से वैदिक मुद्रा की यह विशेषता है कि यह विशिष्ट ध्वनि की प्रतीकभूता है जबकि तान्त्रिक मुद्राएँ विशिष्ट अर्थ अथवा यौगिक प्रकिया की। ऋग्वैदिक मुद्राएँ केवल दाहिने हाथ से प्रदर्शित की जाती हैं। कुछ प्रमुख वैदिक मुद्राओं के नाम हैं: हृस्वमुद्रा, मूर्धन्यमुद्रा, घोषमुद्रा, दीर्घविसर्ग मुद्रा, उदात्तमुद्रा, उकारमुद्रा, अनुस्वारमुद्रा आदि। ये अपने - अपने नाम के अनुरूप विशिष्ट ध्वनि अथवा वर्णों को विशिष्ट हस्त-सन्निवेश के द्वारा सूचित करती हैं यथा उदात्त स्वर के लिए हाथ को ऊपर की ओर, अनुदात्त के लिए नीचे, स्वरित के लिए दाएँ एवं प्रचय के लिए बाईं ओर किया जाता है (विस्तार के लिए द्र. F. Staal: Agni, II, PP. 357-75)।

स्मार्तविधि में मुद्रा का प्रयोग तान्त्रिक मुद्रा की भाँति विशिष्ट अंग-विन्यास के रूप में मिलता है। आ.स. (पृ० ५१) में निरुपित मुद्राओं में कर्ममुद्रा, अस्त्रमुद्रा, अंगन्यासमुद्रा, मत्स्यमुद्रा, धेनुमुद्रा, योनि मुद्रा आदि उल्लेखनीय हैं। इनका प्रयोग प्रायः सन्ध्याविधि में किया जाता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार मुद्रा का प्रयोग साधक के द्वारा काम्य कर्मों के अन्तर्गत कभी-कभी किया जाना

चाहिये। यागादि के अन्तर्गत मुद्रा का प्रयोग यागारम्भ, मध्य एवं अन्त में किया जाना चाहिये। मुद्राओं में से प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण मुद्रा खेचरी मुद्रा है। यही सकलरूप में त्रिशूलिनी, करंकिणी, क्रोधना, लेलिहानिका आदि मुद्राओं से संयुक्त होकर अनेक प्रकारों में प्रस्तुत की जाती है।

अभिनवगुप्त ने खेचरीमुद्रा का निरूपण प्रमुखरूप से श्रीपूर्वशास्त्र के आधार पर किया है। इसके साथ ही योगसंचार, वीरावली, कामिकागम, कुलगह्वर, भर्गाष्टक, शिखाकुल आदि शास्त्रों में वर्णित मुद्राओं का श्रीपूर्व में वर्णित मुद्रा से वैषम्य भी प्रस्तुत किया है।

मुद्राः निर्वचन---

"मुदं रात्यर्पयति इति"- आत्मा के स्वरूपलाभाख्य मोद को देह के माध्यम से प्रदान कराने के उपाय को शास्त्रों में मुद्रा कहा गया है --

(क) मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

(ख) मुद्रा हि परतत्त्वप्रतिबिम्बभूता अन्तःसंविद्द्रविणमुद्रणात् मुदं रान्ती पाशमोचनभेदद्रावणकारिणी तत्संनिवेशरूपतया परस्फारमनुकुर्वती (ग) मुदं करोति देवानां राक्षसान्द्रावयन्ति च- विष्णुसंहिता.

(घ) मोद-द्रावणधर्मित्वं मुद्रा शब्देन कथ्यते- अजितागम

तन्त्रालोक (३२. ३) एवं स्वच्छन्दतन्त्र (११. १३; २.१०२) के अनुसार "मुदं हर्षं राति ददाति", "परभैरवं चैतन्यद्रविणं मुद्रयति", "परावेशेन मोदयति भक्तान्, द्रावयति पाशान्" आदि प्रकारों से मुद्रा का निर्वचन सम्भव है।

स्वरूप--

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में मुद्रा शिव की शक्तिस्वरूपा बताई गई है। इनके द्वारा संरक्षित साधक मन्त्रसिद्धि को प्राप्त करता है (मा.वि.त., ७. १)।

विवेककार के उद्धरणों के अनुसार "मगर के मुख के समान महाभयंकर संसार से मुक्त कराने एवं पशु के पाशों को विगलित करने के कारण मुद्रा शिव की शक्तिस्वरूप ही है" (३२. ५०)। इस प्रकार मुद्रा समस्त पाशजाल से मुक्त कराती है, देह एवं पुर्यष्टक - सम्बन्धी संस्कारों को द्रवित करती है एवं मन्त्र, योग, क्रिया तथा चर्या को एकरूप में मुद्रित (गुम्फित) करती है (३२. ३)।

अभिनवगुप्त की परात्रीशिका-विवृत्ति के अनुसार मुद्रा हाथ-पैरादि देहांगों से किए जाने वाले व्यापार से युक्त क्रियाशक्तिरूपिणी है एवं समस्त मुद्राएँ समष्टिरूप में पराशक्ति से अभिन्न है --"मुद्राश्च सकलकरचरणादिव्यापारमय्यः क्रियाशक्तिरूपाः तत्कृतो गणः समूहात्मपरशक्तिएकरूपः"।

देवीयामलशास्त्र में मुद्रा को प्रतिबिम्बात्मिका बताया गया है-- "प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा.........." मुद्रा

परसंवित् का प्रतिबिम्ब होती है। विवेककार के अनुसार इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है--

१. प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्या इति।

२. बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्राप्तो यस्मादिति ---विवेक, ३२. २

प्रथम व्याख्या के आधार पर बिम्ब, प्रतिबिम्ब स्वरूपिणी मुद्रा की उत्पत्ति का कारण है जबकि द्वितीय में मुद्रा उसका ज्ञापक उपाय है। इस प्रकार बिम्ब से जिसका उदय हो, यह मुद्रा की प्रतिबिम्बिता एवं बिम्ब का जिससे उदय हो, वह उपायता है (तन्त्रा., ३२. १-२)।

अभिनवगुप्त के अनुसार मुद्रा का वास्तविक स्वरूप वह है जब शरीर रहते हुए भी साधक परमेश्वर से ऐकात्म्य को प्राप्त कर लेता है व इस एकात्म भाव के दृढ़ होने से जिसे स्वदेह का भान नहीं रहता, उसकी देह में स्थित जो चिच्छक्ति की प्रतिकृति होती है वही वास्तविक मुद्रा है। इस मत के समर्थन में विवेककार ने उद्धरण प्रस्तुत किया है---"नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा.........." इस प्रकार पाशों को क्षीण करके जीवों को मुक्ति दिलाने वाली पारमेश्वरी शक्ति मुद्रा है---

"भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः" - (तन्त्रा., ३२. ४६अब)।

अभिनवगुप्त ने मालिनीविजयवार्तिक (२. १२६ - ४०) में मुद्रा का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि भैरवीय रस से उद्रेचन को प्राप्त घूर्णमान कुलयोगी का जो मोदनद्रावणात्मक शरीरगामी समावेश होता है, वही मुद्रा का स्वरूप है--

"कुलयोगिन उद्रिक्तभैरवीयरसासवात्। घूर्णमानस्य यः कश्चित्कोऽप्युदेति यथा तथा।।

शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः। सा स्वीकृतजगन्मुद्रा मुद्रा नैरुक्तरे मतः।।"

(तन्त्रा., ४. २००)

मुद्राः प्रकार---

मुद्रा चार प्रकार की होती है---

१. कायिकी - सभी अवस्थाओं में एकरूप रहने वाली मुद्रा

२. करजा - अंगुलिविन्यासादि के भेद से विविध प्रकारात्मिका

३. वाचिकी - मन्त्रतन्मयतारूप मुद्रा

४. मानसी - ध्येयतन्मयतारूप मुद्रा

क्षेमराज ने स्वच्छन्दतन्त्र की टीका में मुद्रा को त्रिविधा बताया है--

"मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।

देहोद्भवांगविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।" (स्व.त.उ., २. १०२)

१. मानसीमुद्रा जो गुरुमुख में स्थित होती है।

२. वाचिकीमुद्रा, जो मन्त्र से उत्पन्न होती है।

३. कायिकीमुद्रा जो देह के अंगविक्षेपों पर आधारित होती है।

उपर्युक्त सभी मुद्राओं का सम्मिलितरूप खेचरी मुद्रा होने से तन्त्रालोक में प्रमुखतः उसी का निरूपण प्रस्तुत है (तन्त्रा., ३२. ६-१०ब)। खेचरी मुद्रा निष्कल एवं सकल दो प्रकार की होती है। सकल खेचरी मुद्रा के पुनः --- त्रिशूलिनी, करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी आदि भेद होते हैं (वि० भै०, ७६)। इन सकल भेदों के होने पर भी यह अपने निष्कलरूप से च्युत नहीं होती है (तन्त्रा., ३२. ४-६अब)।

खेचरी मुद्रा--

अभिनवगुप्त ने श्रीपूर्वशास्त्र-- मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (७. १५स - १७ब) से शब्दतः उद्धरणपूर्वक खेचरी मुद्रा का स्वरूप निरूपित किया है। जब योगी पद्मासन लगा कर, मन को जन्माधार से उठाकर नाभिस्थान में निविष्ट करके वहीं पर अनेकशः भ्रमण कराते हुए मध्यप्राणशक्ति से एकीकार कराता है एवं प्राणशक्ति से एकीकृत मन अथवा उस भाव को दण्डाकाररूप में मूर्धा में स्थित बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र स्वरूप तीन शून्यों तक ले जाकर वहीं कुम्भक वृत्ति से निरुद्ध कर देता है तथा शक्तिव्यापिनी समनारूप खत्रय के द्वारा उद्घात गति से प्रेरित करते हुए उन्मनापद का उल्लंघन करते हुए परमशिव के सम्मुख ले जाता है, तब वह परमबोधरूपी आकाश में विचरण करने में समर्थ होता है (तन्त्रा., ३२. १०६-१२ब)। परबोधरूप आकाश (ख) में गति प्रदान करने (चर्) के कारण ही इसे खेचरीमुद्रा कहा जाता है।

इस प्रकार खेचरी मुद्रा-विधि में मुद्रा के चारों प्रकारों -कायिक, करजा, वाचिक एवं मानसिक का समावेश है। कायिक-मुद्रा की दृष्टि से योगी पद्मासन में स्थित होता है, हस्त - सम्बन्धी किसी विशेष विन्यास का अभिनवगुप्त ने उल्लेख नहीं किया है। वाचिक मुद्रा की दृष्टि से मन्त्र-जप के साथ परिपूर्ण अहं का विमर्शन चलता रहता है एवं मानसी मुद्रा की दृष्टि से नाभिस्थान में चित्त को एकाग्र करके, बिन्दु, नाद, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों का अतिक्रमण करते हुए, भावना के द्वारा शक्ति, व्यापिनी एवं समना में से चित्त को संचरित करते हुए उन्मना पद पर स्थापित किया जाता है। इस प्रकार समस्त प्रकार की मुद्राओं के सम्मिलित रूप से खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है।

श्रीयोगसंचरशास्त्र में किंचित् अन्तर के साथ खेचरी- मुद्रा का स्वरूप बताया गया है। योगी जन्माधार से लेकर व्योमत्रय-नाद, बिन्दु, शक्ति से युक्त द्वादशान्त में चित्त को एकाग्र करके, वहीं पर ध्यान करता हुआ, क्रम से ऊपर स्थित शक्त्यात्मक खत्रय शक्तिव्यापिनी समना का भेदन करता हुआ परमशिव को प्राप्त करता है (तन्त्रा., ३२. १२स-१३ब)। साथ ही इसके अवान्तर प्रकारों के अन्तर्गत अभिनवगुप्त ने त्रिशूलिनी, करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी आदि का नामाल्लेख किया है। इनमें से उन्होंने केवल त्रिशूलिनी, करंकिणी एवं ज्वालिनी की ही विधि का निरूपण किया है। अन्य मुद्राओं के विषय में विज्ञानभैरव एवं उसकी टीका में यत्किंचित् उल्लेख प्राप्त होता है जिसके अनुसार क्रोधनी मुद्रा पृथ्वी से लेकर प्रकृतिपर्यन्त चौबीस तत्त्वों को मन्त्रमय शरीर में इकट्ठा कर देती है इसके साधक मन्त्रसिद्ध कहलाते हैं।

भैरवीमुद्रा अपने स्वरूप में सारे जगत् को विलीन कर लेती है इसके साधक मेलाप - सिद्ध कहलाते हैं। लेलिहाना मुद्रा सारे जगत् का अपने पूर्णविमर्शमय स्वरूप में बार-बार आस्वादन करती रहती है। इसके साधक शाक्तसिद्ध कहलाते हैं। खेचरी मुद्रा शक्ति व्यापिनी आदि स्थानों में सदा विचरण करने वाली है इसके साधक शाम्भवसिद्ध कहलाते हैं (द्र० - वि० भै०, व्या० द्विवेदी, व्रजवल्लभ, पृ० ८७)।

१. त्रिशूलिनी-- इस मुद्रा में योगी (कण्ठ पर) ठोडी के नीचे दोनों हाथों को रख कर और बांए पैर को दाहिनी ओर रख कर, कनिष्ठिका से मुख फाड़ कर मध्यमा से नासारन्ध्रों को खोल कर, अनामिका को संकुचित करते हुए , तर्जनी से भौहों को टेढी करते हुए जिह्वा को चलाता है और हाहाकार करता है। इसके साथ त्रिशूल प्रयोग के द्वारा मन्त्री की (पूर्व) पद के त्यागपूर्वक ब्रह्मरन्ध में स्थिति होती है। साथ ही वह देहादि में अहन्ता के समाप्त हो जाने के कारण पृथ्वी का त्याग करके परमबोधरूपी गगन में विचरण करता है।

त्रिशूल-प्रयोग-- प्राणापान को मध्यप्राण में समरसित करके, मूलाधार से ऊपर प्रसरण कराते हुए दण्डाकाररूप ग्रहण करके उत्पतन करने पर प्राण का शक्तित्रितय (शक्तिव्यापिनीसमना) से सम्बन्धित ईश्वर , सदाशिव अनाश्रित इन तीन अधिष्ठातृ देवताओं से संयोग होता है। इस संयोग को ही त्रिशूल कहते हैं। इसके द्वारा परमपद को प्राप्त कर लेने से शून्याशून्य का लय हो जाने पर योगी आकाश में विचरण करता है (तन्त्रा., ३२. १३सद - १७)।

मालविकातन्त्र (७.५) के अनुसार दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका अंगुलियों को फैलाकर कनिष्ठा को अंगूठे से दबा लेने पर त्रिशूल मुद्रा होती है।

योगी आकाशरूप एकदण्ड त्रिशूल को जानकर उसमें अवच्छेद उत्पन्न करने वाली सत्तामात्र का त्याग कर देता है। खेचरीमुद्रा बांध कर बुद्धिमान् साधक पराकाशरूपता में उपस्थित होकर वहीं स्थित रहता है एवं रस में रस के समान शूल को भी समरस करके, खेचरीचक्रसंजुष्ट अपने भैरवस्वरूप का ध्यान करके शीध्र ही पृथ्वी का त्याग करता है जिससे आशंकारहित, आचाररहित, लोकरहित, अंशरहित अवधूत आचरण से रहित, मैं नहीं हूँ, इस प्रकार की भावना करता है। मन्त्रमात्र में निरत रह कर स्वयं को समस्त देहस्थ देवतामयरूप में जानते हुए, प्रसन्नता, उद्वेग, अस्मिता, क्रोध, निद्रा, मैथुन, मत्सर आदि विशिष्ट चित्तवृत्तियों में, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि विषयों में, कर्ता, कर्म करणादि सभी में, "मैं नहीं हूँ" यह मानता हुआ, कर्ण, अक्षि, मुख, नासादि चक्रस्थ देवताओं से स्वयं के एकीभाव का चिन्तन करते हुए, ग्रहीता परप्रमातृरूप आत्मा को देखते हुए, खेचरीमुद्रा को सिद्ध करता है जबकि विद्या, मल व शास्त्र में आशंका करने वाला इसे सिद्ध नहीं कर पाता (तन्त्रा., ३२. १८-२४)।

करंकिणी--

कनिष्ठिका से मुख फाड़ कर तर्जनी अंगुलियां से भौंहों को फैला कर अनामिका एवं मध्यमा अंगुलियों को वक्त्र (मुख) पर रखते हुए जिह्वा से तालु का स्पर्श करने पर करंकिणी मुद्रा होती है (तन्त्रा., ३२. २६)। इसके साथ ही खेचरीमुद्रा बन्ध के अनुवेध का अनुसन्धान भी करना चाहिये।

विज्ञानभैरव की टीका के अनुसार सारे जगत् को संज्ञाशून्य करके करंन (कंकाल) रूप में देखने वाली मुद्रा करंकिणी कहलाती है एवं इसके साधक ज्ञानसिद्ध कहलाते हैं --"करंकिण्या विगतचेष्टं करंकमात्रं शवमिव विश्वं पश्यन्त्या ......" (वि.भै., पृ० ८६)।

ज्वालिनी--

इस मुद्रा के अन्तर्गत ठोड़ी से ललाट तक हाथों को अंगुलियों सहित फैला कर, अन्तर्भृकुटी अर्थात् हाथों से भौंहें चढ़ा करके हाथों को वायु वेग से चलाया जाता है। साथ ही मुँह फाड़ कर जिह्वासहित हाहाकार करना चाहिये। यह ज्वालिनी मुद्रा है। ऊर्ध्वमुख त्र्यश्र अग्निचक्र में आत्मा की भावना करते हुए इस मुद्रा के साथ एक सौ आठ जप करने पर जडाजड़सहित त्रैलोक्य सिद्धि होती है (तन्त्रा., ३२. २७-८)।

अभिनवगुप्त ने अन्य शास्त्रों में निरूपित परस्पर न्यूनाधिक वैषम्ययुक्त खेचरी मुद्राबन्ध की विधि का भी निरूपण किया है।

श्रीयोगसंचरशास्त्र में कहा है कि दूसरों की देह में अपनी आत्मा को एवं दूसरों की आत्मा को स्वयं की देह में देखते हुए,हानाद-हाकार के उच्चारण के द्वारा गमागमन करते हुए (स्वदेह से परदेह एवं परदेह से स्वदेह में) नौ छिद्रों में प्रविष्ट एक ही नादयुक्त व्यापक ध्रुव आत्मा का अनुसन्धान करते हुए योगी खचारी अर्थात् खेचरी मुद्राबन्ध से अनुविद्ध हो जाता है (तन्त्रा., ३२. ३०-३१)।

वीरावलिशास्त्र के अनुसार खेचरी मुद्रा के अन्तर्गत अणु, पशुप्रमाता के भीतर विचरण करती हुई तन्मयता को प्राप्त कुलकुण्डलिका अर्थात् मध्यप्राणशक्ति को बांधकर इस संसार में स्थित अज्ञानादि का संहार करने को उद्यत शक्ति को अपने स्थान शाक्ताधार में ऐक्यापत्तिरूप निर्वृत्ति प्राप्त कराई जाती है। साथ ही ज्ञानामृतरसात्मक कन्दपद में सर्वकाम स्वरूप वाले जीव को, मध्यविषधारादि प्रशान्तरूप कँदस्थान में, राव (नाद) करते हुए चिन्तामणि नामक चतुष्कोण जिसमें संजीवनीरूप अमृत स्थित है, तक एवं पिण्डाधार शरीर में पहुँचाया जाता है। उन आधारों को प्राप्त उस कुलकुण्डलिनी को प्रबुद्ध करके अर्थात् मूलस्थान से प्रारम्भ करके प्राणापानरूप चक्रद्वय से संयुक्त करते हुए द्वादशान्त तक पहुँचाया जाता है। योगी इस गति के ज्ञान से उत्पन्न माहात्म्य से ही दुर्भेद्य अज्ञानग्रन्थि एवं वज्र नामक मध्यनाड़ी को विदीर्ण करता है एवं प्राणापानात्मक दोनों शाखाओं के अन्त का आश्रय लेकर जन्माधाररूप त्रिकोण में से निकले हुए, मेढ्र के नीचे स्थित लिंगमूल का भेदन कर देता है। वहीं पर प्राणापानरूप चक्र से ऐक्यरूप होकर भासित होने वाली मध्यप्राणशक्ति का उदय होता है। पुनः विपरीत संचारपूर्वक,अधोगति से वह प्राणशक्ति द्विधाभाव ग्रहण करती है एवं ऊर्ध्व आद्य अंगुष्ठरूप कालाग्नि-पर्यन्त गमन अर्थात् तद्रूप ग्रहण करती है। वही कुण्डलिनी ऊर्ध्व एवं अधःसंचार को छोड़कर प्राणापानरूप लिंगों के द्वारा ज्ञात होने के कारण लिंगिनीरूप में उन - उन आधारों का भेदन करती हुई मध्य-धाम में पहुँचती है और वहाँ पर प्राण एवं अपान इन दोनों पदों के संयोग से संवित् को विकसित करती है। इन समस्त भावों में अनुस्यूत ऊर्मियों के उन्मीलन अर्थात् परासंवित् का विकास करने वाले स्थान के स्वरूप एवं प्रक्रिया का ज्ञान हो

जाने पर योगी में संवित् के रसादान एवं विसर्ग अर्थात् सृष्टि एवं संहार की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। प्राणशक्ति के संचार एवं परासंवित् के उदय का यह क्रम निश्चित नहीं है, इसका व्युत्क्रम भी हो सकता है। जब पराखेचरी योन्याधार से उदित होकर शूलमूलरूप में हठात् शक्ति-व्यापिनीसमनारूप अरात्रय से संयुक्त होकर द्वादशान्त पद को प्राप्त कर लेती है। इस स्थिति में समस्त बाह्य भावों का उच्छेद अथवा क्रोडीकार हो जाता है एवं स्वावमर्शरूप "अ" वर्ण में बाह्यामर्शरूप अन्य समस्त वर्ण लीन हो जाते हैं (तन्त्रा., ३२. ३२-४२)।

शुद्धात्मा देहस्थित कौलेश (योगी) सर्वप्रथम नादिफान्त - मालिनीरूप सर्वमन्त्रारणिस्वभाव नाद का अपनी देह से अभिन्नरूप में उच्चारण करता है एवं उसी गर्भयुक्त उच्चार्यमाण नाद का आधार लेकर जन्माकाशरूप मर्मस्थान में कौलिनी कुलकुण्डलिनी के पदरूप नाड्यात्मक प्रथम चक्र को पाद अर्थात् अंश से पीड़ित करते हुए, वहाँ किसी तरह प्राणशक्ति का निरोध करके, अवशिष्ट पाँचों चक्रों पर आक्रमण करके ब्रह्मादि कारण-पंचक (ब्रहमा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर व सदाशिव) का उल्लंघन कर देता है एवं हृदयस्थित नाडित्रयात्मक शूल एवं द्वादश ग्रन्थ्यात्मक ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर स्थित शक्त्याद्यात्मक शूल के भेदन - क्रम से रुद्र शक्ति को प्रबुद्ध करता है जिससे यह जन्मपद से प्रारम्भ करके वायुचक्र के अन्त अर्थात् समीप में स्थित नाभिमण्डल और उनके संघट्ट के आधारभूत लम्बिकास्थान और उससे ऊपर स्थित बिन्दु नामक अमृत के आश्रयस्थल, भ्रूमध्य में स्थित विद्याकमल - संज्ञक, नाडियों के रहने के कारण द्वादशग्रन्थ्यात्मक (नाडियों के) आधारस्थल से निकल कर समस्त सम्बन्धों को पार करके द्वादशान्त पद पर्यन्त ऋजुक्रम से जाता है और वहाँ विश्रान्ति करता है। पुनः उसे चन्द्रचक्र अपानस्थान से प्रत्यावृत होते हुए विलोम क्रम से स्वशरीर में प्रवेश करके व्युत्थान दशा के अनुकूल व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकारखेचरी - मुद्राविष्ट ज्ञानी अन्तर्बहिरुन्मेष व निमेष के माध्यम से सृष्टिसंहार करते रहते हैं (तन्त्रा., ३२. ४२-४७अब)।

कामिकागम के अनुसार खेचरीमुद्रा के अन्तर्गत योगी चुम्बाकार अर्थात् काक चंचुपुट की आकृति वाले मुख से अनच्ककलात्मा "ह" के द्वारा मध्यप्राणशक्ति का अवलम्बन करने वाले वक्त्र से इस प्रमाणप्रमेयात्मक विश्व को स्वात्मसात् कर लेता है एवं इसलिए परप्रमाता से एकरूप तत्त्व का चन्द्रार्कपुट अर्थात् प्राणापानयुग्म के मिलनस्थल मध्यधाम में साक्षात्कार करता है उसी से योगी का खचारित्व सिद्ध हो जाता है (तन्त्रा., ३२. ४७स-४८)।

श्रीकुलगह्वरशास्त्र में समस्त मुद्राओं में खेचरी मुद्रा को प्रधान माना गया है एवं उसके तीन प्रकार वाचिक, कायिक एवं मानसी माने गये हैं। वाचिक खेचरी मुद्रा मन्त्र के त्रिविध उच्चार (उपांशु, मानस एवं वाच्य) के आधार पर तीन प्रकार की होती है। कायिकी मुद्रा शक्तित्रय (समना, उन्मना एवं व्यापिनी) से युक्त होती है एवं स्वात्मा में परासंवित् के आमर्शनपूर्वक परानन्द की प्राप्ति कराती है। मानसी मुद्रा के अन्तर्गत परासंवित् शरीर के विभिन्न" अंगों नासापुट, नेत्रद्वय, हृदय, स्तनद्वय एवं लिंग आदि के माध्यम से

शरीर में स्थित है, इसका जन्मस्थान से लेकर द्वादशान्त तक ऊर्ध्वचार के द्वारा अवधारण किया जाता है (तन्त्रा., ३२. ४६स-५१)।

इनके अतिरिक्त गह्वरशास्त्र में पद्मादि आठ अन्य मुद्राएँ भी बताई गई हैं। अभिनवगुप्त ने इनका नामोल्लेख नहीं किया है। जयरथ के उद्धरण एवं मा. वि. तन्त्र (७.२) के अनुसार ये पद्म, त्रिशूल, शक्ति, चक्र, सवज्रा, दण्ड, दंष्ट्रा, महाप्रेता होती हैं। मा. वि. तन्त्र में इन्हें खगेश्वरी महामुद्रा कहा गया है।

भर्गाष्टक शिखाकुल में खेचरी मुद्रा के निम्नलिखित आठ भेद बताए गए हैं---

१. योगी पद्मासन में बैठकर पृष्ठस्थित होने के कारण उदित होती पराङ्मुख रश्मियों के द्वारा बाहर निकलती हुई शशांकरश्मियों व हाथों की अंगुलियों के अग्रभागरूप रश्मियों के द्वारा शीघ्र बाह्य उपसंहार करके अन्तःस्थित हो जाता है। बाह्य वस्तुओं के संकुचित हो जाने से यह संकोचाख्या शशांकिनीमुद्रा है।
२. उसी स्थिति में हस्तांगुल्यादि सन्निवेश का आश्रय लेकर भुजाओं को अवकुंचित करके उठाते हुए-- स्वस्तिकाकार- रूप में रखते हुए पाँचों व्योमों में निर्दिष्टक्रम से अवस्थित कराने के कारण व्योमाख्य द्वितीय मुद्रा है।
३. अन्दर करके नीचे स्थित दक्षिण मुट्ठी के ऊपर बाहर निकले हुए बाईं मुट्ठी के अंगूठे रूप दोनों मुट्ठियों के हृदय पर संघट्ट कराने पर सिद्ध होने वाली यह हृदयाख्य तृतीय खेचरी मुद्रा है।
४. शान्ताख्य चतुर्थी मुद्रा में भुजाओं को ऊपर की ओर करके दोनों हाथों को एक दूसरे के ऊपर - नीचे करते हुए (बांया हाथ ऊर्ध्वमुख एवं दांया हाथ अन्तर्मुख होगा) उन्हें समदृष्टि से देखना चाहिये।
५. शान्ताख्या खेचरी मुद्रा के समान सन्निवेश होने पर भी जब हथेली नीचे की ओर हो तो वह शक्तिमुद्रा नामक पंचम खेचरी मुद्रा है।
६. दोनों हाथों की मुट्ठी बांध कर दसों अंगुलियों को शीघ्र टेढ़ी फेंकने से प्रत्येक हाथ में पाँच कुण्डलिनीरूप होने पर पंचकुण्डलिनी नामक छठी मुद्रा है।
७. जब इसी प्रकार इन अंगुलियों का ऊपर प्रक्षेप हो तो यही पंचकुण्डलिनी संहारमुद्रा कहलाती है। यही पशुओं की पाशकर्तनी उत्क्रामणी मुद्रा भी कहलाती है।
८. नीचे देखते हुए भलीभाँति अन्तर्लक्षित दृष्टि से आकुंचित हस्तयुगल को सुदूर आकाश में साहसमुद्रा में अनुप्रवेशपूर्वक शीघ्र स्वयं को गिराते हुए जब योगी का बोध बढ़ जाए तो यह बोधवर्तिनी खेचरी वीरभैरवसंज्ञक अष्टम मुद्रा होती है (तन्त्रा., ३२. ५४-६२)।

इस प्रकार अनेक भेदों में से किसी भी एक का आश्रय लेकर उस खेचरी मुद्रा से आविष्ट होते हुए योगी एक सृष्टिमय पराबीज को प्राप्त कर लेते हैं। एक ही सृष्टिमय बीज है जो समस्त मन्त्रों का वीर्य है : एक ही मुद्रा खेचरी मुद्रा है जिसमें समस्त मुद्रा - समूह स्थित है। उस खेचरी चक्र पर आरूढ़ योगी को संवित् जिस रूप में उल्लसित हो वही मुद्रा माननी चाहिये, शेष तो देह के विकार हैं। याग के प्रारम्भ, मध्य व अन्त में, ज्ञानयोग

विमर्श में, पाशच्छेद में, विघ्नशान्ति में मुद्रा - विधि की जानी चाहिये।

यज्ञादि में प्रमुखतः काम आने वाली कुछ मुद्राएँ इस प्रकार हैं---

आवाहन मुद्रा : उत्तानौ तु करौ कृत्वा अंगुष्ठौ तलमध्यगौ आवाहनी त्वियम्

स्थापन मुद्रा : बद्धांगुष्ठौ स्थितौ मुष्टी उन्मुखौ स्थापनी भवेत् स्व.त., २.१००

दोनों हाथ ऊपर की ओर करके अंगूठों को हथेली के बीच में करते हुए देवताओं का आवाहन किया जाता है। उनके स्थापन के लिए दोनों हाथों के अंगूठों को संश्लिष्ट करते हुए मुट्ठी बाँधी जाती है।

मृगीमुद्रा का प्रायः तर्पण के लिए प्रयोग होता है। अंगुष्ठाग्र को मध्यमा एवं अनामिका से संयुक्त करते हुए एवं कनिष्ठिका एवं तर्जनी को दूर रखते हुए मृगी मुद्रा का प्रयोग होता है (विवेक, १५.४२०)।

नाराच मुद्रा--

"अंगुष्ठ तर्जन्यग्राभ्यां स्फोटो नाराचमुद्रिका" -- प्र.सा.(टी.शा. ति.) ४.३३

तर्जनी अंगुलि के अग्रभाग एवं अंगुष्ठ को शीघ्रतापूर्वक संयुक्त करते हुए दूर कर देना स्फोट होता है जिससे नाराचमुद्रा की सिद्धि होती है।

कुम्भ मुद्रा--

"संहतागुलिकौ पाणी पृष्ठार्धेन्दूदराहितौ।

सुश्लिष्टमूलावंगुष्ठौ कुम्भमुद्रा प्रकीर्तिता।।" --विवेक, १५. ७३

हाथों की अंगुलियों एवं अंगूठों को संयुक्त कराते हुए, हथेलियों को बीच में से दूर रखने पर कलश की-सी आकृति के द्वारा कुम्भमुद्रा की सिद्धि होती है।

मुद्राओं में प्रमुख खेचरी मुद्राबंध की प्राप्ति हो जाने पर साधक को क्रमशः बोधावेश, संवित् की सन्निधि, संविदैक्य, विसर्जन, स्वरूपगति, शंकादलन, चक्रोदय, दीप्ति आदि फलों की प्राप्ति होती है (तन्त्रा., ३२. ६४-७)।

इस प्रकार याग, मण्डल, मन्त्र आदि अन्य कर्मकाण्डों के समान मुद्रा के प्रसंग में भी इससे प्राप्त होने वाले फल का निरूपण किया गया है। अन्य क्रियाओं से जो संवित्समावेशरूप फल प्राप्त होता है, वह केवल मुद्राबन्ध द्वारा भी प्राप्त हो जाता है।

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड का निरूपण कश्मीर शैव दर्शन की कुलशाखा अथवा कौलसम्प्रदाय के आधार पर है। कौल सम्प्रदाय उपासना की चरमभूमि से सम्बन्धित है। उसका अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ है। साथ ही अधिकारी होते हुए भी उसमें प्रवृत्त होने पर विरुद्धाचरण के दोष की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए उसकी निन्दा की जाती है कि अधिकारी होने पर भी अत्यधिक रहस्यविषय में प्रवृत्ति हो। कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है--

"कुलमार्गरतो देवि न मया निन्दितः क्वचित्।

आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते न चेतरे।।"

अन्यत्र

"कुलधर्ममिमं ज्ञात्वा मुच्येयुः सर्वमानवाः ।
इति मत्वा कुलेशानि मया लोके विगर्हितम् ।।"

तान्त्रिक कर्मकाण्ड की सार्ववर्णिकता, पतित के उद्धार की भावना, गुरु की शिवरूपता, देह को मण्डलस्वरूप मानकर उसका पूजन-तर्पण, पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की एकता, साधना में स्त्री का योगदान आदि विशेषताएँ उसे वैदिक कर्मकाण्ड से भिन्न विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं।

सामान्य जीवन के समस्त उपादानों एवं क्रियाओं को शुद्धता-अशुद्धता की मीमांसा से परे रखते हुए, परमलक्ष्य की प्राप्ति का सहायक बनाना प्रस्तुत दर्शन की अद्वितीय विशिष्टता है। क्रिया के बाह्य रूप को महत्त्व न देकर उसके अन्तर्निहित दृष्टिकोण अथवा प्रेरक की दृष्टि से मूल्यांकन करना ही एक स्वस्थ विचारधारा का परिचायक है, साथ ही यह दृष्टिकोण मानवीय संवेगों को महत्त्व प्रदान करने वाले स्वस्थ एवं शान्तिपूर्ण वातावरण के निर्माण में सहायक होगा।



परिशिष्ट - 1

विवेक में उपलब्ध अकारादि मन्त्राक्षरों के वाचक - पद

अक्षर	वाचक पद	सन्दर्भ	पृष्ठ
अ	अनुत्तरः	30. 120,	पृ. 3510
आ	दारणा	30. 64,	पृ. 3492
इ	इच्छा	30. 120,	पृ. 3510
उ	शरस्वर	30. 64,	पृ. 3490
उ	कालरुद्रः	30. 64,	पृ. 3487
	वामभूषणः	29. 195,	पृ. 3417
	रुद्र उकारः	19. 22,	पृ. 2917
	रुद्रः	30. 64,	पृ. 3492
ऋ	शण्ठाद्यं	30. 64,	पृ. 3493
ए	त्र्यस्त्रं	30. 120,	पृ. 3510
	त्र्यश्रमेकारः	16. 49,	पृ. 2744
औ	त्रिशूलं	30. 64,	पृ. 3492
	भुवनेशः	30. 64,	पृ. 3487
	वामजंघा	29. 195,	पृ. 3417
	शूलम्	30. 95,	पृ. 3502
	सावित्रिका	30. 64,	पृ. 3487
अं	ख बिन्दुः	30. 64,	पृ. 3490
अः	अनंगद्वयं विसर्गः	30. 64,	पृ. 3487
	इच्छा	30. 64,	पृ. 3487
	विसर्गः	30. 64,	पृ. 3492
	शून्यद्वयं	30. 64,	पृ. 3487
क	छेदकं	30. 64,	पृ. 3493
ज	द्विजिह्वो	30. 64,	पृ. 3490
	त्रिशूलं	30. 64,	पृ. 3492
	शूलं	30. 64,	पृ. 3493
झ	उर्ध्वबाहुः	30. 95,	पृ. 3502
ट	अर्धार्णेति		
	अनच्कष्टकारः	30. 28,	पृ. 3476
ड	डाकिनीमर्म	30. 64,	पृ. 3492
	मन्दो डकारः	29. 213,	पृ. 3427
ढ	फणभृच्छब्दवाच्या	29. 213,	पृ. 3427
ण	अश्वः	30. 120,	पृ. 3510
	तरंगं	30. 64,	पृ. 3492
फ	फुल्लार्णः	16. 49,	पृ. 2744
	वामांघ्रि	30. 64,	पृ. 3492
भ	दक्षांगुलिः	30. 64,	पृ. 3492
म	कालो	30. 64,	पृ. 3492
	कालो मकारः	16. 49,	पृ. 2744
	नितम्बं	29. 195,	पृ. 3417
	पुमान्	19. 22,	पृ. 2917
	प्राणशमनो न्तको	29. 213,	पृ. 3427
य	पवनो	30. 64,	पृ. 3492
	मरुत्	29. 213,	पृ. 3427
	वायुः	29. 213,	पृ. 3427
	समीरणो	30. 12,	पृ. 3468
व	अम्बु	30. 12,	पृ. 3468
	उदधीशो	30. 64,	पृ. 3492
	कण्ठो	30. 64,	पृ. 3492
र	अग्निः रेफः	16. 49,	पृ. 2744
	अग्नि	29. 213,	पृ. 3427
	कालानलो	30. 64,	पृ. 3492
	दण्डो	29. 195,	पृ. 3417
		30. 64,	पृ. 3492
	वह्निः	29. 213,	पृ. 3427
		19. 22,	पृ. 2917
		20. 4,	पृ. 2933
ल	इन्द्रो	30. 12,	पृ. 3468
	पृथ्वी	30. 12,	पृ. 3468

	वामस्तनो	30. 64,	पृ. 3492
श	लक्ष्मीबीजं	30. 64,	पृ. 3492
स	अमृतं	30. 64,	पृ. 3487
	इन्दुः	30. 64,	पृ. 3493
	जीवः	30. 28,	पृ. 3478
		30. 64,	पृ. 3492
	विसर्गब्रह्म	30. 120,	पृ. 3510
	सुधा	29. 213,	पृ. 3427
		30. 64,	पृ. 3493
	सोमः	29. 213,	पृ. 3427
ह	असुः प्राणो	29. 213,	पृ. 3427
	सर्वगतो	30. 64,	पृ. 3492
	हंसः	19. 22,	पृ. 2917
	हंसो	30. 64,	पृ. 3487
क्ष	कूटं	29. 213,	पृ. 3427
		30. 64,	पृ. 3493
	त्रिकूटः	30. 95,	पृ. 3502
	नभः	30. 64,	पृ. 3493
	नाभिः	29. 195,	पृ. 3417
		30. 64,	पृ. 3492
	संहारः	30. 12,	पृ. 3468

परिशिष्ट-2

विवेक में उपलब्ध

पारिभाषिक शब्दों के द्वारा सूचित मन्त्राक्षर अथवा मन्त्र-बीज

अग्निदयिता स्वाहा	30. 107,	पृ. 3506
अग्निः रेफः	16. 49,	पृ. 2744
अग्नि रः	29. 213,	पृ. 3427
अनंगद्वयं विसर्गः	30. 64,	पृ. 3487
अनच्को नादः	30. 95,	पृ. 3502
अम्बु व	30. 12,	पृ. 3468
अनुत्तरः अ	30. 120,	पृ. 3510
अमृतं स	30. 64,	पृ. 3487
अर्धार्णेति अनच्कष्टकारः	30. 28,	पृ. 3476
अश्वो ण	30. 120,	पृ. 3510
असुः प्राणो हः	29. 213,	पृ. 3427
अस्त्रमिति फट्	30. 28,	पृ. 3476
इच्छा इ	30. 120,	पृ. 3510
इच्छा अः	30. 64,	पृ. 3487
इन्दुः स	30. 64,	पृ. 3493
इन्द्रो ल	30. 12,	पृ. 3468
इषुः फट्	30. 120,	पृ. 3510
उदधीशो व	30. 64,	पृ. 3492
उर्ध्वबाहुः झ	30. 95,	पृ. 3502
कण्ठो व	30. 64,	पृ. 3492
कालरुद्रः उ	30. 64,	पृ. 3487
कालानलो र	30. 64,	पृ. 3492
कालो मकारः	16. 49,	पृ. 2744
कालो म	30. 64,	पृ. 3492
कूटं क्षः	29. 213	पृ. 3427
	30. 64,	पृ. 3493
ख बिन्दुः	30. 64,	पृ. 3490
छेदकं क	30. 64,	पृ. 3493
जीवः स	30. 28,	पृ. 3478
	30. 64,	पृ. 3492
डाकिनीमर्म ड	30. 64,	पृ. 3492
तरंगं ण	30. 64,	पृ. 3492
तारः प्रणवः	17. 13,	पृ. 2861
	22. 26,	पृ. 2979
तारः प्रणवः	30. 64,	पृ. 3490
त्रिकूटः क्ष	30. 95,	पृ. 3502
त्रिशूलं औ	30. 64,	पृ. 3492

तन्त्रालोक एवं विवेक में उपलब्ध पारिभाषिक शब्दावली

अकल्पितकल्पक	यस्तु तद्रूपभागात्मभावनातः परं विना। शास्त्र वित्स गुरूः शास्त्रे प्रोक्तोऽकल्पितकल्पकः।। तन्त्रा., 4. 51 सद-52अब.
अकल्पित गुरु	अकल्पितो गुरूर्ज्ञेयः सांसिद्धिक इति स्मृतः। तन्त्रा., 4. 51 अब.
अकुल	अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते। तन्त्रा., 3. 143 अब.
अण्ड	अण्डो हि नाम 'वस्तूनां' तत्त्वक्षादीनां पिण्डः समुदाय उच्यते। 8. 174, पृ 1474.
अधरतन्त्र	अधरतन्त्रं वैदिकादि। 21. 9, पृ. 2943.
अध्ययन	अध्ययनमेवमप्रतिपत्तौ तत्रैव पौनः पुन्येनाभ्यासः। 8. 28, पृ. 1541.
अनच्क	काकचंचुपुटाकार ध्यानधारणवर्जितम्। विषतत्त्वमनच्काख्यं।। तन्त्रा., 3. 169.
अभिजन	अभिजनेति वक्त्रैः। 30. 64, पृ. 3488.
अभ्यास	अभ्यासः पौनःपुन्येन प्राणचारामर्शनम्। 13. 235, पृ. 2346.
अर्चन	तत्रार्पणं हि वस्तूनामभेदेनार्चनं मतम्। तन्त्रा., 12. 9.
अशुद्धि	शिवात्मकेष्वप्येतेषु बुद्धिर्याव्यतिरेकिणी। सैवाशुद्धिः पराख्याता।। तन्त्रा., 4. 118 सद-9अ.,
आचार्यादि	तत्रैव च पुनः श्रीमद्रक्ताराधनकर्मणि। 1163 विधिं प्रोक्तं सदा कुर्वन् मासेनाचार्य उच्यते। (पक्षेण साधकोऽर्धार्धात् पुत्रकः समयी तथा 1164) तन्त्रा., 4. 63सद-64.
आदियाग	आदीयते यतः सारं तस्य मुख्यस्य चैष यत्। मुख्यश्च यागस्तेनायमादियाग इति स्मृतः। तन्त्रा., 29. 164.
आवाहन	अनभिमुखस्याभिमुखी करणम्। 2. 27, पृ. 332.
आसन	सन्निधानमुद्रया पूजां प्रति औन्मुख्यम्। 2. 27. पृ. 332.
उदय	उदये इति प्राण शक्त्युदयस्थाने जन्माधारे। 29. 88. पृ. 3348.
उपपीठ	उपपीठं देवीकोट्टादि। 4. 260, पृ. 906.
उपाय	उपेयसूतिसामर्थ्यमुपायत्वम्। तन्त्रा., 28. 190. अब. (इदं हि नाम उपायस्य उपायत्वं) यदुपेयाविष्करणे परानपेक्षं समर्थत्वम्। 28. 190, पृ. 3180.
उपासन	उपासनं पुनः पुनः चेतसि निवेशनम्। 1. 16. पृ. 33.
ऊह	ऊहं प्रत्यक्षादिप्रमाणं व्यतिरेकेण स्वयमेव तत्तदर्थविषयः प्रत्ययः। 8. 281, पृ 1541
ओवल्ली	ओवल्लयो ज्ञानप्रवाहाः। 29. 39. पृ 3318 ओवल्यो बोध्यादयः षट् ज्येष्टादिभेदभिन्ना ज्ञानसन्ततयः। 4 275, पृ. 920.
एकान्त	शुद्धाशुद्धविकल्पानां त्याग एकान्त उच्यते। तन्त्रा., 29. 92 अब.

कल्पित	येन केनाप्युपायेन गुरूमाराध्य भक्तितः। तद्दीक्षाक्रमयोगेन शास्त्रार्थं वेत्यसौ ततः। अभिषेकं समासाद्य यो भवेत्स तु कल्पितः। तन्त्रा., 4. 70सद-71.
कल्पिताकल्पक	यो यथाक्रमयोगेन कस्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि।। आकस्मिकं व्रजेद्बोधं कल्पिताकल्पितो हि सः। तन्त्रा., 4. 72सद-73 अब.
कुण्ड	कुण्डं शक्तिः। तन्त्रा., 29. 141स. कुण्डं भगवच्छक्तिरूदितं रूपम्। 29. 142, पृ. 3390.
कुण्डगोलक	अमृतमुभयसामरस्यस मुत्थः। कुण्डगोलकाख्योद्रव्यविशेषः।। 15. 167, पृ. 2524.
कुल	कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता। स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम्।। तन्त्रा, 29. 4.
कुलपर्व	एवं यो यस्मिस्तिथौ संभूत तत्तस्य कुलपर्वेति भावः। 28. 18, पृ. 3141.
कूटबीज	क्षकाराख्येन कूटबीजेन। 3. 181, पृ. 531.
क्षेत्र	क्षेत्रं मेलापस्थानम्। 4. 260, पृ. 906.
ख (दशधा)	आत्मानुकुलमूलानि शक्तिर्मृतिश्चितीरतिः। शक्तित्रयं द्रष्टृदृश्योपरक्तं तद्विवर्जितम्।। एतत्खं दशधा प्रोक्तमुच्चारोच्चारलक्षणम्। तन्त्रा, 5. 93-43ब, द्र विवेक.
खात्मा	खात्मा शून्यप्रमाता। 6, पृ. 1098.
गुह्य	शक्तिकजं गुह्यम्। 27. 29, पृ. 3094. गुह्यं जन्माधारः। 29. 88, पृ. 3894.
गुह्यक	गुह्यकमिति गुह्यां भवं गुह्यं रन्ध्रं तेन। उपलक्षितं कं करन्ध्रं ब्रह्मबिलमिति। 29. 88, पृ. 3349.
गुह्यचक्र	गुह्यचक्रे इति योगिनीवक्त्राजवक्त्रापरपर्यायौ जन्माधारद्वादशान्तौ। 29. 88, पृ 3349
गमागम	गमागमे इति प्राणापानप्रवाहरूपे। 29. 88, पृ. 3348
गोत्र	गोत्र गुरुसन्तानो। तन्त्रा., 4, 265 स.
ग्रामधर्मवृत्ति	ऊर्ध्वम् इति ऊर्ध्ववाहित्वात्प्राणं अध इति। अधोवाहित्वादपानं, त्यक्त्वा इति तद्गतिं। त्रोटयित्वा स ग्रामधर्मवृत्तिरर्थात् मध्यनाडीं प्रविशेत्।। 1. 86, पृ. 130
घटमान (योगी)	घटमानश्च तदभ्यासमात्रनिष्ठः। 13. 331, पृ. 2398.
घर	घरम् इति षण्णां साधिकाराणां राजपुत्राणां भिन्नं भिन्नमाश्रमस्थानम्। 4. 268, पृ. 913.
घट्टन	घट्टनं प्राणविक्षेपः। 13. 235, पृ. 2346.

चक्र	विकासात्तृप्तितः पाशोत्कर्तनात्कृतिशक्तितः।।
	चक्रं कसेश्चकेः कृत्या करोतेश्च किलोदितम्। तन्त्रा., 29. 106-9सद-7अब.
चर्या	चर्या चर्यापादोक्त आचार। 4. 264, पृ. 910.
जप	जपः संजल्पवृत्तिश्च नादामर्शस्वरूपिणी। तन्त्रा., 29. 93 अब.
तन्त्र	तन्त्रं तदनुगुणमेव पूजाहोमादि। 21. 9, पृ. 2943.
तप	तपः चान्द्रायणादि। 4. 264, पृ. 910.
तिथि	तिथिः प्रतिपदादिरूपा।। 4. 264, पृ. 910.
तिरोभव	शैवशास्त्रोक्तं मन्त्रादि सम्यग्दीक्षादिपूर्व गृहीत्वा।।
	पश्चादादराभावात् यत्त्यजेत् सोस्य तिरोभवः।। 13. 121, पृ. 2281.
तिरोहित	गुरूर्हि कुपितो यस्य स तिरोहित उच्यते। तन्त्रा., 23. 63अब.
तुटि	तुटिः सपादांगुलयुक् = 2.25 । तन्त्रा., 6. 64अ.
तूर	तूर पात्रादावुत्कीर्ण आकारविशेषः। 2. 43, पृ. 346.
तोद	तोदं प्रेरणम्। 19. 20, पृ. 2916.
त्रिकोण (योनि)	त्रिकोणमित्यनेन योगिनीवक्त्रापरपर्यायजन्माधाररूपत्वमप्यस्य सूचितम्। 3. 95, पृ 456.
त्रिकोण	त्रिकोण भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
	इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिंचिनीकमम्।। 3. 95, पृ. 456.
त्र्यायुष	त्र्यायुषं भस्मपुण्ड्रकम्। 15. 510, पृ. 2692.
नवात्मा	बिन्दु- प्राणदण्डनाभिनितम्बवामस्तन्कण्ठवामस्कन्धवामकर्णाभरणाक्षराख्यः। 30. 95, पृ. 3502.
निरोध	निरोध तत्रैवाविचलत्त्वेनावस्थानम्। 2. 27, पृ. 332.
पराकौलिकी	अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा। तन्त्रा., 3. 136 सद.
पर्व	स्वसंवित्पूर्णतालाभसमयः पर्व भण्यते। तन्त्रा., 28. 16सद.
	यदा हि बोधस्योद्रेकस्तदा पर्वाह पूरणात्। तन्त्रा., 25. 12, अब.
	पर्वपूरण इत्येव यद्वा पृ पूरणार्थकः।
	पर्वशब्द निरूक्तश्च पर्व तत्पूरणादिति। तन्त्रा., 28. 17
पल्ली	पल्लीभिक्षास्थानम्। 4. 268, पृ. 913.
पारमेशी (दीक्षा)	विद्येश्वरादिवत् साक्षात्परमेश्वरकर्तृका।। 8. 193, पृ. 1487.
पिण्डनाथ	एवं च प्रथमं विश्वसंहारस्योपक्रान्तत्वात् आकाशबीजस्योदयः
	तदनु तस्यैव प्ररोहात् संहारकुण्डलिनीबीजस्य- इति
	श्रीपिण्डनाथसम्बध्याद्यवर्णद्वयमपि अनेनोद्धृतम।। 5. 75, पृ. 1000.
पीठ	पीठं कामरूपादि। 4. 260, पृ. 906.
पुस्त	पुस्तं लेपादिनिर्मिताकृतिः। 6. 4, पृ. 1091.

पूजोपकरणम्	यत्किंचिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।।
	योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत्। तन्त्रा., 4. 120सद-21अब.
पौरुषेयी (दीक्षा)	शास्त्रक्रमेणाचार्यकर्तृका। 8. 193, पृ. 1487.
प्रमाणप्रमेय-	अर्कः प्रमाणं सोमस्तु मेयं ज्ञानक्रियात्मकौ।
प्रमाता	राहुर्मायाप्रमाता स्यात्तदाच्छादनकोविदः।। तन्त्रा., 6. 102.
प्राण	प्राणस्ताः (तुटिः) षोडशोच्छ्वसन् ($2.25 \times 16 = 36$ अंगुल)। तन्त्रा, 6. 64ब.
	प्राण एवं शिखा श्रीमत्त्रिशिरस्युदिता हि सा।।
	बद्धा यागादिकाले तु निष्कलत्वाच्छिवात्मिका। तन्त्रा., 6. 22सद-23अब.
प्राणपथ	प्राणपथे इति मध्यनाड्याम्। 29. 7, पृ. 3295.
प्रातिभमहाज्ञान	स्वयमेव यतो वेत्ति बन्धमोक्षतयात्मताम्।
	तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत्। तन्त्रा., 13. 132.
प्राक्तनी (दीक्षा)	तत्तज्जन्मान्तरीयाभ्यासबलाद् अनुपायरूपतामाप्तेत्यर्थः। 8. 193. पृ. 1487.
बन्ध	पारमेश्वराद्रूपात् भेदेन प्रथनं नाम। 8. 293, पृ. 1551.
ब्रह्म	ब्रह्म आनन्दो ब्रह्मपरमम्। तन्त्रा., 29. 97स.
ब्रह्मचारी	ओष्ठ्यान्तत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते। तन्त्रा., 29. 98 सद.
ब्रह्मस्थान	ब्रह्मस्थाने इति द्वादशान्ते। 29. 252, पृ. 3445.
भाव	एवमस्मि भविष्यामीत्येष तद्भाव उच्यते। तन्त्रा., 28. 347सद.
भावना	तर्क एव हि परां काष्ठामुपगतो भावनेत्युच्यते। 4. 14, पृ. 629.
भ्रम	भ्रमं वामादिक्रमेणावर्तनम्। 19. 20, पृ. 2916.
मठिका	मठिका कुलशब्दितः। तन्त्रा., 4. 265द.
मण्डल	मण्डलेति शिष्यरक्षार्थं शय्यायां बहिः
	सर्वतोदिक्कं भस्मादिना रेखासंनिवेशः। 21. 15, पृ. 2947.
मन्त्र	मननत्राणदं यत्तु मन्त्राख्यं। तन्त्रा, 37. 19सद.
	मन्त्रो हि शिवस्वभावः। तन्त्रा. 37. 19, पृ. 3688.
मातृका	शब्दराशेर्भैरवस्य यानुच्छूनतयान्तरी।।
	सा मातेव भविष्यत्वात्तेनासौ मातृकोदिता! तन्त्रा., 15. 130सद-31अब.
मातृता	मातृतारः फेंकारः। 30. 95, पृ. 3502.
मालिनी	मालिनीमालिता रुद्रैर्धारिकासिद्धिमोक्षयोः। तन्त्रा., 15. 131सद.
	बीजयोनिसमापत्तिर्विसर्गोदय सुन्दरा।
	मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरूपिणी।। तन्त्रा., 3. 233.
मुद्रा	प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा। 32. 1, पृ. 3594.
	मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
	रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता। तन्त्रा., 32. 3.

मूर्ति	मूर्तिर्लिंगादिरूपा। 28. 189, पृ. 3179.
मेलक	मेलकं परमं पदम्। तन्त्रा., 29. 141द.
	मेलकं संघट्टः। 29. 142, पृ. 3390.
यन्त्रा	यन्त्रं भूर्जपत्रादौ मारणानुगुणो मन्त्रासंनिवेशः। 21. 9, पृ. 2943.
याग	तथात्वेन समस्तानि भावजातानि पश्यतः।
	ध्वस्तशंकासमूहस्य यागस्तादृश एव सः।। तन्त्रा., 29. 5.
यामल	यामलं लोलीभावः। 1. 1, पृ. 9.
	युग्मयागो यामलम्। 30. 64, पृ. 3487.
	यामलम् आद्ययागाधिरूढं मिथुनम्। 1. 1, पृ. 12.
यामल	यामले इति आद्ययागाधिरूढे मिथुने। 29. 7, पृ. 3295.
युग्मक	युग्मके इति शिवशक्तिसमायोगात्मनि जन्माधारे द्वादशान्ते वा।। 29. 88, पृ. 3349.
योगिनीवक्त्र	तन्मुख्यचक्रमुक्तं महेशिना योगिनीवक्त्रम्। तन्त्रा., 29. 124सद.
	भगवता महेश्वरेण पिचुवक्त्राद्यपरपर्यायं योगिनीवक्त्रमेव मुख्यचक्रमुक्तम्। तन्त्रा., 29. 125, पृ. 3379.
योगिनीहृदय	योगिनीहृदयं लिंगमिदमानन्दसुन्दरम्।
	बीजयोनि समापत्त्या सूते कामपि संविदम्। तन्त्रा., 5. 121.
योनि	कादि हान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधा।
	योनिरूपेण। तन्त्रा., 3. 18अब.
वह्नि	वह्निः प्रमाता। 32. 25, पृ. 3605.
	योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत्। तन्त्रा., 3. 123, अब.
वर्ण	उक्तो य एव उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः।।
	अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते। तन्त्रा., 5. 131सद-32 अब.
वायव्यपु	वायव्यपुरं सहश्रम् अर्थात् यकारैर्लाछतम्। 20. 4, पृ. 2933.
विद्या	विद्या च शक्तिस्वभावेति। 37. 19, पृ. 3688.
विन्दु	विन्दुः विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता। 3. 110, पृ. 469.
	विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परप्रमात्रेकरूपः परमेश्वरः शिवः। 3. 111, पृ. 469.
	विन्दुः वेदयिता परः प्रकाशः। 3. 111, पृ. 470.
विवेक	(विवेक एव एकः प्रधानः) स्वपरामर्शात्मा विवेकः। 13. 166, पृ. 2305.
	विवेकः सर्वभावानां शुद्धभावान्महाशयः। तन्त्रा., 13. 192, अब.

विसर्ग विसृजति यतो विचित्रः सर्गो विगतश्च यत्र सर्ग इति। तन्त्रा., 29. 140, सद.
क्षेपः कुण्डगोलाख्य द्रव्यविशेषनिष्यन्दः। 1. 1, पृ. 12.
विसर्गशब्दव्यपदेश्यं गुह्यचक्रम्। 4. 140, पृ. 767.
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते।। तन्त्रा., 3. 143.
विसर्ग एव तावान्यदाक्षिप्तैतावदात्मकः।
इयद्रूपं सागरस्य यदनन्तोर्मिसन्ततिः।। तन्त्रा., 3, 145.
अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः।
कामतत्त्वमिति श्रीमत्कुलगह्वर उच्यते।। तन्त्रा., 3. 146.
विसर्ग एवमुत्सृष्ट आश्यानत्वमुपागतः।
हंसः प्राणो व्यंजनं च स्पर्शश्च परिभाष्यते। तन्त्रा., 3. 142.

विसर्जन अभिमुखीभूतस्यानभिमुखीकरणम्। 2. 27, पृ. 332.

वीरधातु वीरधातुर्महाशंखः। 27. 32, पृ. 3095.

वेला वेला मध्याह्नार्धरात्रादिरूपा। 4. 264, पृ. 910.

वैसर्गिकी स्थिति स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः। तन्त्रा., 3. 141, सद.

व्रत तथैव कुर्वतः एवं समभावेन पश्यतः।
निष्कम्पता व्रतं शुद्धं साम्यनन्दिशिखोदितम्। तन्त्रा., 12. 120.

रवि रविः प्रमाणम्। 32. 25, पृ. 3605.

राग सर्वविषयाभिलाषमात्रमयत्वं नाम रागतत्त्वस्य स्वरूपम्। 4. 28, पृ. 646.

राम तत्तज्जडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति रामः परमात्मा। 1. 86, पृ. 131.

रोध रोधः प्राणस्य गतागतपरिहारेण मध्यधामनि अवस्थापनम्। 13. 235, पृ. 2346.

समय समयन्ति संगच्छन्ते परं तत्त्वमनेनेति, सम्यगयनं ज्ञानमस्मादिति। 15. 613, पृ. 2724.

समाधि तथार्चनजपध्यानहोमव्रतविधिक्रमात्।
परिपूर्णां स्थितिं प्राहुः समाधिं गुरवः पुरा।। तन्त्रा., 12, 13.

साधारणमन्त्र प्रणवो मातृका माया व्योमव्यापी षडक्षरः।
बहुरुपोथ नेत्राख्यः सप्त साधारणा अमी।। तन्त्रा., 22, 20.

सिद्धयोग (योगी) सिद्धयोगस्य पुनः स्वभ्यस्तज्ञानमप्यस्ति। 13. 331, पृ. 2398.

सुसिद्धयोगी सुसिद्धस्तु सदैवास्खलितस्वरूपः शिव एव। 13. 331, पृ. 2398.

सूर्य सूर्यः प्रमाणमित्याहुः। तन्त्रा., 3. 121.
प्रकाशमात्रा सुव्यक्त सूर्य इत्युच्यते स्फुटम्। तन्त्रा., 3. 120.

सोम — सोमं मेयं प्रचक्षते। तन्त्रा., 3. 121.
प्रकाश्यवस्तु सारांशिवर्षि तत्सोम उच्यते। तन्त्रा., 3. 120.

संकान्ति — संक्रान्तिः परपुरप्रवेशादिः। 13. 235, पृ. 2346.

संगम — संगमे इति नानानाडिसंभेदभाजि हृदये। 29. 88, पृ. 3348.

संघट्ट — शक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मा संघट्टः। 1. 1, पृ. 4.
संघट्ट इति सम्यक् घटनँ चलनं स्पन्दरूपता-स्वात्मोच्छलता। 3. 68, पृ. 433.

संप्राप्त (योगी) — संप्राप्तः प्राप्तयोगोपदेशमात्रो। 13. 331, पृ. 2398.

सांसिद्धिक — सांसिद्धिकसंविद इति स्वतः प्रवृत्तसत्तर्क। 15. 16, पृ. 2451.
"ये तु पुस्तकलब्धेपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते।
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति।।" 4. 68 पृ. 689.
स तावत्कस्यचित्तर्कः स्वत एव प्रवर्तते।।
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः। तन्त्रा., 4. 40, सद-41अब.

स्थण्डिल — स्थण्डिलम् यागार्थगृहीतो भूप्रदेशः। 2. 43, पृ. 346.

स्थान — स्थापनमुद्रया भगवतोवस्थानम्। 2. 27, पृ. 332.

स्नान — उल्लासिबोधहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदितो।।
सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नानमुच्यते। तन्त्रा., 4. 116, सद-117अब.

स्वरषट्क — स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसन्ततौ।।
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः।
-(षट्कमित्यकारादूकारान्तम्) षट्देवता दहनी, पचनी, धूम्रा, कर्षिणी, वर्षिणी, तन्त्रा., 2. 3, 184सद.-185अब.

शब्द — शब्दः स्वयमेवमप्रतिपत्तौ तद्विषय सकृदगुरूपदेशः। 8. 281, पृ. 1541.

शाकिनी — साहसं द्विगुणं यासां कामश्चैव चतुर्गुणः।
लोभश्चाष्टगुणस्तासां शंक्यं शाकिन्य इत्यलम्।। तन्त्रा., 15. 532.

शिव — शिवो लिंगम्। तन्त्रा., 29, 141स.
शिवः शान्तम्। 29. 142, पृ. 3390.

शिष्ट — सांसिद्धिकः। तन्त्रा., 13. 131-135.

हंस — हंसो हानसमादानधर्मा प्राणः। 29. 89, पृ. 3349.

हंस — हंसो हानसमादानधर्मा अग्निशब्दव्यपदिष्टः पर-प्रमाता। 4. 137, पृ. 763.

होम — तदामृष्टस्य चिद्वह्नौ लयो होमः प्रकीर्तितः। तन्त्रा., 29. 93सद.

परिशिष्ट-4

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल संस्कृत ग्रन्थ–

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, अभिनवगुप्त, आंग्लानुवाद पाण्डेय, के.सी., संपा. द्विवेदी, आर. सी., मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986.

कर्मकाण्डक्रमावली, सोमशम्भु सं.जे.डी. जाडू, शोध-विभाग, श्रीनगर, 1947.

कामकलाविलास, पुण्यानन्द, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं कश्मीर, 1918, अनु. आर्थर अवलान, मद्रास, 1953.

कुलार्णवतन्त्र, विद्यारत्न, तारानाथ सं., आर्थर एवलानकृत भूमिकासहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975.

जन्म-मरणविचारः भट्ट वामदेव; अमरौधानुशासनः गोरक्षनाथ,

तन्त्रवटधानिका अभिनवगुप्त

सं. म. म. पं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं कश्मीर, 1918.

ज्ञानार्णवतन्त्र, ईश्वरप्रोक्त, आनन्दाश्रम, 1977.

तत्त्वप्रकाश, भोजराज, (सं.) मिश्र, कामेश्वरनाथ, चौखम्बा ओरियन्टालिया.

तन्त्रसंग्रह, त्रिपाठी, रामप्रसाद, भाग 3, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.

तन्त्रसंग्रह, द्विवेदी, ब्रजवल्लभ, भाग-4, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1981.

तन्त्रसार, अभिनवगुप्त, अनु. पं. हेमेन्द्र नाथ चक्रवर्ती.

तन्त्रालोक जयरथकृत विवेकसहित, अभिनवगुप्त, भाग 1 से 12, सं. मधुसूदन कौल शास्त्री एवं मुकुन्दराम शास्त्री, 1918-1938.

तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त, सं. द्विवेदी, आर.सी. एवं रस्तोगी, नवजीवन, भाग 1 से 8, मोतीलाल बनारसीदास 1987.

तन्त्रालोक, सं. कृष्णानन्द सागर सर्वदर्शनाचार्य , भाग 1-4, चौखम्बा संस्कृत सीरीज.

तन्त्रालोक, सं. डा. परमहंस मिश्र, भाग 1-2, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1992

त्रिकदर्शनम्. डा. रामचन्द्र द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,, 1992.

त्रिपुरारहस्य ज्ञानकाण्ड , आंग्लानुवाद -ए.यू. वासवद, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1965.

देवीनामविलास, साहिबकौल, (सं.) पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, शोधविभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1942.

देवीरहस्य, काक, रामचन्द्र एवं शास्त्री हरभट्ट (सं.), बुटाला पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1995.

नित्याषोडशिकार्णव, श्रीभास्कररायकृत सेतुबन्ध व्याख्यासहित, सं. अभ्यंकर, काशीनाथ वासुदेव एवं जोशी गणेशशास्त्री अंबादास, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थांक, 56, 1976.

नेत्रतन्त्र, श्रीक्षेमराजकृत उद्योतसहित, द्विवेदी व्रजवल्लभ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली.

श्रीश्रीपरात्रिंशिका, अभिनवगुप्तरचित विवृतिसहित, गुर्टू, नीकण्ठ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985.

परात्रिंशिका, लघुवृत्ति एवं विवृति , अभिनवगुप्त, सं. जे. डी. जाडू, शोध-विभाग, श्रीनगर, 1947.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, अनु. जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973.

प्रपंचसारतन्त्र, सं. आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसीदास, 1981.

बृहन्नीलतन्त्र, कौल मधूसूदन (सं.), बुटाला एंड कंपनी, दिल्ली, 1984.

भगवद्गीता, राजानक रामकण्ठरचित सर्वतोभद्र टीकासहित, काश्मीर सीरीज, ऑफ टेक्स्ट्स एंड स्टडीज, श्रीनगर 1943.

भगवद्गीता, अभिनवगुप्तरचित गीतार्थसंग्रहसहित, भाग 1-2, शंकरनारायण (सं.), श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, प्राच्यपरिशोधनालय, तिरुपति, 1985.

महाकालसंहिता कामकला खण्ड एवं गुह्यकाली खण्ड 1-2 झा, किशोरनाथ (सं.), गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, 1971-77.

महानिर्वाणतन्त्र, (सं.) आर्थर एवलॉन मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977.

महार्थमंजरी परिमलसहित, महेश्वरानन्द, (सं.) मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1918.

महानयप्रकाश, शितिकण्ठ, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1918.

श्रीमातृकाभेदतन्त्र, (सं.) मैगी, मिकाइल, दिल्ली, 1989.

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल, बूटाला एंड कंपनी, दिल्ली, 1984.

मालिनीविजयवार्तिक, अभिनवगुप्त, (सं.) पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, शोध - विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1921.

श्रीमृगेन्द्रतन्त्रम्, शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल (सं.), मेहरचन्द लक्ष्मणदास, 1982.

मृगेन्द्रागम क्रियापाद एवं चर्यापाद, भट्ट नारायण कण्ठरचित वृत्ति सहित, (सं.) एन. आर. भट्ट, पाण्डिचेरी इन्स्टीट्यूट फ्रन्चाइज डी इन्डोलोगी, 1962.

योगिनीहृदयम् अमृतानन्दयोगीकृत "दीपिका" एवं भास्कररायकृत "सेतुबन्ध" सहित , कविराज, म. म. पं. गोपीनाथ (सं.), अनुसंधान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1979.

रूद्रयामलतन्त्र, त्रिपाठी, भागीरथप्रसाद, योगतन्त्र विभाग वाराणसी, 1980.

लुप्तागमसंग्रह, प्रथम भाग, कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ, शोध-संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1970.

लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, द्विवेदी, पं. व्रजवल्लभ, शोध-संस्थान, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1983.

लौगाक्षिगृह्यसूत्र देवपालकृतभाष्यसहित भाग 1-2, (सं.) पं. मधुसुदन कौल शास्त्री, शोधविभाग, जम्मू एवं काश्मीर, श्रीनगर, 1928.

वामकेश्वरीमत जयरथकृत विवरणसहित, शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल (सं.) शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1945.

विज्ञानभैरव, द्विवेदी, व्रजवल्लभ (सं.) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984.

श्रीविद्यार्णवतन्त्र, शर्मा भद्रशील सं. कल्याण मन्दिर, अलोपीबाग मार्ग प्रयाग.

शारदातिलकतन्त्रम, (सं.) आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1982.

शारदातिलकम्, (सं.) म.म. श्री मुकुन्द झा, बख्शी चौखम्बा, संस्कृत संस्थान वाराणसी.

शिवदृष्टि, उत्पलदेवकृतवृत्तिसहित, सोमानन्द, (सं.) चतुर्वेदी, राधेश्याम, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1986.

शिवसूत्रविमर्श, कौल जानकीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984.

सकलजननीस्तव, यक्ष, दीनानाथ शास्त्री (सं.), जम्मू-काश्मीर राजकीय शोध-प्रकाशन विभाग, 1960.

स्तवचिन्तामणि क्षेमराज कृत टीकासहित, भट्ट नारायण, (सं.) म.म. पं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, श्रीनगर, 1918.

स्पन्दकारिका, भट्ट कल्लटाचार्यरचित वृत्तिसहित, गुर्टू, नीलकण्ठ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1981.

स्वच्छन्दतन्त्र, भाग 1-4, (सं.) पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, संस्कृत ज्ञान संस्थान, दिल्ली, 1986.

स्वच्छन्दतन्त्रम्, भाग 1, 2 व 3, (सं.) द्विवेदी, व्रजवल्लभ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985.

हठयोगप्रदीपिका, ब्रह्मानन्दरचित ज्योत्स्नासहित, अनु. एवं (सं.) श्रीनिवास अयंगार, अड्यार पुस्तकालय, मद्रास, 1975.

हेवज्रतन्त्र, कन्हपादरचित योगरत्नमालासहित, भाग 1-2, (सं.) श्नेलग्रोव, डी.एल. आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लण्डन, 1980.

हिन्दी ग्रन्थ–

आचार्य, श्रीराम शर्मा एवं गौतम, चमनलाल- तन्त्रविज्ञान, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1974.

आंजना, बापूलाल- विज्ञान भैरव का अध्ययन, स्नातकोत्तर शोध निबन्ध, उदयपुर विश्वविद्यालय, 1972.

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ- तान्त्रिक साहित्य, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1972.

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ- तान्त्रिक वाड्मय में शाक्तदृष्टि, बि.रा.प., पटना, 1978.

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ- भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 1-2, बि.रा.प., पटना, 1977.

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ- तन्त्र और आगम-शास्त्रों का दिग्दर्शन, बि.रा.प., पटना, 1977.

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ- श्रीसाधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1985.

काणे, पी.वी.- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1-5, हिन्दु अनु. काश्यप, अर्जुन चौबे, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ.

घिडियाल, पं. देवीप्रसाद- पंचमकार तथा भावत्रय, कल्याण मन्दिर प्रकाशन, प्रयाग.

चौधरी, बी.- शक्तिसाधना, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1963.

जोशी, भंवरलाल- काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफीस, वाराणसी, 1968.

त्रिपाठी, राममूर्ति- तन्त्र और सन्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1975.

त्रिपाठी, विन्ध्येश्वरीप्रसाद- भारतीयकर्मकाण्डस्वरूपाध्ययनम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1980.

द्विवेदी, आर.सी.- काश्मीर की शैव-परम्परा-साहित्य, दर्शन एवं साधना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1990.

द्विवेदी, आर.सी.- त्रिकदर्शनम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 19 92

द्विवेदी, कमला- तन्त्रालोक (आ. 4, 5, 6) का आलोचनात्मक अध्ययन अप्रकाशित, शोधप्रबन्ध, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर, 1976.

द्विवेदी, व्रजवल्लभ- तन्त्रयात्रा, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1982.

द्विवेदी, हजारीप्रसाद- नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तान एकेडेमी, उ.प्र., इलाहाबाद, 1950.

मिश्र, जनार्दन- भारतीय प्रतीक विद्या, बि.रा.प., पटना, 1959.

मिश्र, मण्डन (सं.)- विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रन्थ, जम्मू-काश्मीर-भाग, अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन, दिल्ली, संवत् 2022.

मिश्र, रवीन्द्रनाथ- तन्त्रकला में प्रतीक, कला प्रकाशन, वाराणसी, 1987.

वात्स्यायन, कपिला (सं.)- कलातत्वकोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1988.

वर्मा, श्रीसांवलिया बिहारीलाल- भारत में प्रतीक मूर्ति-पूजा का आरम्भ और विकास, बिहार हिन्दीग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974.

व्यास, सूर्यप्रकाश- बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, 1986.

व्यास, सूर्यप्रकाश- सिद्धित्रयी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1989.

शर्मा, नीलकमल- प्राचीन भारत में शक्तिपूजा.

शुक्ल, कृष्णकान्त- शंकर और अभिनवगुप्त के परमतत्व की तुलनात्मक मीमांसा, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 15, अंक 2, अप्रैल, 1969.

शुक्ल, पं. रमादत्त- क्रमदीक्षापूर्वक पूर्णाभिषेक, शाक्तसाधनापीठ, प्रयाग.

शास्त्री पं. देवदत्त- तन्त्रसिद्धान्त और साधना, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982.

शास्त्री, शिवशंकर अवस्थी- मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966.

शास्त्री, बलजिन्नाथ- काश्मीर शैवदर्शन, रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, 1973.

सिंह, लल्लनप्रसाद- तन्त्र, आनन्दनगर, दिल्ली, 1976.

ENGLISH

Arthur Avalon- Tantra-Raj-Tantra, Ganesh and Company, Madras, 1952.
Arthur Avalon- The Serpant Power, Ganesh and Company, Madras, 1958.
Arthur Avalon- The Garland of letters, Ganesh and Company, Madras, 1963.
Arthur Avalon- Introduction to Tantra Shastra, Ganesh and Company, Madras, 1963.
Arthur Avalon- (Sir John Woodoffe), Principles of Tantra, Pt. I & II, Ganesh and Company, Madras, 1978.
Arthur Avalon- (Sir John Woodoffe): Sakti and Sakta, Ganesh and Company Madras, 1975.
Arthur Avalon- Tantrabhidhana, Canton Publisher, 1983.
Arya- Usharbudh, Mantra and Meditation, Pennsylvania, 1985.
Bagchi, P.C.- Studies in the Tantras, Calcutta, 1939.
Bandyopadhyay, pranab- The Goddess of Tantra, Punthi Pustak, Calcutta, 1987.
Banerjee, J.N.- Religion in Art and Archaeology, University of Lucknow, Lucknow, 1968.
Banerjee- Sures Chandra, Cultural Heritage of Kashmir, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1965.
Basu, Manoranjan- Fundamental of the philosohy of Tantras, MLBD, Delhi.
Bharti Agehanand- Tantric Tradition, Rider and Company, London, 1965.
Bhattacharya, N.N.- History of the Tantric Religion Manohar Publications, New Delhi, 1982.
Bhattacharya, Narendra Nath- History of the Sakta Religion, Munshiram Manohar Lal, New Delhi, 1974.
Blofeld, John, Mantras- Sacred Words of Power, London, George Allen & Unwin Ltd., 1977.
Bose, D.N. & Haldar H. Tantras- Their Philosophy and Occult Secrets, Firma KLM, Calcutta, 1981.
Buhnemann, Gudeun, Puja- A study in Smarta Ritual, Vienna, 1988.
Chakravarti, C.- Interesting Developments in vedic Rituals, Gopinath Kaviraj Abhinandan Granth, Lucknow.
Chakravarti, Chintaharan- Tantras, Studies in their Religion and literature. Punthi Pustak, Calcutta, 1972.
Dandekar, R.N.C.G. Kashikar & others- Srautakosa, Encyclopaedia of Vedic Sacrificial Ritual, Poona.
Dange, S.A.- Sexual Symblism from the Vedic Ritual, Ajanta Publications Delhi, 1979.
Das S. K.- Sakti or Divine Power, Calcutta, 1934.
Datta, Bhibhuti Bhusan- Science of the Sulba, a Study in early Hindu Geometry, 1932.
David Kinsley- Hindu Goddesses, MLBD, Delhi, 1987.
De kleen, T. Mudra- University Books, New York, 1970.
Douglas, N.- Tantra Yoga, New Delhi, 1971.
Drury, Naama- The Sacrificial' Ritual in the Satapath Brahmana, MLBD, Delhi, 1981.
Dyezkowski Mark, S.G.- The Cannon of the Saivgama and the Kubjika tantras of the Western Kaul Tradition, New, Delhi.
Frazer, Sir James George- The Golden Bough, A Study in Magic and Religion Macmillan, London 1907.
Gonda, J.- The Ritual Sutras , Wiesbaden, 1977.
Gonda, J.- Visnuism and Sivaism, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1976.
Goudriaan, Tenu- The Vinasikhatantra, MLBD, Delhi, 1985.
Goudrian, Tenu & Gupta, Sunjukta- Hindu Tantric and Sakta Literature Otto Harrassowitz, Wiesbadan.
Guenther, Herbert, V. Yuganaddha- The Tantric view of Life, chowkhamba, Varanasi, 1976.
Hazra, R.C.- Puranic Records of Hindu Rites and Customs.
James, E.O.- Origins of the Sacrifice, Thames and Hudson, London, 1971.
James, E.O.- Sacrifice and Sacrament, Thames and Hudson, London, 1962.
Jash, Pranabananda- History of Saivaism, Roy and Chaudhary Calcutta, 1974.
Kaviraj, M.M. Gopiath- The Ascent According to Kaulika Outlook, Bharata Manisha, Vol 1-4 Jan., 1976.
Knight, Gereth- The Practice of Ritual Magic Rev. Edn., New York.
Kumar, Pushpendra- Sakti Cult in Ancient India, Bhartiya Publishing House, Varanasi. 1974.
La Fontaine (J.S) Ed., Interpretation of Ritual- essays in honour of A.P. Richards, 1972.
Mishra, Kamalakar- Significance of the Tantric Tradition, Ardhanarisvara Publications, Varanasi, 1981.
Mukerjee- Ajit & Anand Mulkraj, Tantra Magic, New Delhi, 1977.
Mukerjee- Ajit, Tantra Asana, Sakti Cult in Ancient India, Bhartiya Publishing House, Varanasi, 1971.

Mukerjee, Ajit & Khanna Madhu- The Tantrik Way, Vikas Publishing House, Delhi, 1977.
Mukarjee, Ajit- Ritua art of India, 1985.
Mukherjee, Ajit- Tantra Art, Kumar Gallary, New Delhi, 1966.
Murphy, Paule K.- Triadic Mysticism, MLBD, Delhi, 1986.
Nagaswami, R.- Sivabhakti, New Delh, 1989.
Pal Pratapaditya- Hindu Religion and Iconology (According to the Tantrasara PVU) MLBD, Delhi.
Pandey, K.C. "Abhinavagupta"- An historical and Philosophical Study, II Ed., Chowkhambha Sanskrit Series Office, 1963.
Panday, Rajbali- Hindu Samskaras, MLBD, Delhi, 1976.
Pandit, B.N.- Aspects of Kashmir Saivism, Utpala Publications, Kashmir, 1977.
Pandit, M.P.- More on Tantras, MLBD, Delhi.
Pandit, M.P.- Tantric Sadhana, I.,Ed.- Bharatiya jnapitha Publication, Lokadaya Granthamala 200, 1964.
Parimoo., B.N.- The Ascent of Self (A Reinterpretation of the Mystical Poetry of Lalla Ded., MLBD, Delhi.
Pulilp Rawson- The Art of Tantra, Vikas Publishing House, Delhi, 1973.
Potdar, K. R.- Sacrifice in the Rigveda, 1953.
Pragna R. Shah- Tantra: Its Therapeutic Aspect, Punthi Pustak, Calcutta, 1987.
Raghavan, V.- Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India.
Rastogi, Navjeevan- Abhinavgupta's Notion of Tantra In the Tantraloka, Indian Theosophist, 82 (10-11) 85, IV85, Oct.-Nov. 85. pp. 110-120.
Rastohi, Navjivan- The Krama Tantricism of Kashmir, Vol. I, MLBD, Delhi, 1979.
Rastogi, Navijivan- Introduction to the Tantraloka, MLBD, 1987.
Rudrappa, J.- Kashmir Saivism, Prasaranga, University of Mysore, 1969.
Sastri, T. Ganapati- Isanasivagurudeva-paddhati of Isanasivagurdeva, Vol. I, II, III, Bharatiyta Vidya Prakashan, 1988.
Sen, C.- Dectionary of Vedic Rituals (based on the Sruata and Grhya Sutras).
Seidenberg- The Ritual origin of the Circle and square.
Sender, Henny- The Kashmiri Pandits: A Study of Cultural Choice In North India.
Sharma, L.N.- Kashmir Shaivism, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1972.
Sharpe, E.J.- Sacrifice' Man, Myth and Magic, edited by Richard Cavendish, Purnell, London, 1970.
Shivanand Radha- Mantras: Words of Power, MLBD, Delhi.
Singh, Jaideva- Siva sutras: The Yong of Supreme Identity, MLBD, Delhi, 1979.
Singh, Jaideva- Vijnana Bhairava or Divine Consciousness, MLBD, Delhi, 1981.
Singh, Jaideva- Spanda Karikas, MLBD, 1980.
Singh, Jaideva- Paratrisika Vivarana, MLBD, Delhi, 1988.
Singh, Lalan Prasad- Tantra: Its Mystic and Scientifec basis, Concept Publishing Co., Delhi, 1976.
Sir John Woodroffe- See Arthur Avalon.
Sivananda, Swami- Sadhana, MLBD, Delhi.
Staal Frits- AGNI: The Vedic Ritual of the Fire Altar, MLBD, Delhi, 1984.
Staal, F.- "The Meaninglessness of Ritual" Nirman Internation, Review for the History of Religions, 1980.
Staal, F.- " Ritual Syntex in Sanskrit and Indian Studies", Festschift Ingalls Dordrechtm pp. 119-142., 1979.
Stall, J.F.- The Science of Ritual, Poona, 1982.
Suryakanta- Tantric Diksa, ABORI 35, 1954, pp. 10-19.
Svobode, Robert, E. aghora- At the left hand of God New Mexico, 1986.
Tucci, G.- The Theory and Practice of the Mandala, London, 1969.
Wadhawani shah, Yashodhara- Sacrificial Ritual and and Upanisads, ABORI 66 (1-4) 85, pp. 47-61.

● ● ●

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृति ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)

९, प्रधान मार्ग, ई ब्लॉक, मालवीय नगर, जयपुर - ३०२०१७

उद्देश्य

* आचार्य द्विवेदी के जीवन और कृतित्व पर अनुसंधान एवं उनका अनुवाद।
* आचार्य द्विवेदी के सिद्धान्त, मूल्य, जीवनशैली आदि की दिशा में प्रोत्साहन।
* संस्कृत, संस्कृति एवं भारतीय विद्या में शोध-कार्य को प्रोत्साहन एवं सहयोग।
* प्राचीन भारतीय विज्ञान, तुलनात्मक धर्म-दर्शन, साहित्य, कला व दर्शन विशेषतः शैवदर्शन के क्षेत्र में व्याख्यान, परिसंवाद, गोष्ठी आदि का आयोजन।
* संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा का अध्ययन, अनुसंधान तथा संरक्षण।
* संस्कृत, पालि व प्राकृत के ज्ञान एवं शिक्षण के लिए कक्षाओं का आयोजन तथा सफल विद्यार्थियों को प्रतिष्ठान के प्रमाणपत्र प्रदान करना।
* भारतीय विद्या के क्षेत्र में कार्य करने वाली अन्य संस्थाओं के साथ सम्बन्ध एवं सहकार।
* संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वानों को मानद उपाधि से सम्मानित करना ।
* संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रकाशन करना तथा उसके लिए सहायता देना ।
* संस्कृत के अध्ययन और अनुसंधान की वृद्धि के लिए पत्रिका का प्रकाशन ।
* संस्कृत के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान करना ।
* उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक उपाय करना ।

पदाधिकारी